प्रसाद-दर्शन

[जयशंकर 'प्रसाद' की दार्शनिक विचारधारा]



आगरा विश्वविद्यालय की डी. लिट्. उपाधि
के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध



लेखक
डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना,
एम. ए., पीएच. डी., डी. लिट्.,
आचार्य तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
एन० आर० ई० सी० कालिज, खुरजा, (उ. प्र.)
(मेरठ विश्वविद्यालय)



विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२
बिक्री-केन्द्र : हास्पिटल रोड, आगरा-३

प्रथम संस्करण : १९६९

मूल्य : १२.००

कम्पोज़िंग : हिन्दी कम्पोज़िंग गृह, आगरा
मुद्रण : कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२
[१३६९१२]

हिन्दी-साहित्य के मूर्धन्य कलाकार

श्रद्धेय जयशंकर 'प्रसाद'

की

पावन स्मृति को

सादर





लेखक

प्राक्कथन

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में श्री जयशंकर प्रसाद एक उच्चकोटि के दार्शनिक कवि के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। उनका सारा साहित्य उनकी दार्शनिक मान्यताओं एवं दार्शनिक सिद्धान्तों से आक्रान्त है। प्रसाद की ये दार्शनिक मान्यताएँ तथा उनके ये दार्शनिक सिद्धान्त न तो पूर्णतया परम्परागत हैं और न इन पर पूर्णरूपेण किसी विशिष्ट मत अथवा सम्प्रदाय का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, अपितु ये तत्कालीन युग की देन हैं, क्योंकि तत्वान्वेषी प्रसाद ने अपने ग्रन्थों में उन दार्शनिक विचारों को स्थान दिया है, जिनका अध्ययन एवं अनुशीलन करने के उपरान्त भौतिकता के कुहासे में भटकता हुआ आधुनिक मानव अपने इसी जीवन में अभ्युदय एवं निःश्रेयस् को प्राप्त करता हुआ समरसतापूर्वक अखंड आनन्द में लीन हो सकता है।

आजकल 'दर्शन' (फिलॉसफी) शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है; क्योंकि अब दर्शन से अभिप्राय ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष आदि विचारों को प्रगट करने वाले शास्त्र से ही नहीं है, अपितु मानव-दर्शन, समाज-दर्शन, राजनीति-दर्शन आदि ग्रन्थों में 'दर्शन' से अभिप्राय उस तत्व-ज्ञान से भी है, जिसके द्वारा मानव, समाज, राजनीति आदि की गहन विचार-पद्धति का पता चलता है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में 'प्रसाद-दर्शन' से हमारा अभिप्राय अन्य सब विचार-पद्धतियों को छोड़कर केवल प्रसाद की उस दार्शनिक विचारधारा से है, जिसमें ब्रह्म, जीव, जगत्, प्रकृति, संसार के बंधन, मोक्ष, मानव-जीवन का चरम लक्ष्य आदि आते हैं तथा जो दर्शन की शास्त्रीय पद्धति कहलाती है और जिसका अटूट सम्बन्ध जीवन और जगत् से है।

प्रसाद के उक्त दार्शनिक विचारों को पूर्णतया प्रस्तुत करने का अभी तक कोई महत्वपूर्ण प्रयत्न नहीं हुआ है। आज से लगभग १४ वर्ष पूर्व १९५१ ई० में श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव का एक लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका के 'केशव-स्मृति' अंक में 'कामायनी-दर्शन' के नाम ने प्रकाशित हुआ था, जिसमें प्रसाद की दार्शनिक विचार-पद्धति का निरूपण अवश्य किया गया था; किन्तु लेखक विवश होकर वहाँ पर 'कामायनी' तक ही सीमित रहा और प्रसाद के अन्य ग्रन्थों में निहित विचार-पद्धति का उद्घाटन नहीं कर सका। इसी तरह श्री रामलालसिंह कृत 'कामायनी-अनुशीलन', श्री नंददुलारे वाजपेयी कृत 'आधुनिक साहित्य', श्री कन्हैयालाल सहल

मान्य सर्वचेतनता, नियति में दृढ़ विश्वास, जीव की नित्यता, जगत् की सत्यता, अभेदवाद और समरसता के उल्लेख के साथ-साथ जीवन के चरम लक्ष्य—आनन्द का निरूपण किया गया है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि प्रसाद ने हमें 'आनन्दवाद' नामक दार्शनिक विचारधारा प्रदान की है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अन्त में तीन परिशिष्ट दिये गये हैं। इनमें से प्रथम परिशिष्ट में प्रसाद के 'काव्य-दर्शन' सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि काव्य-दर्शन को भारत में जीवन-दर्शन से पृथक् माना गया है, तथापि काव्य में जीवन की संकल्पात्मक अनुभूति का चित्रण होता है। अतः काव्य जीवन से पृथक् नहीं है। इसके साथ ही प्रसाद ने जिस तरह जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द सिद्ध किया है, उसी तरह वे काव्य का चरम लक्ष्य भी आनन्द ही मानते हैं। अतः उसी काव्यानंद सम्बन्धी विचारों का उद्घाटन करने के लिए प्रथम परिशिष्ट में प्रसाद के काव्य-दर्शन का संक्षिप्त निरूपण किया गया है। द्वितीय परिशिष्ट में प्रसाद की दार्शनिक शब्दावली को समझाने के लिए दार्शनिक शब्दों, उनके अर्थो तथा उन अर्थो में प्रयुक्त पंक्तियों को भी उद्धृत किया गया है। इन परिशिष्टों में उक्त विचारों एवं शब्दों का समावेश इसलिए किया गया है कि इनके बिना प्रसाद-दर्शन का विवेचन अपूर्ण-सा प्रतीत होता था। अन्तिम परिशिष्ट मे उपजीव्य एवं उपस्कारक ग्रन्थो तथा पत्र-पत्रिकाओं की सूची दी गई है।

इस शोध-प्रबंध के तैयार करने में आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं तंत्र-साहित्य के मर्मज्ञ महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के विचारों से मैंने बड़ा लाभ उठाया है, एतदर्थ मे उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। इसके अतिरिक्त जिन विद्वानों की कृतियों में संकलित प्रभूत ज्ञान-सम्पत्ति से मैंने सहायता प्राप्त की है, उनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। साथ ही उन सभी विद्वानों, गुरुजनों एवं इष्ट मित्रों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ, जिनके प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोग, सत्परामर्श, शुभ कामना एवं आशीर्वाद के फलस्वरूप मैं अपने इस शोध-कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हुआ हूँ। शिवमस्तु !

महाशिवरात्रि
सं० २०२५

द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

संकेताक्षर

अ०	अजातशत्रु (नाटक)
अ० पु०	अग्निपुराण
अथर्व०	अथर्ववेद-संहिता
आ०	आकाशदीप (कहानी-संग्रह)
इं०	इंद्रजाल (कहानी-संग्रह)
इ०	इरावती (अपूर्ण उपन्यास)
ई० प्र०	ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा
ई० उ०	ईशावास्योपनिषद्
ऋ०	ऋग्वेद-संहिता
ए०	एक घूँट (नाटक)
ऐ० उ०	ऐतरेय उपनिषद्
कं०	कंकाल (उपन्यास)
क०	करुणालय (गीति-नाट्य)
का०	कामायनी (महाकाव्य)
का० कु०	कानन-कुसुम (कविता-संग्रह)
का० नि०	काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध
का० प्र०	काव्य-प्रकाश
कू० पु०	कूर्म पुराण
के० उ०	केन उपनिषद्
चं०	चन्द्रगुप्त (नाटक)
चि०	चित्राधार
छां० उ०	छांदोग्य उपनिषद्
ज० ना०	जनमेजय का नागयज्ञ (नाटक)
झ०	झरना (कविता-संग्रह)
ति०	तितली (उपन्यास)
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
त्रि० र०	त्रिपुरा-रहस्य
ध्रु०	ध्रुवस्वामिनी (नाटक)

ना० पु०	नारद पुराण
ना० भ० सू०	नारद-भक्ति-सूत्र
नें० तं०	नेत्र तंत्र
पा० यो०	पातंजल योगसूत्राणि
पा० यो० द०	पातंजल योग-दर्शन
प्र०	प्रतिध्वनि (कहानी-संग्रह)
प्र० उ०	प्रश्न उपनिषद्
प्र० हृ०	प्रत्यभिज्ञा हृदयम्
प्रे० प०	प्रेम-पथिक (काव्य)
वा० रा०	वाल्मीकीय रामायण
ब्र० वै० पु०	ब्रह्मवैवर्त पुराण
भा० पु०	भागवत पुराण
म० पु०	मत्स्य पुराण
महा० अनु०	महाभारत—अनुशासन पर्व
म० म०	महाराणा का महत्त्व (काव्य)
मां० उ०	मांडूक्योपनिषद्
मा० वि० तं०	मालिनी विजयोत्तर तंत्र
मुं० उ०	मुंडकोपनिषद्
मु० उ०	मुक्तिकोपनिषद्
मृ० तं०	मृगेन्द्र तंत्र
यजु० वा० सं०	यजुर्वेद-वाजसनेयि-संहिता
यो० वा०	योगवाशिष्ठ
रा०	राज्यश्री (नाटक)
राम०	रामचरितमानस
ल०	लहर (कविता-संग्रह)
वा० पु०	वायु पुराण
वारा० पु०	वाराह पुराण
वाम० पु०	वामन पुराण
वि०	विशाख
वि० चू०	विवेक-चूड़ामणि
वि० पु०	विष्णु पुराण
वि० भै०	विज्ञान भैरव
वृ० उ०	वृहदारण्यक उपनिषद्
वे० सा०	वेदान्तसार
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण

शां० भ०	शांडिल्य भक्ति-सूत्र
शि० दृ०	शिव-दृष्टि
शि० पु०	शिव पुराण
शि० सू० वि०	शिवसूत्र-विमर्शिनी
श्वे० उ०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
स० सं०	सर्व दर्शन संग्रह्
सू० पं०	सूर-पंच-रत्न
सौ० पु०	सौर पुराण
स्कं०	स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (नाटक)
स्पं० का०	स्पन्दकारिका
स्व० तं०	स्वच्छन्द तंत्र

विषय-सूची

द्वितीय प्रकरण

तृतीय प्रकरण

चतुर्थ प्रकरण

पंचम प्रकरण

षष्ठ प्रकरण

सप्तम प्रकरण

परिशिष्ट

प्रथम प्रकरण

प्रसाद के दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि

⊙ प्रसाद का युग और उनका व्यक्तित्व

(क) युग की विचारधारा

ब्रह्म-समाज

आर्य-समाज

थियोसोफीकल सोसाइटी

रामकृष्ण मिशन

राधास्वामी मत

प्रार्थना-समाज

स्वामी रामतीर्थ

महर्षि अरविन्द

महात्मा गांधी

कवीन्द्र रवीन्द्र

(ख) प्रसाद का व्यक्तित्व

⊙ प्रसाद की दार्शनिक आस्था

प्रसाद के दार्शनिक चिन्तन का क्रमिक विकास

(१) चिन्तन की आरम्भिक अवस्था

प्रसाद के ब्रह्म सम्बन्धी आरम्भिक विचार

प्रसाद के जीव सम्बन्धी आरम्भिक विचार

प्रसाद के जगत् सम्बन्धी आरम्भिक विचार

(२) चिन्तन की विकसित अवस्था

प्रसाद के ब्रह्म सम्बन्धी विकसित विचार

प्रसाद के जीव सम्बन्धी विकसित विचार

प्रसाद के जगत् सम्बन्धी विकसित विचार

(३) चिन्तन की प्रौढ़ावस्था

प्रसाद के ब्रह्म सम्बन्धी प्रौढ़ विचार

प्रसाद के जीव सम्बन्धी प्रौढ़ विचार

प्रसाद के जगत् सम्बन्धी प्रौढ़ विचार

प्रथम प्रकरण

प्रसाद के दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि

प्रसाद का युग और उनका व्यक्तित्व

श्री जयशंकर प्रसाद एक उच्चकोटि के कवि, विचारक एवं दार्शनिक थे। उनकी कला-कृतियों में काव्य एवं दर्शन का अद्भुत सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। प्रसाद की काव्य-कला में जहाँ भावों की प्रौढ़ता, कला की उत्कृष्टता एवं गहन अध्ययनशीलता के दर्शन होते हैं, वहाँ प्रसाद की दार्शनिकता में भी जीवनानुभूति की गहनता, विचारों की गूढ़ता एवं गहन चिंतनशीलता विद्यमान है। प्रसाद-काव्य में कला और दर्शन का मणि-कांचन संयोग हुआ है, किन्तु प्रसाद की कुछ कला-कृतियाँ उनके गूढ़ दार्शनिक विचारों से इतनी अधिक आक्रान्त हो गई हैं कि साधारण पाठक उनमें प्रवेश करने तक का साहस नहीं करता और विचारों की प्रौढ़ता एवं दुरूहता के कारण उन्हें क्लिष्ट समझकर छोड़ देता है। अब प्रश्न यह उठता है कि अत्यन्त सरस एवं आह्लादकारिणी रचनायें प्रस्तुत करने वाले महाकवि प्रसाद दार्शनिक कैसे हो गये ? उनकी दार्शनिक मनोवृत्ति कैसे उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती चली गई अथवा वे कौन से प्रेरक तत्व हैं, जिन्होंने प्रसाद की दार्शनिक प्रवृत्ति को उद्बुद्ध करके उन्हें कवि से दार्शनिक बना दिया ? इन प्रश्नों का कोई एक सीधा एवं सरल उत्तर देना सर्वथा कठिन है, क्योंकि प्रसाद को दार्शनिकता की ओर उन्मुख करने वाली अनेक प्रेरक शक्तियाँ हो सकती हैं। परन्तु सामान्य दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि प्रसाद को दर्शन की ओर प्रेरित करने में सबसे अधिक उनके युग की विचारधारा और उनके व्यक्तित्व का हाथ रहा है।

(क) युग की विचारधारा

ब्रह्म-समाज—प्रसाद का युग नव-जागरण का युग था। उस समय ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में जागृति की धूम मची हुई थी। सर्वत्र जीवन को उन्नत एवं उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न हो रहा था। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के कारण भारत नित्य नये-नये विचारों एवं आविष्कारों से अवगत होता चला जा रहा था और अपने सर्वांगीण विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा था। इसी कारण यदि एक ओर भारतीय मस्तिष्क विज्ञान का सहारा लेकर

भौतिक विकास की ओर उन्मुख हो रहा था, तो दूसरी ओर तत्कालीन भारत के मनीषी, विचारक एवं उनके द्वारा संस्थापित कितनी ही सांस्कृतिक संस्थायें उसे आध्यात्मिक चिन्तन की ओर भी प्रेरित कर रही थीं। इन सांस्कृतिक संस्थाओं में मूर्धन्य स्थान 'ब्रह्म-समाज' को प्राप्त है। इस संस्था के संस्थापक राजा राममोहन राय उस युग के स्वतंत्र विचारक एवं नव-जागरण के पुरोधा थे। आपने संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, लैटिन, ग्रीक आदि अनेक भाषाओं के धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था और इन समस्त ग्रंथों का अनुशीलन करने के उपरान्त आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि हिन्दू-धर्म का सार एकेश्वरवाद है न कि बहुदेववाद। 'सर्वदेव-नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' के अनुसार आपका भी यह स्पष्ट मत था कि अनेक देवी-देवताओं की पूजा के माध्यम से उसी एक परात्पर ब्रह्म की ही उपासना की जाती है। आपने १८०४ ई० में फारसी भाषा के अन्तर्गत 'तोहफ़ात-उल-मुमाहदी' नामक ग्रंथ भी लिखा था, जिसमें आपने एकेश्वरवाद का प्रबल समर्थन किया था। १८१५ ई० में आपने 'वेदान्त-भाष्य' की रचना की और इसमें भी आपने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया। उसी वर्ष आपने मनिकतल्ला नामक स्थान पर 'आत्मीय सभा' के नाम से एक संस्था का श्रीगणेश किया, जिसका उद्देश्य वेदान्त पर विचार-विमर्श करना था। यही 'आत्मीय सभा' १८२८ ई० में 'उपासना-समाज', 'ब्रह्म-सभा' अथवा 'ब्रह्म-समाज' के नाम से प्रसिद्ध हुई।[1] इसका 'ब्रह्म-समाज' नाम ही आगे चलकर प्रचलित हुआ। इस समाज के द्वारा राजा राममोहन राय ने नवीन चितन-धारा को प्रवाहित किया और तत्कालीन हिन्दू-धर्म को मूर्ति-पूजा, भूत-बलि आदि की कु-प्रथाओं से बचाकर वेदान्त एवं उपनिषदों के आधार पर परिष्कृत एवं सुसंगठित करने की चेष्टा की। 'ब्रह्म-ममाज' के अन्तर्गत आपको महान् विश्व-धर्म की झलक दृष्टिगोचर होती थी, क्योंकि आपने मुस्लिम-धर्म की एकेश्वरवादिता, ईसाई-धर्म की नैतिकता एवं आचारवादिता तथा उपनिषदों की दार्शनिकता के आधार पर इस 'ब्रह्म-समाज' का निर्माण किया था।[2] इसीलिए ब्रह्म-समाज ने तत्कालीन भारतीय जीवन की विचार-धारा को परिवर्तित करके नवीन चितन-धारा का स्रोत खोल दिया और धार्मिक संकीर्णता एवं रूढ़िवादिता की बेड़ियों में जकड़े हुए भारतीयों को उन्मुक्त विचार-गगन में विचरण करने का सुयोग्य अवसर प्रदान किया।

आर्य-समाज—भारतीय चिंतन-धारा को अग्रसर करने में दूसरी सांस्कृतिक संस्था 'आर्य-समाज' का बड़ा हाथ रहा है। महर्षि दयानंद सरस्वती ने १८७५ ई० में इसकी स्थापना की थी। आपने १८४५ ई० से १८६० ई० तक सम्पूर्ण भारत का पर्यटन किया; भारत में व्याप्त विचार-संकीर्णता, धर्मान्धता, रूढ़िवादिता आदि का अध्ययन किया और भारत में वेदों के आधार पर वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की। यद्यपि

---

१. **राजर्षि पुरुषोत्तमदास अभिनंदन ग्रंथ**, पृष्ठ ४०६।

२. **रैनेसेंट इण्डिया—लेखक एच० सी० ई० ज़कारिया**, पृष्ठ १७।

राजा राममोहन राय और महर्षि दयानंद दोनों ही स्वतंत्र विचारक एवं समाज-सुधारक थे, तथापि राजा राममोहन राय जहाँ विश्व के सभी धर्म-ग्रंथों को सत्य मानते थे, वहाँ महर्षि दयानंद एकमात्र वेदों को ही सत्य मानते थे। राजा राममोहन राय जहाँ सभी धर्मो का समान रूप से आदर करते हुए उनके सिद्धान्तों को भी आदर की दृष्टि से देखते थे, वहाँ महर्षि दयानंद केवल वैदिक धर्म में ही पूर्ण सत्य का दर्शन करते थे, वैदिक सिद्धान्तों को ही केवल मान्यता प्रदान करते थे और अन्य सभी धर्मो एवं सिद्धान्तों को भ्रान्त एवं निर्मूल घोषित करते थे। इस प्रकार राजा राममोहन राय ने चिन्तन के क्षेत्र में जहाँ ग्रहण का मार्ग अपनाया था, वहाँ ऋषि दयानंद ने प्रतिरोध के मार्ग का अवलम्बन किया था। फिर भी ऋषि दयानंद ने तत्कालीन भ्रमित मस्तिष्क को नवीन दृष्टि प्रदान की, नवीन प्रेरक शक्तियों की ओर उन्मुख किया और अखिल ज्ञान के भंडार वेदों के अध्ययन की रुचि को जाग्रत किया, जिससे भारतीय अंतःकरण अंधविश्वास, कूप-मंडूकता, संकीर्णता एवं अनुदार प्रवृत्ति को छोड़कर बौद्धिकता, तर्कशीलता एवं विचार-पटुता की ओर अग्रसर हुआ और पारस्परिक भेद-भाव की दुष्प्रवृत्ति का परित्याग करके विश्व में व्याप्त एक विराट् सत्ता में विश्वास करने लगा। ऋषि दयानंद ने मूर्ति-पूजा का विरोध करके उसके स्थान पर वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान को विहित ठहराया; वर्ग-भेद, वर्ण-भेद एवं जाति-पाँति के भेद-भाव को दूर किया; बहुदेववाद एवं ईसाई तथा मुस्लिम धर्म में व्याप्त एकेश्वरवाद को असत्य एवं अवैदिक ठहराया[1] और इसके स्थान पर ईश्वर, जीव एवं प्रकृति तीनों की अनादिता एवं सत्यता घोषित करते हुए त्रैतवाद की स्थापना की।[2] इस तरह महर्षि दयानंद द्वारा स्थापित 'आर्य-समाज' ने एक नवीन चिंतन-धारा का सूत्रपात करते हुए वेद-विहित विचारों का सारे भारत में प्रचार किया तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश' के माध्यम से भारतीय मस्तिष्क को आन्दोलित करके तर्क सहित नये ढंग से सोचने, विचारने एवं मनन करने के लिए प्रेरित किया।

थियोसोफीकल सोसाइटी—आधुनिक युग के चिन्तन-क्षेत्र में नवीन क्रान्ति उत्पन्न करने वाली तीसरी सांस्कृतिक संस्था 'थियोसोफीकल सोसाइटी' के नाम से प्रसिद्ध है। 'थियोसफी' का सर्वप्रथम आन्दोलन १८७५ ई० में न्यूयार्क के अंतर्गत मैडम एच० पी० ब्लैवेट्स्की तथा कर्नल एच० एस० आल्काट द्वारा आरम्भ हुआ था। १८८९ ई० में जब ये दोनों भारत में पधारे, तब दोनों ने मद्रास के समीप अड्यार में इस सोसाइटी का मुख्य कार्यालय स्थापित किया। किन्तु इस सोसाइटी के विचारों को भारत में फैलाने का श्रेय श्रीमती एनीबेसेंट को प्राप्त है। श्रीमती एनीबेसेंट ने ही सर्वप्रथम श्रीकृष्ण और भगवद्गीता के ज्ञान का उपदेश दिया। अंग्रेज महिला होते हुए भी आपने हिन्दू-धर्म का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करके हिन्दू-धर्म का थियोसफी

---

१. **रैनेसेंट इण्डिया**, पृष्ठ ३७।

२. **सत्यार्थ-प्रकाश, अष्टम समुल्लास।**

में एक विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित किया तथा पाश्चात्य भौतिकवाद एवं पूर्वीय अध्यात्मवाद में सेतु स्थापित करने का सराहनीय कार्य किया। आपने हिन्दू-धर्म की त्रुटियों एवं बुराइयों का विरोध न करके हिन्दू-धर्म की ऐसी आकर्षक व्याख्यायें कीं, जिन्हें सुनकर पाश्चात्य विचारों के प्रवाह में बहने वाले सुशिक्षित हिन्दू भी इस ओर आकृष्ट हो गये और उनके विचारों से प्रभावित होकर पुनः हिन्दू-धर्म के पुरातन सिद्धान्तों में अद्भुत रहस्य एवं पूर्ण सत्य के दर्शन करने लगे। सन् १८९८ ई० में आपने हिन्दुओं को हिन्दू-धर्म की शिक्षा देने के लिए वाराणसी में एक सेंट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना की, जो थियोसोफीकल सोसाइटी का आज भी एक विशिष्ट स्थान माना जाता है। आपने अपने कार्य की रूपरेखा समझाते हुए बताया था कि भारत में पुरातन धर्म—हिन्दू-धर्म तथा पारसी-धर्म तथा लंका और बर्मा में बौद्धधर्म का पुनर्जागरण करना, उसे सुदृढ़ बनाना और उसे उन्नत करना ही आपका प्रमुख कार्य था। इस प्रकार थियोसोफीकल सोसाइटी ने भारत में एक नवीन आत्मसम्मान, प्राचीनता पर गर्व, भविष्य में विश्वास आदि जाग्रत करते हुए राष्ट्रीयता की एक तीव्र लहर उत्पन्न की और राष्ट्र-निर्माण का कार्य आरम्भ किया।[1] इसने प्रत्येक धर्म को महत्त्व दिया और प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता की भावना जाग्रत की। इसने विश्वबंधुत्व एवं मानवता-प्रेम पर अधिक ज़ोर दिया तथा भारतीय मस्तिष्क को नवीन दिशा प्रदान करके मानवतावाद की ओर उन्मुख किया।

रामकृष्ण-मिशन—तत्कालीन भारतीय चिंतन-धारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन जाग्रत करने वाली सांस्कृतिक संस्थाओं में 'रामकृष्ण-मिशन' का भी बड़ा महत्त्व है। इस संस्था की स्थापना स्वामी रामकृष्ण परमहंस के विचारों का प्रचार करने के लिए उनके परम शिष्य स्वामी विवेकानंद के द्वारा हुई थी। स्वामी रामकृष्ण परमहंस धार्मिक संकीर्णता के विरोधी थे। आपने वैष्णव, शाक्त, वेदान्त, इस्लाम, बौद्ध, ईसाई आदि विविध धर्मों की साधनाओं का प्रयोग करके परम सत्य की खोज की थी। आपके आध्यात्मिक ज्ञान एवं अलौकिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ही श्री नरेन्द्रनाथ दत्त आपके शिष्य हुए थे, जो आगे चलकर 'विवेकानंद' के नाम से विश्व में विख्यात हुए। १८९३ ई० में आप शिकागो में सर्व-धर्म-सम्मेलन के अन्तर्गत सम्मिलित होने के लिये गये और वहाँ पर अपने अलौकिक वक्तृत्व-कला-कौशल एवं अद्भुत आध्यात्मिक विचारों से विश्व भर के धार्मिक एवं दार्शनिक विद्वानों को चमत्कृत करके भारत लौट आये। भारत में आकर आपने स्वामी रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के १० वर्ष उपरान्त १८९६ ई० में 'रामकृष्ण-मिशन' की स्थापना की। आज इस मिशन की शाखायें विश्व भर में स्थापित हैं। इसका केन्द्रीय कार्यालय कलकत्ता के समीपवर्ती भाग में वेलूर मठ के अन्तर्गत विद्यमान है। यहाँ ऐसे संन्यासी तैयार किये जाते हैं, जो आध्यात्मिक उन्नति करते हुए विविध रूपों में मानवमात्र की सेवा

---

१ **रैनेसेंट इण्डिया,** पृष्ठ ३३, ३४।

करते है। इस मिशन ने प्राचीनता एवं नवीनता तथा प्राच्य एवं पाश्चात्य धर्म तथा दर्शन का सुन्दर समन्वय करके धार्मिक सहिष्णुता, आत्म-विश्वास, एक विश्वात्मा में आस्था एवं श्रद्धा आदि के साथ-साथ आध्यात्मिकता, विश्वबंधुत्व, मानवता-प्रेम आदि की उदात्त भावनाओं को जाग्रत किया है।[1] इस मिशन की विचारधारा पूर्णतया ब्रह्मसूत्रों पर आधारित है और शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य में इस मिशन की गहरी आस्था है। इसी आधार पर इस मिशन ने कर्मयोग का सच्चे अर्थों में प्रचार किया है, जिसके फलस्वरूप अस्पताल, अनाथालय, स्कूल आदि खोलकर तथा महामारी या बाढ़ से पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा करके इस मिशन ने मानवता की निस्वार्थ सेवा का मार्ग खोल दिया है।[2] इस प्रकार रामकृष्ण मिशन ने तत्कालीन भारतीय मस्तिष्क में अध्यात्म सम्बन्धी क्रान्तिकारी विचार उत्पन्न करके उसे नव-जागरण की ओर उन्मुख किया और नये ढंग से विश्वात्मा एवं विश्वमानव के बारे में विचार करने तथा मानवता की सेवा करने के लिए बाध्य किया।

राधास्वामी-मत—आधुनिक युग की चिंतन-धारा में आध्यात्मिक क्रान्ति उत्पन्न करने वाली सांस्कृतिक संस्थाओं में 'राधास्वामी-मत' की भी गणना को जाती है। राधास्वामी-आन्दोलन का आरम्भ १८६१ ई० में हुआ था। इसके आरम्भकर्त्ता श्री शिवदयाल साहब थे, जो इस संस्था के प्रथम गुरु थे। इस संस्था की स्थापना दयालबाग, आगरा मे हुई और आज भी दयालबाग आगरा ही इस संस्था का मुख्य केन्द्र है। इस राधास्वामी-मत के प्रमुख सिद्धान्त 'सुरत-शब्द-योग' के नाम से संगृहीत हैं। यहाँ गुरु को ही सर्वस्व माना जाता है। जाति-भेद, वर्ण-भेद या वर्ग-भेद को यहाँ स्थान नहीं है। इस मत का सम्बन्ध हिन्दू-धर्म से ही है, किन्तु यहाँ केवल भारतीय संतों की वाणियों को ही वेद-वाक्य माना जाता है। इस मत में सम्मिलित होने के लिए किसी व्यक्ति को अपना गृहस्थ-जीवन नहीं छोड़ना पड़ता। यहाँ कोई जातिगत बंधन भी मान्य नहीं है तथा पुरुष-स्त्री के भेद-भाव को भी यहाँ नगण्य समझा जाता है। इस मत में दीक्षित होने के लिए धर्म-परिवर्तन अथवा हिन्दू धर्म से विच्छेद करने की आवश्यकता नहीं है।[3] इस प्रकार इस राधास्वामी-मत ने पारस्परिक सौहार्द्र, भ्रातृभाव, एक विराट् सत्ता में अटूट विश्वास, गुरु के प्रति आस्था, धार्मिक विश्वास, सामाजिक समानता आदि का प्रचार करते हुए आधुनिक जन-जीवन में एक नये दृष्टिकोण का सूत्रपात किया है, जिसमें संयम, साधना, तपस्या, जन-सेवा आदि के साथ-साथ आध्यात्मिकता एवं आत्म-चिंतन को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

प्रार्थना-समाज--इस युग की चिंतन-धारा को अग्रसर करने में महाराष्ट्र के

---

१. **इण्डियन कल्चर थ्रू दी एजेज**, पृष्ठ ३६२।
२. **रैनेसेंट इण्डिया**, पृष्ठ २४, २५।
३. **इण्डियन कल्चर थ्रू दी एजेज**, पृष्ठ ३६४।

अन्तर्गत १८६७ ई० में स्थापित 'प्रार्थना-समाज' का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। इस समाज में सामाजिक सुधार सम्बन्धी कार्य के साथ-साथ एक ईश्वर में अटूट विश्वास, विश्व-बंधुत्व एवं मानवता-प्रेम जाग्रत करने के लिए ईश-प्रार्थना पर अधिक ज़ोर दिया गया है। इस समाज के सभी सदस्य केशवचन्द्र सेन तथा ऋषि दयानंद की भाँति केवल धार्मिक विचारों में रुचि ही नहीं रखते थे, अपितु विचारों की अपेक्षा कार्य को अधिक महत्त्व देते थे। इसी कारण यह सांस्कृतिक संस्था सामाजिक सुधार-सम्बन्धी कार्यों में अधिक तत्परता के साथ अग्रसर हुई और इसने धार्मिक विश्वास एवं आस्तिक्य भाव को फैलाने में भी पर्याप्त सहयोग दिया। इस संस्था में संत नामदेव, तुकाराम, रामदास आदि की वाणियों से प्रेरणा प्राप्त की जाती थी तथा इस संस्था ने कर्मकाण्ड एवं मूर्ति-पूजा का विरोध करते हुए तत्कालीन मानवों के हृदय में यह विचार कूट-कूट कर भर देने का अथक प्रयत्न किया था कि मानव मात्र की सेवा में ही ईश्वरीय प्रेम विद्यमान रहता है। इसी कारण इस समाज ने मानवता की सेवा को ईश्वर की सेवा घोषित किया और पंढरपुर में अनाथ एवं अपाहिज बच्चों के लिए अनाथालय स्थापित किया। साथ ही इसके द्वारा जाति-भाँति एवं ऊँच-नीच की भावना को दूर करने के लिये कितने ही स्थानों पर अन्तर्जातीय भोज एवं अन्तर्जातीय विवाहों का आयोजन किया गया, विधवाओं के लिए 'शरणालय' अथवा विधवाश्रम खोले गये और अशिक्षितों के लिए रात्रि-पाठशालायें चलायी गयी। इस संस्था के प्रमुख व्यक्ति महादेव गोविन्द रानाडे थे, जिन्होंने हिन्दू-दर्शन के 'सच्चिदानंद' (सत्, चित्, आनन्द) में ईसाई त्रिमूर्ति की झलक देखी थी, क्योंकि उनके मत से 'सत्' में ईसाई धर्मानुसार परमात्मा की पूर्ण सत्ता (ऐब्सोल्यूट ऐक्ज़िस्टेंट ऑफ दी फादर), 'चित्' में विश्व का क्रियाशील सिद्धान्त (लोगस) विद्यमान है और 'आनन्द' में दिव्य सन्तोषप्रदायक (होली कम्फर्टर) विराजमान है।[1] इस प्रकार प्रार्थना-समाज ने भी भारत के मध्यवर्ती भाग में नव-जागरण की लहर उत्पन्न करके तत्कालीन भारतीय मस्तिष्क में उथल-पुथल पैदा कर दी थी, जिससे वह नये-नये विचारों, सिद्धान्तों एवं मान्यताओं की ओर अग्रसर होने लगा था।

स्वामी रामतीर्थ—इन सांस्कृतिक संस्थाओं के अतिरिक्त उस युग में कुछ ऐसे स्वतन्त्र विचारक एवं मनीषी महापुरुष भी अवतीर्ण हुए थे, जिन्होंने अपने विचारों से तत्कालीन वातावरण में परिवर्तन प्रस्तुत करते हुए नवीन चिन्तन-धारा को प्रवाहित करने में योग दिया था। इन महापुरुषों में से सर्वप्रथम स्वामी रामतीर्थ की गणना की जाती है। आपने एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करके २४ वर्ष की आयु में ही संन्यास ग्रहण कर लिया था और सत्य, ज्ञान, सच्चरित्रता, समानता, एक ईश्वर में विश्वास आदि का उपदेश देते हुए पर्याप्त भ्रमण किया था। आप वेदान्त

---

१. **रैनेसेंट इण्डिया**, पृष्ठ ४५।

के अद्वैतवाद के अनुयायी थे और समस्त प्राणियों में एक 'राम' का ही रूप व्याप्त देखते थे।

महर्षि अरविन्द—इस युग के स्वतन्त्र विचारकों में से महर्षि अरविन्द घोष ने भी अपने विचारों से तत्कालीन बुद्धिजीवी लोगों को अत्यधिक प्रभावित किया। महर्षि अरविन्द ने ब्रह्म और जगत् दोनों की सत्यता घोषित की तथा मनुष्य और जगत् में एक ही विकास की प्रक्रिया का होना सिद्ध किया। आपने बताया कि जिसे जड़ द्रव्य (मैटर) कहा जाता है और चेतन या आत्मा (स्पिरिट) कहा जाता है, ये दोनों ही सत्य हैं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'[1] का सिद्धान्त असत्य है। जड़तत्व का निषेध करने वाला आत्मवादी दर्शन और आत्मा की अवज्ञा करने वाला जड़वादी दर्शन दोनों ही एकांगी हैं। अरविद के मतानुसार परमतत्व सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म है। वह ब्रह्म निर्गुण और सगुण, एक और अनेक, स्थाणु और गतिशील सभी कुछ है। यह जगत् की सत्ता शिव का आनन्दमय नृत्य है। वह उस अवदात सत् को जैसे का तैसा, जहाँ का तहाँ, जैसा वह है और जैसा वह सदा रहेगा, रहने देता है, उसका एकमात्र और निरपेक्ष लक्ष्य केवल नृत्य का आनन्द है। किन्तु हमारे लिए गति और स्थिति, एकता और बहुलता से परे ब्रह्म के बारे में सोचना सर्वथा कठिन है। अतः हमें द्विपक्षीय सत्य, काली और शिव दोनों को ही स्वीकार करना चाहिए और यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि उस देशकालातीत विशुद्ध सत् की भूमिका में देश और काल के मध्य यह असीम गति, असीम शक्ति क्या है? वह सान्त और अनन्त दोनों है।[2] महर्षि अरविन्द ने जगत् और उसमें विकास की प्रक्रिया को विराट् ब्रह्माण्ड में एक निरा संयोग अथवा किसी मूर्ख द्वारा कहीं चीत्कार-फूत्कार युक्त अनर्गल कहानी नहीं बताया है, अपितु जगत् के इस निवर्तन या अवरोहण के सोपान-क्रम को इस तरह स्पष्ट किया है—सत्-चित्-आनंद से अतिमानव, अतिमानव से मानस-जीव, मानस-जीव से प्राण और प्राण से जड़तत्व (मैटर)। जगत् के विवर्तन या विकास का सोपान-क्रम इसके ठीक विपरीत इस तरह सिद्ध किया है—जड़तत्व से प्राण, प्राण से जीव, जीव से मानस, मानस से अतिमानस, अतिमानस से आनन्द, आनंद से चित् और चित् से ब्रह्म निरपेक्ष सत्। इस तरह जड़ भी भौतिकवादी की जड़ता से युक्त जड़ नहीं है, अपितु सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही निवर्तन है।[3] इस प्रकार ब्रह्म के साथ-साथ जगत् की सत्यता सिद्ध करते हुए महर्षि अरविन्द ने युगान्तरकारी विचारों का प्रचार किया था, जिसका आधुनिक प्रगतिशील मस्तिष्क पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और कितने ही आधुनिक कवि एवं मनीषी लेखक जगत् की सत्यता का उद्घोष करने लगे।

---

१. **विवेक-चूड़ामणि**, श्लोक सं० २०।
२. **हिन्दी-साहित्य-कोश**, पृष्ठ ५०।
३. **वही**, पृ० ५१।

महात्मा गांधी—महर्षि अरविन्द के अतिरिक्त आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने भी अपने युगान्तरकारी विचारों द्वारा आधुनिक भारतीय मस्तिष्क में नवीन चिन्तन-धारा को प्रवाहित किया। गांधीजी की यह चिन्तन-धारा 'गांधीवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। वैसे गांधीजी का तो स्वयं यह सिद्धान्त था कि "गांधीवाद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, और न मैं अपने पीछे कोई सम्प्रदाय छोड़ जाना चाहता हूँ। मेरा यह दावा भी नहीं है कि मैंने किसी नये तत्व या सिद्धान्त का आविष्कार किया है। मैंने तो सिर्फ जो शाश्वत सत्य हैं, उनको अपने नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नों पर अपने ढंग से उतारने का प्रयास मात्र किया है।"[1] इस प्रकार गांधीवाद में केवल जीवन के शाश्वत सत्यों का उद्घाटन मात्र हुआ है। इसीलिए वह एक आध्यात्मिक वस्तु है। इसके अन्तर्गत सत्य, अहिंसा, जन-सेवा, विश्वस्तवृत्ति (ट्रस्टीशिप), ग्राम-सुधार, सर्वोदय की भावना, हरिजन-सुधार, रामराज्य की स्थापना आदि के साथ-साथ नीतिमूलक धर्म को ही धर्म माना गया है और धर्म के बाह्याचार और उसके ऊपरी विधि-विधानों को धर्म का आवश्यक अंग नहीं माना गया है। गांधीजी ने स्वयं आस्तिक होने के कारण ईश्वरोपासना को अत्यधिक महत्व दिया और उपासना की विविधता उन्हें ग्राह्य थी। वे ईश्वर को सत्य का ही दूसरा नाम मानते और सत्य की पूर्ण सिद्धि को ही ईश्वर का साक्षात्कार करना बताते थे।[2] उनकी प्रार्थना-सभा में वेद-मन्त्रों एवं संतों की वाणियों के साथ-साथ क़ुरान-शरीफ तथा बाइबिल से भी प्रार्थनायें पढ़ी जाती थी। इस तरह गांधीजी ने धार्मिक सहिष्णुता, एक ईश्वर में विश्वास एवं मानवता-प्रेम पर अत्यधिक बल दिया और अपने गम्भीर व्यक्तित्व की छाप लगाकर ऐसे नये समाज, नये धर्म एवं नये विचारों का प्रवर्तन किया, जिन्होंने तत्कालीन भारतीय जीवन में एक अद्भुत परिवर्तन प्रस्तुत कर दिया और भारतीय विचारधारा को एक नया मोड़ प्रदान किया।

कवीन्द्र रवीन्द्र—महात्मा गांधी के अतिरिक्त कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपने युगान्तरकारी विचारों से आधुनिक युग को अत्यधिक प्रभावित किया है। १९१३ ई० में जिस समय आपको 'गीतांजलि' पर नोबिल पुरस्कार प्राप्त हुआ, उस समय से आपकी ख्याति विश्व के कोने-कोने में फैल गई और प्रत्येक विद्वान् एवं मनीषी विचारक आपके विचारों के प्रति आकृष्ट हुआ। आपके आध्यात्मिक विचारों ने विश्व के तत्कालीन सभी मनीषी विद्वानों को प्रभावित किया था, क्योंकि आपने विश्व-व्यापी सौन्दर्य की वह झलक अपने दिव्य-नेत्रों से देखी थी, जो विश्व के कण-कण में विद्यमान है तथा जिसकी छवि फूल एवं शूल, पर्वत एवं धूल-कण, पशु-पक्षी, मानव आदि सभी के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होती है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस अनन्त सौन्दर्यशाली संसार में ही परब्रह्म का साक्षात्कार किया था। इसीलिए वे संसार

---

१. **गांधीवाद** : समाजवाद—पृष्ठ १।

२. **वही**, पृष्ठ ४७-४९।

को सत्य मानते थे तथा भोग एवं त्याग में ही जीवन की सार्थकता सिद्ध करते थे।[१] आपके मतानुसार संसार से बेड़ा पार होने का तात्पर्य यह नहीं था कि संसार के साथ कोई सम्बन्ध न रखा जाय, उसका अभिप्राय था, संसार को ब्रह्म के अन्तर्गत सत्य करके जानना। इस प्रकार के ज्ञान से भोग एवं त्याग में कोई विच्छेद नहीं रहता।[२] कवीन्द्र रवीन्द्र संसार के प्रत्येक पदार्थ में उस विश्वात्मा का दर्शन करते थे। इसी कारण आपने लिखा भी है—"हे सुन्दर सर्वाधार, तुम ही आकाश हो और तुम्हीं घोंसला हो। इस घोंसले में भी तेरा ही प्रेम प्रतिक्षण अनेक रूपरंगों, गीतों और सुगन्धों से मुग्ध आत्मा को परिवृत किए हुए है। यहीं उषा अपने दाहिने हाथ में सोने का थाल लिए आती है और उसमें रखी हुई एक माधुर्य की माला से चुपचाप पृथ्वी के ललाट को सुशोभित कर देती है। यहीं विनम्रमुख संध्या गायों से रहित मैदान में चलती हुई अनन्त प्रशान्ति के पश्चिमी सागरों से अपने स्वर्ण कुम्भ में शांति का शीतल अमृत भर कर ला रही है।"[३] इतना ही नहीं "आमार निये मेलेछ एइ मेला, आमार हियाय चलछे रसेर खेला" कहकर आपने स्पष्ट घोषित किया कि "तूने मुझे साक्षी बनाकर यह मेला लगाया है, मेरे हृदय में ही तेरी अखण्ड आनन्द-लीला हो रही है तथा मेरे जीवन में भी तेरी ही लीला विविध रूपों में व्यक्त हो रही है।"[४] इस तरह महाकवि रवीन्द्र ठाकुर ने विश्व में ही विश्वात्मा या ब्रह्म के रूप का साक्षात्कार करते हुए मानवता की सेवा, पूजा एवं आराधना को ही सर्वोपरि सिद्ध किया, प्रकृति के साथ निविड़ सम्बन्ध एवं गम्भीर प्रेम प्रकट किया और सम्पूर्ण जल, थल, आकाश एवं समस्त प्राणि-समुदाय को अपने चैतन्य में अखण्ड एवं सम्पूर्ण रूप में अनुभव करने की सलाह दी।

इस प्रकार प्रसाद के युग मे ऐसी दार्शनिक विचारधारा प्रवाहित हो रही थी, जो व्यावहारिक जीवन के पुष्ट धरातल पर स्थित थी और जिसमें युगानुकूल जीवन-दर्शन का अद्भुत सम्मिश्रण था। इसीलिए प्रायः सभी तत्कालीन सांस्कृतिक संस्थायें एवं मनीषी दार्शनिक विश्वबन्धुत्व, मानवता-प्रेम, सर्वभूतहित आदि के साथ-साथ विश्व के अणु-अणु एवं कण-कण में विश्वात्मा के दर्शन करने, ब्रह्म के साथ-साथ जगत् एवं जीव को भी सत्य मानने, मानव मात्र की सेवा द्वारा ईश्वरोपासना करने, दरिद्रनारायण की भक्ति करने, जीवमात्र की अभिन्नता एवं अखण्डता का प्रचार करने आदि पर बल दे रहे थे। महाकवि जयशंकर प्रसाद भी उक्त दार्शनिक विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनके हृदय में इन दार्शनिक विचारों की गहरी नींव

---

१. **रवीन्द्रनाथ ठाकुर**—ले० नलिनीमोहन सान्याल, कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, पृष्ठ १२२, १२३ तथा १३५।
२. **कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह**, पृष्ठ १३६।
३. **गीतांजलि—मुक्त विहान**, पृष्ठ १८६।
४. **वही**, पृष्ठ १३८।

जम गई। इसीलिए वे आरम्भिक अवस्था से ही दर्शन की ओर अधिक उन्मुख होते चले गए।

(ख) प्रसाद का व्यक्तित्व

महाकवि प्रसाद को दर्शन की ओर प्रवृत्त करने में उनके व्यक्तित्व का भी अत्यधिक हाथ रहा है, क्योंकि प्रसाद बचपन से ही अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। वैसे वे बड़े मिलनसार एवं हँसमुख जान पड़ते थे, किन्तु वे स्वयं कभी किसी के यहाँ मिलने जाना पसन्द नहीं करते थे। वे दूसरे के घर जाने में सदैव हिचकते थे। वे कतिपय अन्तरंग मित्रों से तो खुलकर बातें कर लेते थे, किन्तु अन्य व्यक्तियों के सम्मुख सदैव गम्भीर एवं शान्त विचारवान् व्यक्ति की तरह बैठते थे। वे बचपन से ही एकान्त प्रेमी, विचारक एवं मननशील थे और इसी कारण उन्हें मेले-तमाशे में जाना, किसी कवि-सम्मेलन का सभापति बनना, किसी दलबन्दी में पड़ना अथवा किसी कवि-गोष्ठी में कविता सुनाना पसन्द न था। बहुत आग्रह करने पर वे अपनी प्रकाशित पुस्तक में से बैठे-बैठे कुछ पढ़ दिया करते थे।[1] उन्हें चुप रहना अधिक पसन्द था, क्योंकि चिन्तनशील होने के कारण वे बोलकर कम बोलते थे, चुप रहकर अधिक; क्योंकि जो कार्य हृदय के करने का था, उसका प्रतिनिधित्व न तो वे वाणी को करने देते थे और न किसी प्रकार के दिखावे को। आत्म-ज्ञापन की दुर्लभ कलात्मक क्षमता रखने वाले महाकवि प्रसाद आत्मगोपन की कला में पूर्ण पटु थे।[2] उनमें एकान्तप्रियता एवं मननशीलता की उत्तरोत्तर वृद्धि होने का एक कारण यह भी था कि जैसे ही वे कुछ समझदार हुए उनके पिता, भाई तथा माता का स्वर्गवास हो गया और १६ वर्ष की अवस्था में ही घर, दुकान तथा सारे परिवार का बोझ उनके कन्धों पर आ पड़ा। इतना ही नहीं, चारों ओर से विरोधी लोग भी उनकी रही-सही सम्पत्ति को हड़पने की चेष्टा करने लगे। साथ ही उनके बड़े भाई शम्भुरत्न की विलास-प्रियता के कारण उनके परिवार पर पर्याप्त ऋण का बोझ भी चढ़ा हुआ था। ऐसी परिस्थिति में एक षोडश वर्षीय युवक का इस संसार के बारे में विचारना तथा आत्म-चिन्तन की ओर प्रवृत्त हो जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि संसार में सोच-समझकर कदम उठाने के लिए चिन्तन-मनन एवं एकान्तप्रियता अत्यन्त आवश्यक है। इसी से अदम्य साहस एवं अक्षुण्ण क्षमता आती है। प्रसाद ने भी इसी साहस के बल पर धीरे-धीरे सारे ऋण के बोझ को उतार दिया, अपने तीन-तीन विवाह किये और अपने विरोधियों का मुँह बन्द करके उनके चंगुल से निकल कर अपनी दुकान का कारोबार भी ठीक कर लिया। वे चिन्तन एवं मनन में लगे रहने के कारण ही तत्वान्वेषी हो गये और इसी कारण उन्होंने अपनी विषम परिस्थितियों को भी अपने सर्वथा अनुकूल बना लिया तथा विश्व की विभीषिकाओं में से ही आनन्द के मार्ग का

---

१. **प्रसाद और उनका साहित्य**, पृष्ठ २८, ३६।

२. **जागरण**, वर्ष, १, अंक ११, ता० ३१ अक्टूबर १९३२, पृष्ठ १५।

अन्वेषण कर लिया। श्री प्रफुल्लचन्द्र पट्टनायक ने ठीक ही लिखा है—"प्रसाद जी जीवन के उत्तर पथ में उतरते-उतरते कितने चिन्तनशील और गम्भीर बन गये थे, उनके सम्मुख नई-नई समस्यायें किस प्रकार उलझतीं और हल होती जा रही थीं तथा उनका (समस्याओं का) अन्त मनुष्यता के किस रहस्यमय, किन्तु अमर वातावरण में हुआ, उनका सहज अनुमान हम सम्पूर्ण कामायनी तथा उसकी शैली से कर सकते हैं।"[१] प्रसाद की चिन्तनशील प्रवृत्ति आगे चलकर और भी बढ़ गई थी। उनके 'आँसू', 'लहर', 'कामायनी' आदि काव्य तो इसके परिचायक हैं ही। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'मदन-मृणालिनी' कहानी में तो यहाँ तक स्वीकार किया है—"संसार में कौन चिन्ता-ग्रस्त नहीं है? पशु-पक्षी, कीट-पतंग, चेतन और अचेतन, सभी को किसी प्रकार की चिन्ता है। जो योगी है, जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया है, संसार जिनके वास्ते असार है, उन्होंने भी इसको स्वीकार किया है। यदि वे आत्म-चिन्तन न करें, तो उन्हें योगी कौन कहेगा?"[२] इस तरह चिन्तन-मनन को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण ही प्रसाद में चिन्तनशीलता एवं अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की प्रबलता हो गई थी।

प्रसाद का परिवार कट्टर शैव था। इनके परिवार के कुछ सदस्य तो ऐसे थे जो शिवेतर किसी अन्य देवता का नाम सुनते ही अपने कान बन्द कर लेते थे। प्रसाद परिवार में भगवान शंकर को परात्पर और देवाधिदेव मानने के कारण शैव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों एवं दार्शनिक तत्वों पर विचार-विनिमय भी होता रहता था। फिर शिव की प्रिय काशी नगरी में रहने के कारण इस परिवार की शिव में आस्था एवं श्रद्धा होना भी स्वाभाविक थी। साथ ही यह परिवार संस्कृत भाषा में भी पर्याप्त रुचि रखता था। इसके अतिरिक्त प्रसाद-परिवार के सदस्य यह जानते थे कि शैवदर्शन अथवा शैव आगम पर दक्षिण भारत एवं कश्मीर में पर्याप्त ग्रंथ लिखे गये हैं और इनमें से कश्मीर का प्रत्यभिज्ञा-दर्शन अधिक पुष्ट एवं प्रबल है। इसीलिए इस परिवार की दार्शनिक विचारधारा कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पर ही आधारित थी[३] और प्रसाद भी इसी दार्शनिक विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। प्रसाद के अन्तर्गत असाधारण प्रतिभा थी। आडम्बर में से तत्त्व की खोज पर उनकी दृष्टि बराबर लगी रहती थी। रायकृष्णदास जी ने लिखा भी है—'एक दिन वे कहने लगे कि बीज-मंत्रों का जप क्या है? इसमें बड़े-बड़े दार्शनिक तत्त्व निहित हैं कि इन्हें दुहराने में जापक बार-बार उनका मनन करता जाय। उदाहरण के लिए, उन्होंने बतलाया कि "ह्रीं" का अर्थ है—'सोऽहं हरः इति ह्रीं।[४] प्रसाद आरम्भ से ही प्रत्येक बात का तत्वतः

अनुशीलन किया करने थे। वे किसी भी लौकिक व्याख्या को सहसा स्वीकार नहीं करते थे। वेद-पुराणों की व्याख्यायें भी वे अपनी बुद्धि के अनुसार किया करते थे। उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों की साम्प्रदायिक व्याख्याओं को स्वीकार न करके स्वयं बिल्कुल स्पष्ट एवं संगत, फलतः ग्राह्य व्याख्यायें की थीं।[१]

प्रसाद के हृदय में धार्मिकता के साथ-साथ उदारता एवं निष्कपटता भी अत्यधिक मात्रा में विद्यमान थीं। वे स्वयं हानि उठाना पसन्द करते थे, किन्तु कभी किसी दूसरे को हानि नहीं पहुँचाते थे। कोई कुछ माँगता था तो उसे वह तुरन्त दे देते थे, किन्तु अगर वह लौटाकर नहीं देता था, तो कभी उससे माँगते न थे। उनके व्यवहार में निस्वार्थता एवं निस्पृहता बराबर विद्यमान रहती थी। वे कभी दूसरों से कुछ नहीं लेना चाहते थे, किन्तु अपनी ओर से ही बराबर कुछ न कुछ देते रहना चाहते थे।[२] वे बड़ी ही सात्विक मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। यद्यपि उनके परिवार में माँस खाना निपिद्ध न था, तथापि वे आजीवन निरामिष आहारी ही रहे। मादक-वस्तुओं का सेवन भी उन्हें प्रिय न था। वे भाँग तक नहीं पीते थे। मदिरा से तो उन्हें बड़ी घृणा थी।[3] काशी की दाल मंडी में प्रसाद की दूकान होने के कारण वहाँ वेश्याओं के बीच में प्रसाद को रहना पड़ता था, किन्तु वे समाज के इस घृणित वर्ग के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी सदैव वहाँ कमलपत्रवत् रहे और अपने सात्विक जीवन को कभी कलंकित नहीं होने दिया। सभी प्रकार से निर्लिप्त रहने वाला उदार एवं उन्नत हृदय उन्होंने पाया था और उसी की सुन्दरता पर स्वयं रीझ कर वे औरों को भी बड़ी आसानी से रिझा लेते थे।[४]

प्रसाद के हृदय में असीम करुणा एवं अपार वेदना भरी हुई थी। श्री द्विज ने लिखा भी है—"इनकी वेदना दीन-दुखियों की वेदना की तरह केवल द्रवीभूत ही नहीं करती, हृदय में उस मादकता की भी सृष्टि करती चलती है, जिससे कभी किसी का जी नहीं अघाता। इनके करुण संगीत में रुलाने की भी शक्ति है, उल्लसित करने की भी।............किन्तु इनकी वेदना कवि की वेदना है, तपस्वी की साधना नहीं। ये 'अभाव' को 'सर्वस्व' के रूप में ग्रहण नहीं करते, 'सर्वस्व' को ही 'अभाव' से भरा हुआ पाते हैं।"[५] इसीलिये प्रसाद मानवता के अनन्य पुजारी हो गये थे। उनके हृदय में विश्वबंधुत्व की भावना सदैव हिलोरें लेती रहती थी। वे इस 'चिर-दग्ध-दुःखी वसुधा' को आनन्दमग्न देखना चाहते थे। उन्होंने भीषण झंझावात में तड़पते हुए दुःखी मानवों को देखा था, उन्होंने 'करुणा-कलित-हृदय' की विकल रागिनी सुनी

---

१. **प्रसाद की याद—ले० श्री रायकृष्णदास, संस्मरण** ६, पृष्ठ २८।
२. **जागरण**, वर्ष १, अंक ११, ३१ **अक्टूबर १९३२ ई०**, पृष्ठ १५।
३. **प्रसाद और उनका साहित्य**, पृष्ठ ३२।
४. **जागरण**, वर्ष १, अंक ११, ३१ **अक्टूबर १९३२**, पृष्ठ १५।
५. **वही**, पृष्ठ १५।

थी, उन्होंने 'हाहाकार स्वरों' में असीम वेदना को गरजते हुए सुना था और उन्होंने देखा था कि सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर पर किये गये सभी सुधार केवल ऊपरी प्रक्षालन में तो समर्थ होते हैं, किन्तु वे टिकाऊ नहीं होते। अतः उन्होंने मानवता की सम्पूर्ण व्याधियों की जड़ अनैतिकता, निश्चेतना अथवा सांस्कृतिक कुंठा के उन्मूलन की चेतना प्रदान की। उन्होंने देखा कि भौतिकवाद एवं अनात्मवाद आज के युग को अंधकार की ओर ले जा रहा है। अतएव वे ऐसे दार्शनिक विचारों की ओर प्रवृत्त हुए, जो व्यावहारिक जीवन में विषमता के स्थान पर समरसता ला सकें। इसी कारण वे रोटी से अधिक समरस-चिंतन की ओर प्रवृत्त हुए। उन्होंने गहन चिंतन एवं मनन करने के पश्चात् यह विचार किया कि आधुनिक युग के लिए ऐसे दर्शन की आवश्यकता नहीं है, जो संसार की असत्यता का प्रतिपादन करता हुआ मानव को वैराग्य, अकर्मण्यता, कर्त्तव्य-पराङ्मुखता आदि की ओर प्रवृत्त करे, अपितु वे स्वदेश एवं स्वराष्ट्र के उत्थान के लिए ऐसे दर्शन की खोज में थे, जो संसार की सत्यता का प्रतिपादन करते हुए मानव को भेद-भाव से दूर प्राणिमात्र की सेवा में लीन कर सके, सम्पूर्ण विश्व को उस जगत्-नियंता का स्वरूप बता सके, विश्व-बंधुत्व की शिक्षा दे सके, कर्त्तव्य-परायणता की भावना भर सके और समरसता की पावन पयस्विनी प्रवाहित करता हुआ इसी जीवन में आनन्द की उपलब्धि करा सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद ने शैव सम्प्रदाय के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में तथा उपनिषदों में कुछ ऐसे ही विचारों को खोज लिया और वे इसीलिए उत्तरोत्तर इन्हीं दार्शनिक विचारों की ओर उन्मुख होते चले गये और इन्हीं विचारों के आधार पर अपने ग्रंथों का निर्माण करने लगे।

प्रसाद की दार्शनिक आस्था

महाकवि प्रसाद प्रायः गहन चिंतन एवं मनन में डूबे रहते थे और सांसारिक विभीषिकाओं एवं भौतिक विषमताओं को दूर करने का मार्ग खोजते रहते थे। वे शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त से भली प्रकार परिचित थे, किन्तु उन्हें शंकराचार्य की 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'[१] वाली उक्ति किसी प्रकार भी समयोचित प्रतीत नहीं होती थी। वे आधुनिक कर्म-प्रधान युग के लिए ऐसी दार्शनिक उक्तियों को सर्वथा घृणा की दृष्टि से देखा करते थे, जो मानव को कर्म के क्षेत्र से हटाकर अकर्मण्यता का पाठ पढ़ाती हैं, जिनसे मानव पलायनवादी बन जाता है और घर-गृहस्थ को छोड़कर जंगलों में भटकता फिरता है। वे तो कबीर की 'गृही में बैराग'[२] वाली उक्ति के समर्थक थे। वे यह तो मानते थे कि जीव और ब्रह्म एक हैं तथा जगत् और ब्रह्म में भी पूर्णतः अभेदता है, किन्तु वे जगत् एवं जीव की असत्यता मानने के लिए कदापि तैयार न थे। उन्होंने अपने 'भक्ति' नामक लेख में संसार की सत्यता घोषित करते हुए उसे

१. **विवेक-चूड़ामणि, श्लोक सं० २०।**

२. **कबीर-ग्रंथावली—बेसास कौ अंग, दोहा संख्या २०।**

आनन्दमय बताया और लिखा—"हम जो करते हैं, जो सुनते हैं, जो देखते हैं, जो समझते हैं, सब वही है। सबका करने वाला वही है। जब यह बुद्धि हो जाती है, तब मनुष्य को आनन्द ही आनन्द मिलता है, संसार आनन्दमय प्रतीत होता है।"[1] इसी भाँति 'भक्तियोग' नामक कविता में उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया, जो संसार को असत्य मानकर सुख की खोज में इधर-उधर मारा-मारा फिरता था और संसार से विमुख हो गया था, किन्तु उसे ईश्वर की मूर्ति ने संसार की सत्यता समझाते हुए इसी संसार में रहकर कर्म करने की प्रेरणा दी, इसी में आनन्द की उपलब्धि होना सिद्ध किया और संसार को आनन्द-मन्दिर बताया।[2]

प्रसाद व्यावहारिक दर्शन को अधिक महत्त्व देते थे। वे जानते थे कि आज का युग कर्मठता एवं कर्मण्यता का है। उस समय भारत में स्वतंत्रता-आन्दोलन भी चल रहा था और उसके लिए ऐसे कर्मठ एवं त्यागी भारतीय युवकों की आवश्यकता थी, जो संसार से पराङ्मुख न होकर स्वदेश एवं स्वराष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सकें तथा इस देश को परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त करके आनन्द-मंदिर बनाने में प्रयत्नशील रहें। इसके लिए शंकराचार्य का 'जगन्मिथ्या' वाला सिद्धान्त किसी प्रकार भी कारगर नहीं हो सकता था। इसी कारण प्रसाद ने अद्वैतवाद की आलोचना करते हुए लिखा, 'वेदान्त में जो जगत् को मिथ्या और भ्रम मान लेने का सिद्धान्त है, वही यहाँ के मनुष्यों को उदासीन बनाता है। संसार को असत् समझने वाला मनुष्य कैसे किसी काम को विश्वासपूर्वक कर सकता है।[3] साथ ही यह भी समझाया कि वह वेदान्त पिछले काल का साम्प्रदायिक वेदान्त है, जो तर्कों के आधार पर अन्य दार्शनिकों को परास्त करने के लिए बना। सच्चा वेदान्त व्यावहारिक है। वह जीवन-समुद्र आत्मा को उसकी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ समझता है।[4] इस तरह प्रसाद ने यह सिद्ध किया कि शंकर का अद्वैतवाद तत्कालीन दार्शनिकों से लोहा लेने

---

१. इन्दु कला १, किरण ८, फाल्गुन २ सं० १९६६।

२. वह मूर्ति बोली–'भक्तवर ! क्यों यह परिश्रम हो रहा।
क्यों विश्व का आनन्द-मन्दिर आह ! तू यों खो रहा॥
यह छोड़कर सुख है पड़ा किसके कुहक के जाल में।
सुख-लेख मैं तो पढ़ रही हूँ स्पष्ट तेरे भाल में॥
सुन्दर सुहृद सम्पत्ति सुखदा सुन्दरी ले साथ में।
संसार यह सब सौंपना है चाहता तब हाथ में॥
फिर भागते हो क्यों ? न हटता यों कभी निर्भीक है।
संसार तेरा कर रहा स्वागत, चलो सब ठीक है॥'—का० कु०, पृष्ठ ३०।

३. तितली (उपन्यास), पृष्ठ ९४।

४. वही, पृष्ठ ९४।

के लिए अथवा बौद्धों को परास्त करने के लिए ही बना था, वह व्यावहारिक जीवन के लिए कदापि उपयुक्त न था।

संसार को सत्य घोषित करने से प्रसाद का तात्पर्य यह न था कि वे मानव को घोर सांसारिकता की ओर ले जाना चाहते थे अथवा वे भौतिकवाद के समर्थक थे और किसी विश्व-व्यापी सत्ता में विश्वास नहीं रखते थे। प्रसाद का जीवन परम धार्मिक था। वे नास्तिक न होकर परम आस्तिक थे। वे एक ऐसी शक्ति में विश्वास करते थे, जो सारे संसार का नियमन करती है और जल, थल, अनिल, अनल, तारा, शशांक, आकाश आदि में सर्वत्र विद्यमान है। यह विश्व जिसका मनोरम मन्दिर है, उस शक्ति को यदि कोई आँख बन्द करके त्रिपुटी में देखना चाहता है या कुटी बनाकर उसमें समाधि लगाकर देखना चाहता है, तो उसका यह प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि वह तो विश्व की जनता में विराजमान है तथा सर्वत्र सुलभ है।[1] इस तरह प्रसाद ने उस अशरीरी को विश्व-शरीरी माना है। उनकी दृष्टि में ईश्वर तथा जीव को पृथक् मानना ठीक नहीं है। इसलिए वे द्वैतवाद का समर्थन नहीं करते तथा न वे ब्रह्म को कभी अद्वैत और कभी द्वैत घोषित करते हैं। इतना ही नहीं, प्रसाद अचिन्त्य भेदाभेद-वाद के भी समर्थक नहीं दिखाई देते, क्योंकि वे भगवान् की शक्ति को न तो कभी अचिन्त्य कहते हैं और न वे ब्रह्म की शक्ति के स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति तथा बहिरंग शक्ति जैसे भेद ही करते हैं, अपितु उनकी दृष्टि में तो ब्रह्म स्पष्ट ही संसार में व्याप्त होकर अपनी नित्य क्रीड़ाओं में लीन रहता है, वह विश्वशरीरी है, वह जड़-चेतन सभी पदार्थों की गति-विधि का संचालन करता हुआ अपने नित्य रूप में इसी संसार के अन्तर्गत सदैव विद्यमान रहता है, चेतन की चित्कला के रूप में उसकी सत्ता दृष्टि-गोचर होती है, वह स्वानुभूति का साक्षी है, वह जगत् में नित्य नवल सम्बन्ध सूत्रों को स्थापित करने वाला है, वह विज्ञानाकार है और ज्ञानों का आधार है।[2] प्रसाद

१. आँख बन्द कर देखे कोई रहे निराले में जाकर,
त्रिपुटी में, या कुटी बना ले समाधि में खाये गोता।
खड़े विश्व-जनता में प्यारे हम तो तुमको पाते हैं,
तुम ऐसे सर्वत्र सुलभ हो पाकर कौन भला खोता! —का० कु०, पृष्ठ ६१।

२. चेतन की चित्कला विश्व में जिसकी सत्ता।
जिसकी ओतप्रोत व्योम में पूर्ण महत्ता॥
स्वानुभूति का साक्षी है जो जड़ का चेतन।
विश्व-शरीरी परमात्मा-प्रभुता का केतन॥
अणु-अणु में जो स्वभाव-वश गति-विधि-निर्धारक।
नित्य-नवल-सम्बन्ध-सूत्र का अद्भुत कारक॥
जो विज्ञानाकार है, ज्ञानों का आधार है।
नमस्कार सदनन्त को ऐसे बारम्बार है॥—कानन-कुसुम, पृष्ठ ९४।

आनन्दमय बताया और लिखा—"हम जो करते हैं, जो सुनते हैं, जो देखते हैं, जो समझते हैं, सब वही है। सबका करने वाला वही है। जब यह बुद्धि हो जाती है, तब मनुष्य को आनन्द ही आनन्द मिलता है, संसार आनन्दमय प्रतीत होता है।"[1] इसी भाँति 'भक्तियोग' नामक कविता में उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया, जो संसार को असत्य मानकर सुख की खोज में इधर-उधर मारा-मारा फिरता था और संसार से विमुख हो गया था, किन्तु उसे ईश्वर की मूर्ति ने संसार की सत्यता समझाते हुए इसी संसार में रहकर कर्म करने की प्रेरणा दी, इसी में आनन्द की उपलब्धि होना सिद्ध किया और संसार को आनन्द-मन्दिर बताया।[2]

प्रसाद व्यावहारिक दर्शन को अधिक महत्त्व देते थे। वे जानते थे कि आज का युग कर्मठता एवं कर्मण्यता का है। उस समय भारत में स्वतंत्रता-आन्दोलन भी चल रहा था और उसके लिए ऐसे कर्मठ एवं त्यागी भारतीय युवकों की आवश्यकता थी, जो संसार से पराङ्मुख न होकर स्वदेश एवं स्वराष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सकें तथा इस देश को परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त करके आनन्द-मंदिर बनाने में प्रयत्नशील रहें। इसके लिए शंकराचार्य का 'जगन्मिथ्या' वाला सिद्धान्त किसी प्रकार भी कारगर नहीं हो सकता था। इसी कारण प्रसाद ने अद्वैतवाद की आलोचना करते हुए लिखा, 'वेदान्त में जो जगत् को मिथ्या और भ्रम मान लेने का सिद्धान्त है, वही यहाँ के मनुष्यों को उदासीन बनाता है। संसार को असत् समझने वाला मनुष्य कैसे किसी काम को विश्वासपूर्वक कर सकता है।[3] साथ ही यह भी समझाया कि वह वेदान्त पिछले काल का साम्प्रदायिक वेदान्त है, जो तर्कों के आधार पर अन्य दार्शनिकों को परास्त करने के लिए बना। सच्चा वेदान्त व्यावहारिक है। वह जीवन-समुद्र आत्मा को उसकी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ समझता है।[4] इस तरह प्रसाद ने यह सिद्ध किया कि शंकर का अद्वैतवाद तत्कालीन दार्शनिकों से लोहा लेने

---

१. इन्दु कला १, किरण ८, फाल्गुन २ सं० १६६६।

२. वह मूर्ति बोली—'भक्तवर ! क्यों यह परिश्रम हो रहा।
क्यों विश्व का आनन्द-मन्दिर आह ! तू यों खो रहा॥
यह छोड़कर सुख है पड़ा किसके कुहक के जाल में।
सुख-लेख मैं तो पढ़ रही हूँ स्पष्ट तेरे भाल में॥
सुन्दर सुहृद सम्पत्ति सुखदा सुन्दरी ले साथ में।
संसार यह सब सौंपना है चाहता तब हाथ में॥
फिर भागते हो क्यों ? न हटता यों कभी निर्भीक है।
संसार तेरा कर रहा स्वागत, चलो सब ठीक है॥'—का० कु०, पृष्ठ ३०।

३. तितली (उपन्यास), पृष्ठ ६४।

४. वही, पृष्ठ ६४।

के लिए अथवा बौद्धों को परास्त करने के लिए ही बना था, वह व्यावहारिक जीवन के लिए कदापि उपयुक्त न था।

संसार को सत्य घोषित करने से प्रसाद का तात्पर्य यह न था कि वे मानव को घोर सांसारिकता की ओर ले जाना चाहते थे अथवा वे भौतिकवाद के समर्थक थे और किसी विश्व-व्यापी सत्ता में विश्वास नहीं रखते थे। प्रसाद का जीवन परम धार्मिक था। वे नास्तिक न होकर परम आस्तिक थे। वे एक ऐसी शक्ति में विश्वास करते थे, जो सारे संसार का नियमन करती है और जल, थल, अनिल, अनल, तारा, शशांक, आकाश आदि में सर्वत्र विद्यमान है। यह विश्व जिसका मनोरम मन्दिर है, उस शक्ति को यदि कोई आँख बन्द करके त्रिपुटी में देखना चाहता है या कुटी बनाकर उसमें समाधि लगाकर देखना चाहता है, तो उसका यह प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि वह तो विश्व की जनता में विराजमान है तथा सर्वत्र सुलभ है।[1] इस तरह प्रसाद ने उस अशरीरी को विश्व-शरीरी माना है। उनकी दृष्टि में ईश्वर तथा जीव को पृथक् मानना ठीक नहीं है। इसलिए वे द्वैतवाद का समर्थन नहीं करते तथा न वे ब्रह्म को कभी अद्वैत और कभी द्वैत घोषित करते हैं। इतना ही नहीं, प्रसाद अचित्य भेदाभेद-वाद के भी समर्थक नहीं दिखाई देते, क्योंकि वे भगवान् की शक्ति को न तो कभी अचित्य कहते हैं और न वे ब्रह्म की शक्ति के स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति तथा बहिरंग शक्ति जैसे भेद ही करते हैं, अपितु उनकी दृष्टि में तो ब्रह्म स्पष्ट ही संसार में व्याप्त होकर अपनी नित्य क्रीड़ाओं में लीन रहता है, वह विश्वशरीरी है, वह जड़-चेतन सभी पदार्थों की गति-विधि का संचालन करता हुआ अपने नित्य रूप में इसी संसार के अन्तर्गत सदैव विद्यमान रहता है, चेतन की चित्कला के रूप में उसकी सत्ता दृष्टि-गोचर होती है, वह स्वानुभूति का साक्षी है, वह जगत् में नित्य नवल सम्बन्ध सूत्रों को स्थापित करने वाला है, वह विज्ञानाकार है और ज्ञानों का आधार है।[2] प्रसाद

---

१. आँख बन्द कर देखे कोई रहे निराले में जाकर,
त्रिपुटी में, या कुटी बना ले समाधि में खाये गोता।
खड़े विश्व-जनता में प्यारे हम तो तुमको पाते हैं,
तुम ऐसे सर्वत्र सुलभ हो पाकर कौन भला खोता! —का० कु०, पृष्ठ ६१।

२. चेतन की चित्कला विश्व में जिसकी सत्ता।
जिसकी ओतप्रोत व्योम में पूर्ण महत्ता॥
स्वानुभूति का साक्षी है जो जड़ का चेतन।
विश्व-शरीरी परमात्मा-प्रभुता का केतन॥
अणु-अणु में जो स्वभाव-वश गति-विधि-निर्धारक।
नित्य-नवल-सम्बन्ध-सूत्र का अद्भुत कारक॥
जो विज्ञानाकार है, ज्ञानों का आधार है।
नमस्कार सदनन्त को ऐसे बारम्बार है॥—कानन-कुसुम, पृष्ठ ९४।

की यह स्पष्ट धारणा थी कि वह विश्व-नियंता विश्व का नियामक होते हुए भी इसी विश्व में व्याप्त है और अन्त में वही अपने अन्तर्गत इस संसार को समेट लेता है, क्योंकि समस्त आलोक, चैतन्य और प्राण-शक्ति उसी प्रभु की दी हुई है और मृत्यु के द्वारा वही इसको लौटा लेता है।[१]

प्रसाद ने उस परात्परब्रह्म एवं विश्व-नियंता को 'शिव' नाम से पुकारा है। इसका कारण यह था कि प्रसाद मूलतः शैव थे। उनकी वंश परम्परा में भी शिवोपासना प्रचलित थी। उनके घर में ही एक सुन्दर शिव-मंदिर था, जिसमें शिवरात्रि का महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। शिवरात्रि के पूजा-काल में प्रसाद पीताम्बर पहन कर सारी रात मंदिर में ही रहते थे और अहर्निश उपवास एवं अखण्ड रात्रि-जागरण करते थे। फाल्गुन शुक्ला एकादशी के दिन विश्वनाथ के मंदिर में पंचमुखी मुखौटा पहनाकर शिवजी का जो शृंगार किया जाता था तथा उस समय अबीर-गुलाल की जो वर्षा होती थी, प्रसाद उसमें बड़ी रुचि के साथ सम्मिलित होते थे।[२] इसी कारण शिव में प्रसाद की गहन आस्था थी और इसीलिए वे शिव को ही संसार का स्रष्टा, संरक्षक एवं संहारक मानते थे तथा विश्व को उसी शिव का विकसित रूप स्वीकार करते थे।[३] इसी कारण उन्होंने शिव को आलोकपूर्ण, लोक-बिहारी, आनंदकंद, जगद्वन्द्य, विभु, पुरारी, ईशान, आशुतोष आदि नामों से अभिहित करके उसके अखंड प्रताप को ब्रह्मांड-मंडल में व्याप्त बताया है।[४]

प्रसाद नियतिवादी थे। वे नियति को विश्व की नियामिका शक्ति अथवा सृष्टि का सृजन, स्थिति, विकास एवं संहार करने वाली अलौकिक शक्ति मानते थे। शैवागमों में अटूट विश्वास होने के कारण ही प्रसाद नियतिवादी नहीं हुए थे, अपितु उन्होंने अपनी आँखों से स्वयं मानवीय प्रयासों की विफलता को देखा था और अनुभव किया था कि किस प्रकार ईश्वर की नियामिका शक्ति के सूक्ष्म संकेत मानव की अभिलाषाओं के भव्य प्रासादों को क्षण भर में धराशायी कर देते हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों में या तो कोई व्यक्ति नास्तिक हो जाता है या वह नियतिवादी हो सकता है, किन्तु प्रसाद ने भारतीय दर्शन एवं भारतीय संस्कृति का गहन अध्ययन किया था। अतएव वे नास्तिक न होकर नियतिवादी ही हो सकते थे। यही कारण

---

१. चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १०३।

२. प्रसाद की याद-संस्मरण ६, ले० रायकृष्णदास, पृष्ठ ३२।

३. नील निर्मल नवल सोहत सुखद मंजु अकाश।
सुप्रसन्न महेश की लहि महाशक्ति विकाश।—चि०, पृष्ठ १५४।

४. आलोकपूर्ण सब लोकन में बिहारी, आनंद कंद जगवंद्य विभो पुरारी।
ब्रह्मांड मंडल अखंड प्रताप जाके, पूरो रहै निगम हूँ गुण गाह थाके।
ईशान नाम तव, नाथ अनाथ के हो, विख्यात है विरुद्ध सद्गुण गाथ के हो।
—चित्राधार, पृष्ठ १५५।

है कि वे जीवन की गहन विभीषिकाओं में भी दृढ़ता के साथ पुकार उठे—"नियति की डोरी पकड़कर मैं निर्भय कर्म्म-कूप में कूद सकता हूँ। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा ही, फिर कायर क्यों बनूँ—कर्म से क्यों विरक्त रहूँ ?"[१] उन्हें यह विश्वास हो गया था कि नियति एक नटी की भाँति इस विश्व-प्रांगण में नित्य नाचती हुई कंदुक-क्रीड़ा-सी करती रहती है और इन्हीं क्रीड़ाओं के द्वारा वह अपनी अतृप्त अभिलाषा को पूर्ण करती है।[२] इतना ही नहीं, प्रसाद का दृढ़ विश्वास था कि इस नियति का संकेत पाकर ही चर-अचर, चेतन-अचेतन, ग्रह-नक्षत्र, अणु-परमाणु, पृथ्वी-आकाश आदि सभी परिचालित होते हैं। यही नियति कर्म-चक्र की प्रवर्तक है और इसी की प्रेरणा से अखिल ब्रह्मांड कर्म में रत होता है।[३] यह नियति समष्टि की ही संचालिका नहीं है, अपितु व्यष्टि भी इसी के नियंत्रण में कार्य करता है, क्योंकि यही व्यक्तियों के हृदय में तृष्णा-जन्य ममत्व को उत्पन्न करती है और इसी की प्रेरणा से व्यक्ति पाणिपादमय पंचभूतों की उपासना में लीन होता है।[४] इतना ही नहीं, इसी नियति का संकेत मिलने पर दो अपरिचितों का मेल होता है[५] और जिस समय यह अपना आकर्षक रूप छोड़कर विकर्षणमयी हो जाती है, उस समय अणु-परमाणु सभी को अस्त-व्यस्त करती हुई समस्त प्राणियों को भयभीत बना देती है तथा संयोग-सुख में लीन प्राणियों में भी वियोग की तीक्ष्ण ज्वाला प्रज्वलित कर उनका विच्छेद कर देती है।[६] नियति के ऐसे ही अद्भुत कार्यों को देखकर प्रसाद नियति को वैयक्तिक कर्म-फल वाली 'भाग्य' नामक शक्ति से सर्वथा परे एक ऐसी सर्वातिशायी एवं इन्द्रियातीत सत्ता मानने लगे थे, जिसकी आज्ञा से ब्रह्म साकार होता है एवं विश्वात्मक शक्तियाँ अवतरित होती हैं।

संसार में क्षण-क्षण पर होने वाले परिवर्तन एवं मानवों की विषादमयी स्थिति को देखकर प्रसाद का हृदय भी कराह उठा था और वे बौद्धदर्शन के क्षणिक-वाद अथवा दुःखवाद की ओर उन्मुख हो गये थे। प्रसाद की इस भावना पर सारनाथ के वातावरण ने भी प्रभाव डाला था, क्योंकि वे प्रायः जाड़े की दुपहरी में रायकृष्ण-दास जी के साथ सारनाथ घूमने जाया करते थे और वहाँ धमेक स्तूप के समीप अठमहला गुमटी में बैठकर बौद्ध विहार के ध्वंसावशेषों एवं वहाँ की उन्मुक्त प्रकृति के दृश्यों का अवलोकन किया करते थे।[७] इसीलिए बौद्धों के दुःखवाद एवं क्षणिकवाद के संकेत प्रसाद के 'विशाख' एवं 'अजातशत्रु' नामक नाटकों में विद्यमान हैं।

---

१. अजातशत्रु, पृष्ठ ३८।
२. नचती है नियति नटी सी कंदुक क्रीड़ा सी करती;
 इस व्यथित विश्व आँगन में, अपना अतृप्त मन भरती।—आँसू, पृष्ठ ५१।
३. कामायनी, पृष्ठ २६६। ४. कामायनी, पृष्ठ २६७।
५. कामायनी, पृष्ठ ८१। ६. कामायनी, पृष्ठ २००।
७. प्रसाद की याद—ले० रायकृष्णदास—नई धारा, माघ २००७, अंक ११, पृष्ठ ४।

किन्तु प्रसाद की यह मूल विचारधारा न थी। मूलतः वे आनन्दवाद के अनुयायी थे और उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत की मूल दार्शनिक विचारधारा में आनन्दवाद ही प्रमुख है। जैसा कि प्रसाद ने लिखा भी है—"भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद को स्थान न देने का एक मुख्य कारण है। ऐसे आलोचकों के मन में एक तरह की झुँझलाहट है। रहस्यवाद के आनन्द-पथ को उनके कल्पित, भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से आदर्शवाद का ढाँचा ढीला पड़ जाता है। इसलिये वे इस बात को स्वीकार करने में डरते हैं कि जीवन में यथार्थ वस्तु 'आनन्द' है, ज्ञान से व अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है। आदर्शवाद ने विवेक के नाम पर आनन्द और उसके पथ के लिये जो जनरव फैलाया है, वही उसे अपनी वस्तु कहकर स्वीकार करने में बाधक है, किन्तु प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलाप में आनन्द, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे और आज के भी अन्य देशीय तरुण आर्य-संघ आनन्द के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं। आनन्द-भावना, प्रिय-कल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी।"[1] इस आनन्दवाद के लिए प्रसाद ने शैवागमों के 'समरसता' के सिद्धान्त को अपनाया, क्योंकि उनका विश्वास था कि जब तक मानव अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र में समरसता की स्थापना नहीं करता अथवा जब तक उसकी इच्छा, उसका ज्ञान और उसकी क्रिया में सामरस्य स्थापित नहीं होता, तब तक वह जीवन की विडम्बनाओं में फँसकर इस जगत् में निरन्तर विषमता एवं विभीषिकाओं का शिकार बनता रहता है[2], किन्तु जैसे ही उसके जीवन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय होकर समरसता स्थापित हो जायेगी, वैसे ही उसके जीवन की विडम्बना समाप्त हो जायेगी। उसे फिर जड़ एवं चेतन सभी समरस दिखाई देने लगेंगे, उसे ब्रह्म, जड़, चेतन या स्वयं में कोई भेद नहीं दिखाई देगा और अपनी शक्ति-तरंगों से तरंगायित होकर वह अखंड आनंद-सागर का रूप धारण कर लेगा। इतना ही नहीं, फिर तो उसे सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दृष्टिगोचर होगी, उसे एकमात्र अखंड आनन्द ही आनन्द के दर्शन होंगे और वह स्वयं चितिरूप होकर आनंद-पद-संलीन हो जायेगा।[3]

इस प्रकार महाकवि प्रसाद की चिन्तनधारा का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वे आरम्भ से ही दर्शन में अत्यधिक रुचि रखते थे, भारतीय दर्शनों में उनकी प्रभूत आस्था थी और वे दर्शन की गूढ़ गुत्थियों को अपने काव्य के माध्यम से सरलतापूर्वक सुलझाने का प्रयत्न किया करते थे। महाकवि प्रसाद के दार्शनिक होने

---

१. का० नि०, पृष्ठ ४९।

२. **ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की,**
एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की।—का०, पृष्ठ २७२।

३. **समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,**
चेतनता एक विलसती आनन्द अखंड घना था। —का०, पृष्ठ २९४।

में कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि 'कवि' शब्द स्वयं काव्यकर्ता, तत्वदर्शी एवं सिद्धपुरुष का द्योतक होता है और कोई भारतीय कवि यदि दार्शनिक नहीं है तब तो आश्चर्य हो सकता है, किन्तु किसी तत्वदर्शी भारतीय कवि के दार्शनिक होने मे तनिक भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रसाद तो अपने इस पावन देश को 'दार्शनिकों का देश' कहा करते थे।[1] साथ ही वे कभी-कभी अपनी मित्र-मंडली में भी कह बैठते थे कि 'मेरा तो योग-भ्रष्ट हो गया, इसीलिये मैं इस वैश्य-परिवार में आ जन्मा।"[2] अतएव वे तत्व-चिन्तन की ओर आरम्भ से ही दत्तचित्त रहे और दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को जीवनानुकूल बनाने के लिए अथवा उन्हे व्यावहारिक रूप देने के लिये कबीर की भाँति ही प्रयत्नशील रहे। किन्तु कबीर और प्रसाद में अन्तर इतना ही है कि कबीर बे-पढ़े-लिखे थे, उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को श्रवण द्वारा ग्रहण किया था तथा उनकी अभिव्यक्ति में भी माधुर्य न था, इसलिए उनके दार्शनिक निरूपण में विश्रृंखलता एवं शुष्कता अधिक है, जबकि प्रसाद ने दार्शनिक सिद्धान्तों का स्वयं गहन अध्ययन किया था और उनकी भावाभिव्यक्ति अत्यन्त मधुर एवं उच्चकोटि की थी। इसीलिये उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को मधुर काव्य-रूप देकर उन्हें एक व्यवस्थित ढंग से पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है और इसी कारण प्रसाद की गहन दार्शनिक आस्था सरस काव्य का प्रश्रय पाकर मधुरता एवं रमणीयता में परिणत हो गई है।

प्रसाद के दार्शनिक चिन्तन का क्रमिक विकास

प्रसाद आरम्भ से ही एक गहन चिन्तनशील विचारक थे। जन्मजात कवि होने के कारण उनमें सहज गम्भीरता एवं मननशीलता का होना भी स्वाभाविक था, किन्तु जीवन एवं जगत् की विभीषिकाओं ने भी उन्हें सहज चिन्तनशील बना दिया था। साथ ही उनकी मनोवृत्ति भी दार्शनिकों की भाँति सतत अध्ययन, अनुशीलन एवं अन्वेषण में लगी रहती थी। वे प्रायः जगत् के विविध आडम्बरों में से तत्व की खोज में लगे रहते थे और जीवन के सत्य का अन्वेषण करना ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया था। उन्होंने जीवन की विविध समस्याओं का बड़ी तत्परता एवं गहनता के साथ निरीक्षण एवं परीक्षण किया था। इसी [illegible] में निरन्तर लगे रहने के कारण उनकी दार्शनिक मनोवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती चली गई तथा उनका दार्शनिक चिन्तन उत्तरोत्तर प्रौढ़ एवं प्रांजल होता चला गया। प्रसाद के दार्शनिक चिन्तन के तीन सोपान स्पष्ट ज्ञात होते हैं, जो इस प्रकार हैं :—

१. चिन्तन की आरम्भिक अवस्था (१८९८ ई० से १९१० ई० तक)
२. चिन्तन की विकसित अवस्था (१९१० ई० से १९२० ई० तक)
३. चिन्तन की प्रौढ़ावस्था (१९२० ई० से १९३७ ई० तक)

---

१. आकाशदीप (कहानी-संग्रह), पृष्ठ १५।
२. डा० राजेन्द्रप्रसाद शर्मा (वाराणसी) से वार्त्तालाप करने पर ज्ञात।

(१) चिन : की आरम्भिक अवस्था

स के **ब्रह्म सम्बन्धी आरम्भिक विचार**--प्रसाद का जन्म एक ऐसे धार्मिक परिवार में हुआ था, जिसका प्रत्येक सदस्य धार्मिक आस्था एवं आध्यात्मिक निष्ठा का मूर्तिमन्त स्वरूप था। इनके घर शिव-मन्दिर स्थापित था, जिसमें नित्य विधिवत् षोडशोपचार द्वारा शिव-पूजन होता था, समय-समय पर रुद्री-पाठ होता था, हवन होता रहता था तथा ब्रह्म-भोज का भी प्रायः आयोजन किया जाता था। इन सभी धार्मिक विश्वासों, आस्थाओं एवं निष्ठाओं का बालक प्रसाद के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे बचपन से ही यह जानने लगे कि इस सृष्टि का एकमात्र स्वामी शिव है। प्रसाद ने ९ वर्ष की अवस्था में ही 'कलाधर' उपनाम से एक कविता भी बना डाली, जिसमें दिखाया गया कि शिव की माया अपार है। सुरेश, रमेश, धनेश, गणेश तथा शेषनाग तक हार गये, किन्तु शिव की माया का पता नहीं लगा। वह करोड़ों पापियों का उद्धारक है और जिस पर वह कृपा करता है, उसका विधाता भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता।[1] प्रसाद का यह दृढ़ विश्वास था कि सुर और असुरों का समूह एकमात्र शिव की माया के वशीभूत होकर ही इधर-उधर भ्रमण करता है, उसी माया के वशीभूत होकर सूर्य निरन्तर चक्कर लगाता है, वायु सतत गतिशील रहती है और समस्त जीव प्रकट होते हैं। उस माया का पता तब तक नहीं चलता, जब तक वे शिव स्वयं उदार होकर कृपा नहीं करते।[2] इतना ही नहीं, प्रसाद की दृढ़ धारणा थी कि शिव ही विश्वेश्वर हैं और उनके द्वारा ही इस अनुपम सृष्टि का निर्माण हुआ है। वह विश्वेश्वर अपनी इस सृष्टि में निरन्तर शिवरूप धारण करके विद्यमान रहता है और सबको समान दृष्टि से देखता है। यह विराट् संसार उसी विश्व-पति शिव का विराट् रूप है, जिसमें उसके ही अंगों की दिव्य आभा निरन्तर दीप्त होती रहती है। शान्तिमयी दिशायें ही उसके वस्त्र हैं। वह तपोमय चिता भस्म अपने शरीर पर धारण करता है, किन्तु वह भस्म हिमगिरि के समान पवित्र होती है। सूर्य और चन्द्र

---

१. **हारे, सुरेस, रमेस, धनेस, गनेसहू सेस न पावत पारे,**
पारे हैं कोटिक पातकी पुंज, 'कलाधर' ताहि छिनौ लखि तारे,
तारेन की गिनती सम नाहि, सु जेते तरे प्रभु पापी विचारे,
चारे चले न विरंचिहू के, जो दयालु ह्वै शंकर नैकु निहारे।
—साप्ताहिक आज, सोमवार २९ कार्तिक,
सं० २००० वि०, पृष्ठ ८।

२. हे शिव, धन्य तुम्हारी माया
जेहि बस भूलि भ्रमत है सब ही सुर अरु असुर, निकाया,
भानु भ्रमत अरु बहत समीरन प्रकट जीव समुदाया,
तब महिमा को पार न पावत, जेहि पर करहु न छाया,
दास दीनता देखि दयानिधि बेगि करहु अब दाया॥ चि०, पृष्ठ ३०।

उसके दो नेत्र हैं, जिनके प्रकाश से मानव आलोक ग्रहण करके इस तपोमय जगत् में अपनी आँखों से देखता है। यह विशाल आकाश ही उसके केश हैं, जिनमें तारे नाग-मणि के तुल्य सदैव देदीप्यमान रहते हैं। वह जगत्पति शिव सम्पूर्ण मनुष्यों के दोष को ही अपने कंठ में गरल के रूप में धारण करता है और इस सृष्टि की अग्नि ही उसका तीसरा नेत्र है। यहाँ की सुरम्य प्रकृति ही उसकी पराशक्ति है, जो उसकी गोद में विद्यमान होकर अनुपम शोभा से युक्त रहती है। धर्म ही उसका वाहन वृषभ है, जो बड़ी पवित्रता के साथ विद्यमान रहता है। उसके समीप षडानन एवं गणेश भी अपने-अपने वाहनों के साथ सदैव विराजमान रहते हैं। वहाँ गणेश-वाहन मूषक तथा सर्प अपने सहज बैर-भाव को छोड़कर सदैव गंगा की धारा के समान पवित्र प्रेम का पान करके शुचिता के साथ बैठे रहते हैं। वह भूतनाथ समस्त भूतों के साथ निरन्तर अविरल क्रीड़ा में लीन रहता है और पशुपति होने के कारण अपने समस्त पशुओं अर्थात् माया-बद्ध जीवों का सदैव प्रेमपूर्वक प्रतिपालन करता है। वह विश्वम्भर है, इसी कारण वह अपने जीवों का नित्य भरण-पोषण करता है।[1] प्रसाद उस विश्व-नियंता शिव को अपनी आठ मूर्तियाँ धारण करके इस विश्व में निरन्तर विद्य-मान मानते थे। उनका विश्वास था कि वह शिव सुरम्य शस्यावलि से परिपूर्ण 'वसुन्धरा' के रूप में, जगत् के जीवनदायक 'कीलाल' या 'जल' के रूप में, विशाल ज्वालावलि की प्रभा से परिपूर्ण 'वैश्वानर' या अग्नि के रूप में, अनन्त एवं असीम 'आकाश' के रूप में, जगत् के प्राणदायक 'पवन' के रूप में, संसार को आलोक देने वाले 'दिनेश' या सूर्य के रूप में, शीतलता एवं सुधा से परिपूर्ण 'चन्द्र' के रूप में और आर्त्त एवं दीन जनों के हितैषी, धार्मिक एवं अतिथि-सेवा-रत 'सज्जन' के रूप में सदैव अष्ट मूर्तियाँ धारण करके विद्यमान रहता है।[2] प्रसाद की दृढ़ धारणा थी कि वह शिव यद्यपि सर्वव्यापक है, तथापि सबसे परे है। यद्यपि वह सूक्ष्म है, तथापि वह वसुधा को धारण किये हुए है। यद्यपि वह शब्द में विद्यमान रहता है, तथापि शब्द उसका पार नहीं पाते और कोई भी कवि उसकी महती महिमा का गुणगान नहीं कर सकता। उसका तेज एवं ओज ही निरन्तर सूर्य में चमकता है और उसी की कान्ति निरन्तर चन्द्रमा में देदीप्यमान होती है। उसी की सुगंधि पाकर मलयानिल सुगन्धि का वितरण करती हुई बहती है। उसकी महिमा महान् है। उसी की कृपा के कण प्राप्त करके विशाल समुद्र गम्भीर गर्जना करता हुआ तरंगायित दिखाई देता है। वह बड़ा दयालु है और सबके मन-मन्दिर में बैठकर सबको विमुग्ध करता रहता है। उसी की सुगन्धि पाकर

---

१. **चित्राधार**, पृष्ठ ७२-७३।

२. **वसुंधरा अम्बु धनंजयादि में**
विहायसी पौन दिनेश आदि में
शशांक औ सज्जन में सुभावती
प्रभो, तिहारी सुखमा प्रभावती। —चित्राधार, पृष्ठ १३९-४०।

कमल अपनी गन्ध धारण करते हैं । वह हंस बनकर सबके मन रूपी सरोवरों में विलास करता है । वह पुण्य-जल से परिपूर्ण आनन्द की तरल तरंगों में सतत विहार करता है । उसकी कृपा से कल्पवृक्ष नित्य जगती को सुगन्धित पुष्प और नये-नये स्वच्छ फल प्रदान करते है । वह समस्त संसार का दया-सहित पालन करता है और सम्पूर्ण जगत् का स्वामी है ।[1] प्रसाद का यह दृढ़ विश्वास था कि वह आनन्दकन्द एवं जगद्वंद्य शिव ही विभु है, पुरारी है, आशुतोष है और उसी की विराट् सत्ता सर्वत्र विद्यमान है ।[2] वही शिव भ्राता, पिता और मित्र है, वही वेद और पुराण है, वही संसार है और वही संसार से मुक्त करने वाला है तथा उस चन्द्रभाल, चन्द्रनयन, त्रिनयन, गिरीश एवं जगदीश के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है ।[3]

प्रसाद के उक्त विचारों में दर्शन की अपेक्षा भक्ति-भावना की अधिक प्रबलता दिखाई देती है । प्रसाद ने अपने अग्रजन्मा कवियों, भक्तों एवं सन्तों की वाणियों का भी अच्छा अध्ययन किया था और उनके विचारों से प्रभावित होकर ही ईश्वर सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किये थे । इसी कारण प्रसाद ने शिव को जगत्पिता, जगत्पालक, जगत्संहारक आदि कहकर उनके सगुण रूप का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है, जो दार्शनिक विचारों की अपेक्षा शिव-भक्ति के रंग से अधिक रंजित प्रतीत होता है ।

प्रसाद के जीव-सम्बन्धी आरम्भिक विचार—जिस तरह प्रसाद ने भक्ति-भावना से ओतप्रोत होकर ब्रह्म या शिव सम्बन्धी विचार व्यक्त किए हैं और उन विचारों पर भक्तिकालीन सन्तों का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है, उसी तरह प्रसाद के जीव-सम्बन्धी विचार भी भक्तिकालीन सन्त-कवियों से अत्यधिक प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। इसी कारण जैसे भक्त-कवियों ने सांसारिक जीव की दयनीय स्थिति का चित्रण किया है, वैसे ही प्रसाद ने भी यही स्वीकार किया है कि यह जीव ऐसा मूढ़ मति है कि बार-बार भगवान् के चरण-कमल को भूलकर काम-क्रोध के सागर में दौड़कर प्रवेश करता है, इस मिथ्या जगत् के झूठे व्यक्तियों से स्नेह-सम्बन्ध जोड़ता है, सच्चिदानन्द से प्रेम नहीं करता तथा नाना प्रकार के कष्ट उठाता हुआ विकल एवं बेचैन बना रहता है ।[4] संसार में इस जीव की दशा यह है कि इसके मन को जो अच्छा लगता

---

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३ ।

२. **वही**, पृष्ठ १५५ ।

३. **भ्रातृ पितृ सुमित्र तुमही तुमहिं वेद पुरान,**
भव तुमहिं भवछिद तुमहि हौ तुमहिं एक न आन ।
चन्द्रभाल सुचन्द्रनैन त्रिनैन गिरिश गिरीश,
रक्ष रक्ष कृपालु पाहि दयाब्धि हे जगदीश !
—इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला २, सं० १९६७, पृष्ठ १-२ ।

४. **चित्राधार**, पृष्ठ १७९ ।

है उसी में लीन हो जाता है, उसी से प्रेम करने लगता है और नित्य नये-नये व्यक्तियों एवं पदार्थों के प्रेम में लीन होकर संसार में भटका करता है। जीव का मन-मधुकर कमल, मौलसिरी, मंदार जैसे सुगंधित फूलों पर मँडराता रहता है। इसे जहाँ सुगंधि मिलती है वहीं रम जाता है, जहाँ स्निग्धता देखता है वहीं फिसल जाता है, मनोरम सरिता को देखकर उसमें बहने लगता है, कुसुमित शाखा को देखकर सब कुछ भूल कर उसी के नीचे जा बैठता है और इस बात की चिन्ता नहीं करता कि इस शाखा पर काँटे भी लगे हैं, जिनमें इसका शरीर भी बिंध जाता है, किन्तु इन कष्टों की यह चिन्ता नहीं करता, जगत् के विविध दुःखदायी पदार्थों को सुखमय एवं आनन्ददायक मानकर उनसे प्रेम करता रहता है और इसका साहस तनिक भी कम नहीं होता।[1] इस प्रकार प्रसाद ने जीव की दयनीय स्थिति को देखकर उसे परमपिता परमात्मा के चरणों में अनुराग करने की सलाह दी है और कहा है कि जिस तरह भ्रमर कमल को देखकर उस पर मँडराने लगता है, उसी तरह जीव के मन को भगवान् के चरणों में जाकर लीन हो जाना चाहिए। न जाने यह मन वहाँ लीन क्यों नहीं होता ? अरे, उन चरण-कमलों से तो सतत सुख-मकरंद झड़ता रहता है, वहाँ कभी दुःख रूपी पाले का भय नहीं है और वहाँ आनन्द-सूर्य की किरणें सदैव प्रकाश करती रहती हैं। यह जीव तो मदमाता है, जो ऐसे विहार-स्थल को छोड़कर भी अन्यत्र रमण करने चला जाता है। भगवान् के चरण-कमल से तो ऐसा मकरन्द झड़ता रहता है, जिसका पान करके सारे सांसारिक दुःख दूर हो जाते हैं।[2] अतः जीव को चाहिए कि वह अपने मन को भगवान् की स्मृति-कुंज में लीन रखे। इस मन का उन चरणों से ऐसा प्रेम होना चाहिए जैसा मछली का जल से और चकोर का चन्द्रमा से प्रेम होता है। इसे सदैव उस परमात्मा की अलौकिक शोभा के सरोवर में स्नान करना चाहिए और हर्षपूर्वक उससे ऐसे मिले रहना चाहिए जैसे घनश्याम से दामिनी मिली रहती है।[3]

इस तरह प्रसाद ने भक्ति-भावना की प्रबलता के कारण ब्रह्म और जीव की पृथक्ता का ही उल्लेख किया है, क्योंकि भक्ति में द्वैत के बिना काम नहीं चलता और भगवान् के महत्व एवं जीव के लघुत्व का निरूपण करना पड़ता है। अतएव प्रसाद ने भी भक्तिकालीन संत-कवियों की तरह जीव के लघुत्व का चित्रण करते हुए भगवान् को कमल, जल, चन्द्र, घनश्याम आदि कहा है, तो जीव को क्रमशः मधुकर, मीन, चकोर, दामिनी आदि बतलाया है और सांसारिक विषमताओं एवं विभीषिकाओं में फँसे हुए जीव को भगवान् की शरण में जाकर आनन्द प्राप्त करने की सलाह दी है।

---

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १८४।
२. **वही**, पृष्ठ १८८।
३. **वही**, पृष्ठ १८९।

प्रसाद के जगत् सम्बन्धी आरम्भिक विचार—प्रसाद के ब्रह्म एवं जीव सम्बन्धी आरम्भिक विचारों पर जैसे भक्तकालीन कवियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही प्रसाद के तत्कालीन जगत् सम्बन्धी विचारों पर भी हिन्दी के भक्तिकालीन सन्तों का प्रभाव विद्यमान है। प्रायः सम्पूर्ण सन्तों एवं भक्त-कवियों ने संसार को मिथ्या एवं सारहीन कहा है। प्रसाद ने भी अपनी आरम्भिक वेला में संसार को मिथ्या ही कहा है और यहाँ के पदार्थों को टिकाऊ नहीं माना है।[१] इसे भवसागर कहा है, जहाँ सुख के स्थान पर प्रायः दुःख एवं मलिनता का ही निवास रहता है।[२] यहाँ का प्रेम भी स्थिर नहीं है। प्रायः यहाँ तीखी सुरा की तरह प्रेम की जो चाह उत्पन्न होती है, उसकी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि इस जगत् के प्रेम में धोखा, प्रवंचना एवं छल-कपट का ही प्राधान्य है। इस जगत् में एक प्रेमी अपने जिस प्रिय पात्र को जीवन की पहली गर्मी में हिमजल का पात्र समझता है, वह सब भ्रम है, धोखा है, प्रवंचना है और इससे कुमारी एवं कुमारों का सदैव विनाश होता है।[३] यह माना कि इस अनुपम सृष्टि का विकास विश्वेश्वर से हुआ है, वही सबको समान भाव से देखता हुआ यहाँ विराजमान है और उसी के अंगों की रमणीय शोभा इस विराट् संसार में दिखाई दे रही है[४], परन्तु इतना होते हुए भी यह जगत् मृगतृष्णा के समान जीवों को भ्रम में डालकर सदैव भरमाया करता है और यहाँ जो पदार्थ बालुका-कण के समान प्रायः चमकते हुए दिखाई देते हैं, वे भी कुछ ही दिनों में अपनी सारी चमक गँवाकर लुप्त हो जाते हैं।[५] अतएव यह जग मिथ्या एवं झूठा ही है[६], क्योंकि यह विविध प्रकार के आडम्बरों से युक्त होने के कारण बड़ा ही प्रपंचमय है और यह जगत् अपनी मनोहरता पर आप ही मुग्ध रहता है।[७] इसमें क्षण-क्षण पर नवीन परिवर्तन होते रहते हैं। इस विश्व रूपी यंत्र को बनाने वाला बड़ा ही स्वतन्त्र एवं निपुण है, क्योंकि उसने इसे ऐसा बनाया है, जिससे यह घड़ी-घड़ी, पल-पल पर नवीन-सा प्रतीत होता है। इसी नवीनता के कारण सभी प्राणी इसकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होते हैं, इसके पदार्थों को अधिक से अधिक अपनाने का प्रयत्न करते हैं और इसके सलौने रूप पर सदैव अनुरक्त दिखाई देते हैं। यदि इस जगत् को सुन्दर एवं सलौना नहीं बनाया जाता, तो मानव-समाज को यह संसार कुछ और ही प्रकार का भासित होता। उसे न इसके पदार्थों की अभिलाषा होती और न समाज, राज्य एवं धर्म के विशेष परिवर्तन-रूपी पट में इसकी मनोहर मूर्ति इतनी आकर्षक प्रतीत होती।[८] इसी से पता चलता है कि यह संसार बड़ा ही आडम्बर से परिपूर्ण है।[९] यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १०।
२. **चित्राधार** पृष्ठ १२।
३. **वही**, पृष्ठ १६।
४. **वही**, पृष्ठ ७२।
५. **वही**, पृष्ठ १७०।
६. **वही**, पृष्ठ १७६।
७. **छाया (कहानी-संग्रह)**, पृष्ठ ११६।
८. **छाया (कहानी-संग्रह)**, पृष्ठ ११३।
९. **वही**, पृष्ठ १२३।

है, क्योंकि यहाँ जिस मन्दिर में आज कपूर के दीपक जलते हुए दिखाई दे रहे हैं, कुछ ही दिनों में वहाँ तेल के भी दीपक नहीं जलते और वह महल आशा के विशद् कल्पना-मन्दिर की भाँति चूर-चूर हो जाता है। अतः यहाँ कुटिल काल के प्रभाव से कुछ भी स्थायी नहीं है।[1] यह जगत् बड़ा ही कुटिल एवं स्वार्थी है, यहाँ न तो कोई सच्चा स्नेही दिखाई देता है, और न कोई सच्चा मित्र ही मिलता है, जो दुःख के क्षणों में सहारा दे सके। यहाँ जो मित्रता दिखाते हैं, वे सब स्वार्थी हैं, मुँह पर तो बड़ी चिकनी-चुपड़ी बातें किया करते हैं, किन्तु वे सदैव पीठ-पीछे मूर्ख बनाने का ही प्रयत्न करते हैं। बड़े से बड़ा मित्र भी इस जगत् में काम पड़ने पर 'परिचित' ही रह जाता है। यहाँ पर प्रायः स्वार्थ, लोभ या प्रतिष्ठा के लिए लोग मित्र बना करते हे। सच्चे हितैषी जगत् में दिखाई नही देते। अतएव यह जगत् छल, प्रवंचना, स्वार्थ एवं लोभ से परिपूर्ण होने के कारण मिथ्या एवं सारहीन है।[2]

इस तरह प्रसाद ने जगत् की परम्परागत एवं रूढ़िगत विचारधारा को ही प्रश्रय देकर अपनी आरम्भिक रचनाओं में उसका उल्लेख किया है। प्रसाद की यह विचारधारा भारतीय संत-कवियों से पूर्णतया प्रभावित है। इसी कारण प्रसाद ने जगत् को शिव का स्वरूप मानते हुए भी स्थान-स्थान पर पहले मिथ्या, सारहीन, प्रपंचमय एवं आडम्बरपूर्ण बताया है।

(२) चिन्तन की विकसित अवस्था

प्रसाद के ब्रह्म सम्बन्धी विकसित विचार—अभी तक प्रसाद की ब्रह्म सम्बन्धी भावना केवल 'शिव' तक ही सीमित थी। वे शिव को ही जगत्पति, जगन्नियंता, जगदीश्वर, सर्वान्तर्यामी, परमेश्वर आदि मानते थे, किन्तु अब वे उस विराट् सत्ता को 'शिव' तक ही सीमित न करके अधिक विकसित एवं व्यापक रूप में देखने लगे। अब वे उस निरुपम, निर्मम एवं स्वस्थ व्यापक सत्ता में विश्वास करने लगे, जिसके मन्दिर का द्वार सबके लिए उन्मुक्त है, जिसके यहाँ राजा और रंक समान हैं, प्रकृति के समस्त वन-उपवन जिसके बगीचे हैं, जिसके मन्दिर में तारे, चन्द्र और सूर्य दीपक के रूप में प्रकाश करते है और जो नित्यप्रति सम्पूर्ण विश्व-गृहस्थ का पालन-पोषण करता है।[3] अब प्रसाद उस विराट् सत्ता को एक अद्भुत खिलाड़ी के रूप में देखने लगे, जो यहाँ पर विविध प्रकार की क्रीड़ायें किया करता है। वह कभी दक्षिण पवन बनकर उपवन की कलियों के साथ खेल करता है, कभी भ्रमर बनकर पुष्प-रस का आनन्द लेता है, कभी कोकिल के सुरीले स्वर में मधुर राग अलापता है, कभी प्रकृति को सहचरी बनाकर उसके साथ क्रीड़ायें करता है।[4] प्रसाद उस विराट् एवं सदनन्त सत्ता को प्रकृति से परे नहीं, अपितु परा-प्रकृति में विद्यमान मानते थे। उनका विश्वास था कि वह क्रीड़ा करने वाली विश्वात्मा इस विश्व में चेतन की चित्कला के

१. **प्रेम-पथिक,** पृष्ठ ३।
२. **प्रेम-पथिक,** पृष्ठ ९-१०।
३. **कानन-कुसुम,** पृष्ठ ४।
४. **कानन कुसुम,** पृष्ठ १०-११।

रूप में सदैव विद्यमान रहती है, उसकी महत्ता आकाश में ओतप्रोत है, वह चेतन स्वरूप है, स्वानुभूति का साक्षी है, विश्व-शरीरी है, उसकी प्रभुता सर्वत्र छायी हुई है, वही अणु-अणु में स्वभावानुकूल गति-विधि का निर्धारण करता है, वही जगत् के समस्त नवल सम्बन्ध-सूत्रों का जोड़ने वाला है, वही विज्ञान-स्वरूप है और सम्पूर्ण ज्ञानों का आधार है।[1] प्रसाद का यह विश्वास दृढ़ होता चला जा रहा था कि वह विश्वात्मा विविध प्रकार की उत्थान-पतन-मयी लीलायें करता हुआ भी सृष्टि का सदैव कल्याण किया करता है। उसके रहस्य को हम सब नहीं जानते, इसी कारण कभी-कभी हम उसकी लीला को समझ नहीं पाते, अन्यथा वह तो अप्रत्याशित एवं अप्रकटित रूप में सदैव विश्व का कल्याण ही किया करता है और विश्व-कल्याण करके वह अपनी लीला करने की इच्छा पूरी किया करता है।[2] वह विविध वेश धारण करके इस विश्व में प्रकट होता है और विश्व का सौन्दर्य उसी का सौन्दर्य है, क्योंकि विश्वात्मा ही सर्वत्र बिखरा हुआ है और वह सुन्दरतम है।[3] उस विराट् सत्ता को विश्वात्मा के रूप में देखने का परिणाम यह हुआ कि प्रसाद को पपीहा की 'पी-पी' ध्वनि में उस विश्वात्मा की पुकार सुनाई देने लगी[4], विकसित कुसुमों में उसकी मुस्कान का दर्शन होने लगा, मुकुलों में अनुपम मकरन्द के रूप मे उसकी सत्ता प्रतीत होने लगी, मलयानिल में उसी की मृदुता का अनुभव होने लगा, उषा में उसकी माधुरी दिखाई देने लगी और शीतकाल की धूप में उसका आनन्ददायी गर्म स्पर्श ज्ञात होने लगा।[5]

अब प्रसाद बहिर्मुखी की अपेक्षा शनैः शनैः अन्तर्मुखी होते चले जा रहे थे, क्योंकि अभी तक उन्हें विश्व के बाह्य पदार्थों में ही उस विश्वात्मा का दर्शन होता था, किन्तु अब वे उस सत्ता को समस्त चेतन-अचेतन के अन्तर्गत भी देखने लगे थे। अब उन्हें वह विश्वात्मा अपने हृदय में ही विद्यमान दिखाई देने लगी थी और वे उसे 'शान्त रत्नाकर का नाविक' एवं 'गुप्त निधियों का यक्ष' मानने लगे थे। साथ ही वे उस व्यक्ति पर बरस पड़ते थे, जो उस व्यापक विश्वात्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करता था और नास्तिकों के समान उनके सम्मुख बातें करता था।[6] प्रसाद तो स्पष्ट कहा करते थे कि वह है अथवा नहीं है—इस प्रकार के विचित्र प्रश्न करने ही नहीं चाहिए, क्योंकि वह तो सम्पूर्ण विश्व के रूप में हम सबकी आँखों के सामने सदैव विद्यमान रहता है। वह तो आनन्दस्वरूप है। उसे इस विश्व को छोड़कर अन्यत्र कहीं खोजने की आवश्यकता नही है।[7] प्रसाद तो इसी विश्व के उस व्यक्ति तक को भगवान् मानने के लिए तैयार थे, जो अनन्त करुणामय हो, जो विश्व-वेदना का सुख

१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६४।
२. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २३।
३. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५।
४. **झरना**, पृष्ठ ३५।
५. **झरना**, पृष्ठ ५०।
६. **झरना**, पृष्ठ ६२।
७. **विशाख**, पृष्ठ ३१।

से आह्वान करता हो तथा जिसे तृण से लेकर पशु-पक्षी एवं मनुष्य-पर्यन्त सम सत्ता की प्रतीति होती हो।[1] प्रसाद अब इस विराट् विश्व में व्याप्त उस करुणामय को अनन्त करुणा का दर्शन करने लगे थे, जो प्राणिमात्र को समदृष्टि प्रदान करती है, जो गोधूली के राग-पटल में अपना स्नेहांचल नित्य फहराया करती है, जिसका हास-विलास स्निग्ध उषा के मुख पर नित्य शुभ्र गगन में दिखाई देता है, जो मुग्ध एवं मधुर शिशु के मुख पर चन्द्र-क्रान्ति के तुल्य झलकती हुई दिखाई देती है, जो निर्निमेष ताराओं से ओस-बिन्दु के रूप में झड़ा करती है, जो निष्ठुर पशुओं को भी अपने वश में कर लेती है तथा जिसके द्वारा मानव का महत्त्व सारे विश्व में फैल जाता है।[2]

अब प्रसाद उस विश्वात्मा को एक बिम्ब के रूप में मानने लगे थे और उनका यह विश्वास था कि उसी बिम्ब के प्रतिबिम्ब रूप में यह जगत् अभिव्यक्त हो रहा है, क्योंकि उसी अनन्त सौन्दर्यशाली विभु एवं विराट् का ही सौन्दर्य इस जगत् में दृष्टि-गोचर होता है। उसी की छवि का प्रतिबिम्ब पूर्णिमा में दिखाई देता है, क्योंकि उसी की प्रतिच्छाया ज्योत्स्ना का सागर बनकर चमकती है। वह कौतुकी 'छायानट' है, अपनी छवि के पर्दे में छिपकर सम्मोहन वेणु बजाया करता है तथा संध्या के कुहुक भरे अंचल में छिपे-छिपे इस जगत् में नाना प्रकार के कौतुक करता रहता है।[3] वही इस विराट् विश्व के रूप में सर्वत्र फैला हुआ है। वही सुन्दर परछाईं के समान हम सब में खेल कर रहा है। वही छिपकर हम सबको आकार प्रदान करता है। जिसकी सत्ता का अनुभव हमें 'अहमिति' के द्वारा होता है और 'तत्वमसि' के रूप में वही वेद-ध्वनि कर रहा है।[4] वह तो केवल आलोक रूप है। रात को जब वह झँझरी-दार पर्दा खींच लेता है तब कहीं-कहीं से तारों के रूप में उसी का आलोक दृष्टि-गोचर होता है।[5] वह अनन्त शक्तिशाली है और उसकी अनेक शक्तियाँ हैं, जिनमें 'नियति' भी उसी की एक शक्ति है, जो इस विश्व में नित्य एक नटी की तरह नाचती हुई कन्दुक-क्रीड़ा-सी करती रहती है और अपनी इस क्रीड़ा से इस विश्व के आँगन में अपने अतृप्त मन को तृप्ति प्रदान किया करती है।[6] प्रसाद इस नियति में बड़ा विश्वास रखते थे और इसी के बल पर वे निश्चित होकर निर्भयतापूर्वक कार्य किया करते थे। माता-पिता, बन्धु-बांधवों से वंचित हो जाने पर प्रसाद के लिए नियति के अतिरिक्त और कोई सहारा भी नहीं रहा था। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि "दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीड़ा-कन्दुक हैं। अन्ध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्म-शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है और ऐसी ही क्रान्ति के समय विराट् का वर्गीकरण होता है।"[7] प्रसाद इस नियनि को

---

१. **विशाख**, पृष्ठ ६३। २. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ३०।
३. **आँसू**, पृष्ठ ३३। ४. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०९।
५. **कामना**, पृष्ठ ११। ६. **आँसू**, पृष्ठ ५१।
७. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३।

उस विराट् की नियामिका शक्ति मानते थे, जो विश्व का नियमन करने के लिए कभी दम्भ का दमन करती है, तो कभी किसी के मार्ग में रुकावट उत्पन्न किया करती है। इसीलिए उनकी दृढ धारणा बन गई थी कि वही 'परमात्म शक्ति सदा उत्थान का पतन और पतन का उत्थान किया करती है। इसी का नाम है दम्भ-दमन। स्वयं प्रकृति की नियामिका शक्ति कृत्रिम स्वार्थ-सिद्धि में रुकावट उत्पन्न करती है।'[1] इसी कारण प्रसाद मनुष्य को प्रकृति का अनुचर और नियति का दास मानते थे और उनका दृढ़ विश्वास था कि 'अदृष्ट की लिपि ही सब कुछ करती है।'[2]

इस प्रकार प्रसाद उस व्यापक एवं विराट् शक्ति स्वरूप ब्रह्म में विश्वास करने लगे थे, जो विश्व के नाना रूपों में सदैव अभिव्यक्त होता है, सारा विश्व जिसका प्रतिबिम्ब है और जो अनन्त आलोकमय, असीम करुणामय एवं अपार सौंदर्यशाली है तथा अणु-अणु एवं कण-कण में जिसका साक्षात्कार किया जा सकता है। वह ब्रह्म विश्व के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है, किन्तु अदृश्य रूप में नाना क्रीड़ायें करता हुआ वह इस जगती के सारे कार्यों का संचालन करता है। उसकी इस संचालिका शक्ति का नाम नियति है, जो सदैव विश्व के कल्याण-हेतु उत्थान एवं पतन करती रहती है।

प्रसाद के जीव सम्बन्धी विकसित विचार—प्रसाद का विश्वास था कि जब विराट् ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, तब वह जीव के अन्तर्गत भी विद्यमान है, किन्तु वह ब्रह्म तो सभी प्रकार के भेद-भाव से रहित है, द्वन्द्वों से परे है और किसी प्रकार के बन्धनों में न बँधकर देश-काल की अवधि से भी सर्वथा परे है, परन्तु यह जीव नाना प्रकार के भेद-भावों एवं बन्धनों में जकड़ा हुआ है। इसे 'अहमिति' का स्वार्थ सीमित किए हुए है। इसीलिए यह नाना प्रकार के द्वन्द्वों का विष पान करता रहता है। इसी कारण प्रसाद ने जीव के उद्धार हेतु सलाह देते हुए लिखा है कि 'अरे जीव ! तू सम्पूर्ण बाधाओं, भेद-भावों एवं बन्धनों को तोड़ डाल, इस 'अहमिति' के स्वार्थ को भूल जा और द्वन्द्वों के विष का पान करना छोड़कर अपने जीवन-घट में सुधा भर ले,[3] फिर न तुझे किसी प्रार्थना की आवश्यकता है और न तपस्या की, तेरी सभी कामनायें पूर्ण हो सकती हैं और तू उसी ब्रह्मरूप को प्राप्त हो सकता है। परन्तु जीव ऐसा कर कहाँ पाता है ? इसकी दशा तो उस फूल के समान है, जो संसार की जरा सी हवा लगते ही कली के रूप में न रहकर रस-लोभी भौरों के लिए विकसित होता है और उन भौरों के लिए अपनी मधुर गंध, स्वच्छ कुसुम-रस आदि सर्वस्व यहीं पर न्यौछावर कर देता है। परन्तु यह विकास अधिक दिन नहीं रहता, उसकी पंखुड़ियाँ सूख जाती हैं और सारा सौन्दर्य यहीं नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।[4]

जीव के हृदय में सांसारिक पदार्थों के प्रति पूर्ण वैराग्य की भावना उस

---

१. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३। २. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४३, ४४।
३. **झरना**, पृष्ठ ६४। ४. **झरना**, पृष्ठ ८०।

समय जाग्रत होती है, जिस समय इसका चित्त संसार के विविध सुखों को भोग कर उनसे उपराम हो जाता है।[1] किन्तु जीव संसार के जिस मायाजाल में फँसकर इन सुखों की ओर दौड़ता है, वह मायाजाल भी तो उसी परम ब्रह्म द्वारा उत्पन्न किया हुआ है। इसीलिए प्रसाद पुकार उठे हैं—'भगवन् ! तुमने चिरकाल से मनुष्य को किस मायाजाल में उलझाया है ! वह अपनी पाशववृत्ति के वशीभूत होकर उपद्रव कर ही बैठता है—सब समझदारी, सारा ज्ञान, समस्त क्रमागत उच्च सिद्धान्त बुल्लों के समान विलीन हो जाते हैं; और उठने लगती हैं भयानक तरंगें।'[2] जीव को यह माया इस तरह ग्रसित कर लेती है और माया के भौतिक स्वरूप इन स्वर्ण और रत्नों का आँखों पर ऐसा रंग छा जाता है कि मनुष्य अपना अस्थि-चर्म का शरीर तक नहीं देख पाता।[3] इतना ही नहीं, यह माया छलना का रूप धारण करके जीव को इस तरह छल लेती है कि उस छलना में ही यह जीव पूर्ण विश्वास करने लगता है और उस माया की छाया में उसे सत्य का सा आभास मिलने लगता है।[4] संसार में इस माया-ग्रस्त जीव की यह दशा है कि वह जब एक बार पाप के नागपाश में फँसता है, तब वह उसी में और भी लिपटता जाता है। उसी के गाढ़े आलिंगन, भयानक परिरम्भ में सुखी होने लगता है। पापों की शृंखला बन जाती है। उसी के नए-नए रूपों पर आसक्त होना पड़ता है।'[5]

इस प्रकार विविध बंधनों, पापों एवं बाधाओं में ग्रस्त जीव यहाँ नाना प्रकार के कष्ट झेलता रहता है। वैसे जीव ब्रह्म ही है। वह भी बंधन से पूर्व पूर्णतः स्वच्छ था और उसमें कोई विकृति न थी, परन्तु जब से जीव अपने जीवन को उस विराट् ब्रह्म से पृथक् मानना आरम्भ कर देता है, तभी से उसे यहाँ नाना प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं, अन्यथा जीव तो पूर्णतया स्वामी है, स्वच्छ है, निर्मल है और उसी लीलामय की लीलायें करने के लिए स्वरूप धारण करता है। वह न कहीं आता है और न कहीं जाता है।[6] यह जीवात्मा पूर्णतः शुद्ध-बुद्ध है। केवल संसार की कलुषित छाया ही इसे कालुष्यपूर्ण बना देती है। इसी कारण प्रसाद ने 'दुखिया' कहानी में लिखा भी है—"मनुष्य इतना पतित कभी न होता, यदि समाज उसे न बना देता।…………ओह, हम विद्वेष करके इतने क्रूर बना दिये गये हैं, हमें लोगों ने बुरा बना दिया है। अपने स्वार्थ के लिए हम कदापि इतने दुष्ट नहीं हो सकते थे। हमारी शुद्ध आत्मा में किसने विष मिला दिया है, कलुषित कर दिया है। किसने कपट, चातुरी, प्रवंचना सिखायी है। इसी पैशाचिक समाज ने। इसे छोड़ना होगा।"[7] किन्तु इस समाज को या संसार को छोड़कर जीव जायेगा कहाँ ? प्रसाद का तो

१. **विशाख**, पृष्ठ ३६।
२. **विशाख**, पृष्ठ ८८।
३. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४०।
४. **आँसू**, पृष्ठ २४।
५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ५९।
६. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४७-४८।
७. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ६४।

विश्वास था कि जीव को यहाँ उसी ब्रह्म ने अपनी क्रीड़ा के लिए निर्मित किया है। उस परमपिता ने खेल के लिए ही सम्पूर्ण जीवात्माओं को जगत् में भेजा है और वह अपनी सन्तानों का खेल एक बड़े छिद्र से देखा करता है।[१] परन्तु ये जीवात्मायें विवेकहीन होकर, क्षुद्र स्वार्थों में लीन होकर तथा जगत् के विविध तुच्छ विलासों में ग्रस्त होकर अपनी पवित्रता खो देती हैं, उनमें सुख भाग की अनन्त लालसा जग जाती है और वे अपने वास्तविक जीवन को छोड़कर कृत्रिमता में फँस जाती है तथा फिर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पातीं।[२]

प्रसाद के जगत् सम्बन्धी विकसित विचार—इससे पूर्व प्रसाद अन्य सन्त कवियों एवं भक्तों से प्रभावित होकर इस जगत् को मिथ्या एवं झूठ मानते थे, किन्तु अब प्रसाद इस जगत् को विश्वात्मा का रूप मानने के कारण पूर्ण सत्य, स्वर्गस्वरूप एवं पुण्य घोष मानने लगे थे।[३] प्रसाद का यह दृढ़ विश्वास होता जा रहा था कि इस जगत् में पतझड़ और बसन्त दोनों मिले हुए है।[४] यह जगत् क्षण-क्षण पर परिवर्तित होता रहता है, क्योंकि यहाँ प्रकृति क्षण-क्षण पर अपने रूप बदलती रहती है और चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारा, अनिल, अनल आदि सभी चंचल हैं।[५] यहाँ के अणु-परमाणु, सुख-दुःख सभी चंचल हैं, सारे सुख-साधन भी क्षणिक हैं और सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ भी नश्वर हैं। अतएव इस जगत् के सुखों को स्थायी कहना महा भूल है और इस सीठी जैसे निस्सार संसार में तनिक भी सार नहीं है।[६] इतना ही नहीं, प्रसाद जीवन को क्षणभंगुर भी मानने लगे थे।[७] परन्तु इसका मूल कारण यह था कि 'अजातशत्रु' नाटक को रचना करते समय प्रसाद पर बौद्ध धर्म के दार्शनिक विचारों का गहरा प्रभाव था और बौद्ध-दर्शन में संसार एवं जोवन को क्षणिक माना गया है। परन्तु प्रसाद की यह मूल विचारधारा न थी। प्रसाद की मूल विचारधारा तो 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक में विद्यमान है, जहाँ वे इस जीवन और जगत् की सत्यता का उद्घोष करते हुए कहते हैं—'उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती, और न उसका चेतनमय स्वभाव उससे भिन्न होता है। वही एक 'अद्वैत' है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा।'[८] प्रसाद के उक्त कथन में जड़ और चेतन, जगत् और ब्रह्म की एकरूपता एवं अभेदता के साथ-साथ जगत् की पूर्णतः सत्यता के विचार स्पष्ट व्यक्त हुए हैं। प्रसाद इस विश्व को परमात्मा का कार्यमय शरीर मानते थे[९] और उनका विश्वास था कि 'चन्द्र-सूर्य, शीतल-उष्ण,

---

१. **कामना**, पृष्ठ ११।
२. **कामना**, पृष्ठ २५-२६।
३. **विशाख**, पृष्ठ ३१।
४. **झरना**, पृष्ठ ७७।
५. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४८।
६. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४८-४९।
७. **वही**, पृष्ठ २८।
८. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२-१३।
९. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १४।

क्रोध-करुणा, द्वेष-स्नेह का द्वन्द्व संसार का मनोहर दृश्य है।'[1] यहाँ भयंकर विप्लव होते हैं। प्रकृति से विद्रोह करके नये साधनों के लिए प्रयास होता है। अन्धी जनता अँधेरे में दौड़ लगाती है। यहाँ इतनी छीना-झपटी, इतना स्वार्थ-साधन है कि लोग सहज-प्राप्य अन्तरात्मा की सुख-शान्ति को भी खो बैठते हैं। भाई-भाई से लड़ता है, पुत्र पिता से विद्रोह करता है, स्त्रियाँ पतियों पर प्रेम नहीं किन्तु शासन करना चाहती हैं और मनुष्य, मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्र-कला को प्रधान गुण समझता है।[2] फिर भी यह विश्व उस विराट् विश्वात्मा का ही स्वरूप है। जिस समय इस विराट् विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि, सबको एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा विस्मृत हो जाती है, होने लगता है विषमता का विषमय द्वन्द्व; तब सिवाय हाहाकार और रुदन के क्या फैलेगा?[3] इसीलिए प्रसाद ने इस भौतिक हलचल एवं जीवन की विषमताओं, द्वन्द्वों की विभीषिकाओं से बचने के लिए ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत् एवं जीव और जगत् की एकता एवं अभेद पर बल दिया है और लिखा है—'आत्म-प्रतारको! उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट् विश्व, जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करेगा।'[4]

इस प्रकार प्रसाद ने अपने स्वच्छन्द एवं स्वतंत्र विचारों का उद्घाटन करते हुए ब्रह्म को अनन्त, असीम एवं सर्वव्यापक सिद्ध किया है, सम्पूर्ण जीवों में उसी एक ब्रह्म का विकास सिद्ध करते हुए ब्रह्म एवं जीव की एकरूपता स्थापित की है, जीव को ब्रह्म की लीला करने के लिए ही अवतीर्ण होता हुआ सिद्ध किया है तथा जड़ और चेतन में उसी एक चेतन की सत्ता बताते हुए जगत् और ब्रह्म की अभिन्नता एवं एकरूपता भी सिद्ध की है। इतना अवश्य है कि इस काल में प्रसाद ने जगत् को परिवर्तनशील के साथ-साथ नश्वर भी कहा है। यह विचार केवल बौद्ध दर्शन को 'अजातशत्रु' नाटक में अंकित करने के कारण व्यक्त हुआ है और इसी कारण प्रसाद के ये दार्शनिक विचार उनकी स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द मनोवृत्ति के परिचायक हैं, किन्तु आगे चलकर प्रसाद के जगत् सम्बन्धी विचार पूर्णतया स्थिर हो गये और वे इस नवनवोन्मेषशाली एवं परिवर्तनशील जगत् को सर्वदा सत्य मानने लगे।

(३) चिन्तन की प्रौढ़ावस्था

प्रसाद के ब्रह्म सम्बन्धी प्रौढ़ विचार—प्रसाद अब निश्चित रूप से उस विराट् ब्रह्म को नयन, मन, जल, थल, मारुत, व्योम आदि में सर्वत्र व्याप्त मानने लगे थे और उनका दृढ़ विश्वास हो गया था कि वही ब्रह्म हमारी धमनी के अन्तर्गत

---

१. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १२७।
२. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ११३।
३. **कामना**, पृष्ठ ९८।
४. **कामना**, पृष्ठ ९८।

विश्वास था कि जीव को यहाँ उसी ब्रह्म ने अपनी क्रीड़ा के लिए निर्मित किया है। उस परमपिता ने खेल के लिए ही सम्पूर्ण जीवात्माओं को जगत् में भेजा है और वह अपनी सन्तानों का खेल एक बड़े छिद्र से देखा करता है।[१] परन्तु ये जीवात्मायें विवेकहीन होकर, क्षुद्र स्वार्थों में लीन होकर तथा जगत् के विविध तुच्छ विलासों में ग्रस्त होकर अपनी पवित्रता खो देती हैं, उनमें सुख भाग की अनन्त लालसा जग जाती है और वे अपने वास्तविक जीवन को छोड़कर कृत्रिमता में फँस जाती है तथा फिर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पातीं।[२]

प्रसाद के जगत् सम्बन्धी विकसित विचार—इससे पूर्व प्रसाद अन्य सन्त कवियों एवं भक्तों से प्रभावित होकर इस जगत् को मिथ्या एवं झूठ मानते थे, किन्तु अब प्रसाद इस जगत् को विश्वात्मा का रूप मानने के कारण पूर्ण सत्य, स्वर्गस्वरूप एवं पुण्य घोष मानने लगे थे।[३] प्रसाद का यह दृढ़ विश्वास होता जा रहा था कि इस जगत् में पतझड़ और बसन्त दोनों मिले हुए हैं।[४] 'यह जगत् क्षण-क्षण पर परिवर्तित होता रहता है, क्योंकि यहाँ प्रकृति क्षण-क्षण पर अपने रूप बदलती रहती है और चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारा, अनिल, अनल आदि सभी चंचल हैं।'[५] यहाँ के अणु-परमाणु, सुख-दुःख सभी चंचल हैं, सारे सुख-साधन भी क्षणिक हैं और सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ भी नश्वर हैं। अतएव इस जगत् के सुखों को स्थायी कहना महा भूल है और इस सीठी जैसे निस्सार संसार में तनिक भी सार नहीं है।[६] इतना ही नहीं, प्रसाद जीवन को क्षणभंगुर भी मानने लगे थे।[७] परन्तु इसका मूल कारण यह था कि 'अजातशत्रु' नाटक की रचना करते समय प्रसाद पर बौद्ध धर्म के दार्शनिक विचारों का गहरा प्रभाव था और बौद्ध-दर्शन में संसार एवं जीवन को क्षणिक माना गया है। परन्तु प्रसाद की यह मूल विचारधारा न थी। प्रसाद की मूल विचारधारा तो 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक में विद्यमान है, जहाँ वे इस जीवन और जगत् की सत्यता का उद्घोष करते हुए कहते हैं—'उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती, और न उसका चेतनमय स्वभाव उससे भिन्न होता है। वही एक 'अद्वैत' है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा।'[८] प्रसाद के उक्त कथन में जड़ और चेतन, जगत् और ब्रह्म की एकरूपता एवं अभेदता के साथ-साथ जगत् की पूर्णतः सत्यता के विचार स्पष्ट व्यक्त हुए हैं। प्रसाद इस विश्व को परमात्मा का कार्यमय शरीर मानते थे[९] और उनका विश्वास था कि 'चन्द्र-सूर्य, शीतल-उष्ण,

---

१. **कामना**, पृष्ठ ११।
२. **कामना**, पृष्ठ २५-२६।
३. **विशाख**, पृष्ठ ३१।
४. **झरना**, पृष्ठ ७७।
५. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४८।
६. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४८-४९।
७. **वही**, पृष्ठ २८।
८. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२-१३।
९. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १४।

क्रोध-करुणा, द्वेष-स्नेह का द्वन्द्व संसार का मनोहर दृश्य है।'[1] यहाँ भयंकर विप्लव होते हैं। प्रकृति से विद्रोह करके नये साधनों के लिए प्रयास होता है। अन्धी जनता अँधेरे में दौड़ लगाती है। यहाँ इतनी छीना-झपटी, इतना स्वार्थ-साधन है कि लोग सहज-प्राप्य अन्तरात्मा की सुख-शान्ति को भी खो बैठते हैं। भाई-भाई से लड़ता है, पुत्र पिता से विद्रोह करता है, स्त्रियाँ पतियों पर प्रेम नहीं किन्तु शासन करना चाहती हैं और मनुष्य, मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्र-कला को प्रधान गुण समझता है।[2] फिर भी यह विश्व उस विराट् विश्वात्मा का ही स्वरूप है। जिस समय इस विराट् विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि, सबको एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा विस्मृत हो जाती है, होने लगता है विषमता का विषमय द्वन्द्व; तब सिवाय हाहाकार और रुदन के क्या फैलेगा ?[3] इसीलिए प्रसाद ने इस भौतिक हलचल एवं जीवन की विषमताओं, द्वन्द्वों की विभीषिकाओं से बचने के लिए ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत् एवं जीव और जगत् की एकता एवं अभेद पर बल दिया है और लिखा है—'आत्म-प्रतारको ! उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासको का भेद विलीन होकर विराट् विश्व, जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करेगा।'[4]

इस प्रकार प्रसाद ने अपने स्वच्छन्द एवं स्वतंत्र विचारों का उद्घाटन करते हुए ब्रह्म को अनन्त, असीम एवं सर्वव्यापक सिद्ध किया है, सम्पूर्ण जीवों में उसी एक ब्रह्म का विकास सिद्ध करते हुए ब्रह्म एवं जीव की एकरूपता स्थापित की है, जीव को ब्रह्म की लीला करने के लिए ही अवतीर्ण होता हुआ सिद्ध किया है तथा जड़ और चेतन में उसी एक चेतन की सत्ता बताते हुए जगत् और ब्रह्म की अभिन्नता एवं एकरूपता भी सिद्ध की है। इतना अवश्य है कि इस काल में प्रसाद ने जगत् को परिवर्तनशील के साथ-साथ नश्वर भी कहा है। यह विचार केवल बौद्ध दर्शन को 'अजातशत्रु' नाटक में अंकित करने के कारण व्यक्त हुआ है और इसी कारण प्रसाद के ये दार्शनिक विचार उनकी स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द मनोवृत्ति के परिचायक हैं, किन्तु आगे चलकर प्रसाद के जगत् सम्बन्धी विचार पूर्णतया स्थिर हो गये और वे इस नवनवोन्मेषशाली एवं परिवर्तनशील जगत् को सर्वदा सत्य मानने लगे।

(३) चिन्तन की प्रौढ़ावस्था

प्रसाद के ब्रह्म सम्बन्धी प्रौढ़ विचार—प्रसाद अब निश्चित रूप से उस विराट् ब्रह्म को नयन, मन, जल, थल, मारुत, व्योम आदि में सर्वत्र व्याप्त मानने लगे थे और उनका दृढ़ विश्वास हो गया था कि वही ब्रह्म हमारी धमनी के अन्तर्गत

१. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १२७।
२. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ११३।
३. **कामना**, पृष्ठ ९८।
४. **कामना**, पृष्ठ ९८।

प्राण के रूप में भी विद्यमान है तथा धूप-छाँह की भाँति नित्य खेल खेलता रहता है।[1] वह एक अटल अदृष्ट का नियामक है, सर्वशक्तिमान है और दया का अभेद्य कवच पहनकर सदैव प्राणियों की रक्षा करता है।[2] उसी की विभूतियाँ सपूम्र्ण जगत् में फैली हुई हैं, जिन्हें समाज ने बाँट लिया है।[3] वह अत्यन्त क्षमाशील है और निकृष्ट पापी भी यदि उसकी शरण में आ जाता है, तो वह उसे क्षमा कर देता है। क्षमा ही उसकी सत्ता है, महत्ता है और सम्भव है सबको क्षमा करने के लिए ही वह महाप्रलय करता है।[4] वह अनन्त सौन्दर्यशाली है। उसका सौन्दर्य मदिरा की तरह नशीला, चाँदनी-सा उज्ज्वल, तरंगों-सा यौवनपूर्ण और अपनी हँसी-सा निर्मल है। उसकी अपांग-धारा में हलाहल भरा हुआ है और उन संकेतों में मरण और जीवन का रहस्य छिपा रहता है। उसका सौन्दर्य चिरविकासमय है और उसका सौरभ दिगन्त-व्यापी है। इसी कारण वह कुँजों में, फूलों के झुरमुट में कभी छिप नहीं पाता।[5] वह महाचिति स्वरूप है और आनन्दपूर्वक विविध लीलायें करने के लिए ही इस जगत् के रूप में अभिव्यक्त होता है।[6] वह अनन्त रमणीय, अनन्त शक्तिसम्पन्न, विराट् एवं विश्वदेव है, उसकी सत्ता सभी नतमस्तक होकर स्वीकार करते हैं, उसी के रस से सिंचित होकर तृण और वीरुध लहलहाते हैं और उसी से ग्रह, नक्षत्र एवं विद्युत्कण अन्तरिक्ष में देदीप्यमान होते हैं।[7] उसकी भ्रकुटि की तनिक सी भंगिमा से प्रलय मच जाती है और सविता, पूषा, सोम, मरुत, पवमान, वरुण आदि उसी के शासन में रहकर निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं।[8]

वही मंगलकारी शिव है और वही पापियों एवं अपराधियों से प्रतिशोध लेने के लिए रुद्र बन जाता है तथा उसके 'अजगव' पर तुरन्त शिंजिनी चढ़ जाती है। इतना ही नहीं, वह संहार करने के लिए तुरन्त ताण्डव नृत्य करने लगता है। उसके ताण्डव नृत्य से सम्पूर्ण प्रकृति त्रस्त हो उठती है और यह भूत सृष्टि विनष्ट होने लगती है।[9] उसके भयंकर नाराच धूमकेतु की तरह अपनी पूँछ में अत्यन्त प्रलयंकर ज्वाला लिए हुए दौड़ने लगते हैं।[10] वह संहार और सृजन दोनों कार्यों के लिए अपना तांडव नृत्य करता है। जिस समय सृजन के लिए उसका आनन्दपूर्ण तांडव नृत्य होता है, उस समय उसके शरीर से जो पसीने की उज्ज्वल बूँदें गिरती हैं, उन्हीं से तारागण, चन्द्रमा, सूर्य आदि का निर्माण होता है और संहारकारी नृत्य करते समय उसके चरणों की चाप से भूधर तक धूलि के कण बनकर उड़ने लगते हैं[11], असंख्य ब्रह्माण्ड

---

१. **स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य**, पृष्ठ ४७।
२. **स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य**, पृष्ठ ६८।
३. **कङ्काल**, पृष्ठ २८२।
४. **कंकाल**, पृष्ठ २९२।
५. **इन्द्रजाल**, पृष्ठ ४१।
६. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।
७. **कामायनी**, पृष्ठ २६।
८. **वही**, पृष्ठ २५।
९. **वही**, पृष्ठ १८५।
१०. **वही**, पृष्ठ २०२।
११. **वही**, पृष्ठ २५३।

बिखर जाते हैं, चेतन परमाणु विभक्त हो जाते हैं और क्षणभर में सब उसी में विलीन हो जाते हैं। उसका विद्युत्-कटाक्ष जिधर चला जाता है, उधर ही संसृति काँपने लगती है; यह विश्व महान् झूले पर झूलने लगता है और परिवर्तन का पर्दा खुल जाता है। उस शक्ति-शरीरी के प्रकाश से सम्पूर्ण शाप-पाप विनष्ट हो जाते हैं, प्रकृति गल-गलकर तथा उस कान्ति-सिंधु में घुलमिल कर कमनीय रूप धारण करने लगती है और भीषणतर भी सुन्दर बन जाता है। उसके उल्लसित हिम-धवल-हास के द्वारा हीरक गिरि पर विद्युत् विलास-सा होता हुआ दृष्टिगोचर होता है।[१] उसके ताण्डव-नृत्य को कोई रोक नहीं सकता। 'विश्व की सम्पूर्ण शक्ति उस शक्तिनाथ की विभूति का एक कण मात्र है। बड़े-बड़े साम्राज्य और सम्राट् उसकी एक दृष्टि में नष्ट हो जाते हैं।'[२] वह सर्वशक्तिमती शाश्वत सत्ता है। उसका कार्य सृजन एवं संहार तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह पंचकृत्यकारी है। इसीलिए वह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह की नित्य पाँच लीलायें करता रहता है।[३] उसकी चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, नियति आदि अनेक शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों में से जगत् का नियन्त्रण करने वाली शक्ति का नाम 'नियति' है, जो सूची-भेद्य अन्धकार में छिपने वाली रहस्यमयी प्रज्वलित कठोर शक्ति है।[४]

इस प्रकार प्रसाद ने उस अनन्त-शक्ति-सम्पन्न व्यापक-विराट् ब्रह्म को शिव के रूप में कल्याण करने वाला, रुद्र के रूप में भयंकर कार्य करने वाला तथा शुद्ध चेतन के रूप में निरन्तर पंचकृत्यों से सम्पन्न होकर इसी जगत् में आनन्दमयी लीलायें करने वाला घोषित किया है। जगत् की सम्पूर्ण शक्ति उसकी विभूति का एक कण है। वह अनन्त शक्ति-सम्पन्न है, किन्तु जगत् का नियमन वह अपनी नियति-शक्ति द्वारा करता है। यद्यपि नियति को कठोर एवं निर्दय कहा जाता है, तथापि वह मंगलमयी है, क्योंकि अपने क्रूर एवं कठोर कार्यों द्वारा भी वह जगत् का कल्याण ही किया करती है। सृष्टि का सारा सौन्दर्य उसी चेतना का सौन्दर्य है। वह चिति या चेतना-शक्ति विश्व में व्याप्त है और स्वेच्छा से ही अपनी लीला के लिए इस विश्व का उन्मीलन करती है। अतएव प्रसाद ने अभी तक उस विराट् शक्ति-सम्पन्न ब्रह्म या शिव को केवल सृष्टि एवं संहार सम्बन्धी कार्यों तक ही सीमित बताया था, किन्तु अब अपनी प्रौढ़ वेला में वे शैवागमों से पूर्णतया प्रभावित होकर उसे चिति या महा-चिति घोषित करते हुए नित्य सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह के कार्यों में लीन मानने लगे। इतना ही नहीं, प्रसाद ने अपने 'कामायनी' महाकाव्य में उस अनन्त शक्तिशाली महाचिति की पाँच प्रमुख शक्तियों का बड़ा ही रोचक एवं सांगो-पांग निरूपण भी किया है, जिन्हें चित्-शक्ति, आनन्द-शक्ति, इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति कहा जाता है। इसके साथ ही प्रसाद ने अभी तक सगुण एवं

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
२. **इरावती**, पृष्ठ १४।
३. **इरावती**, पृष्ठ १४।
४. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ २६।

साकार ब्रह्म की ही चर्चा अधिक की थी। किन्तु वे अपनी प्रौढ़ बेला में ब्रह्म के दो रूप मानने लगे थे। उनका विचार था कि 'मूर्त्त, नश्वर और अमूर्त्त, अविनश्वर दोनों ही ब्रह्म के रूप है। वायु और आकाश अमूर्त, अविनश्वर हैं; इनसे इतर मूर्त्त और नश्वर (परिवर्तनशील) हैं।'[१] प्रसाद का यह दार्शनिक चिन्तन यद्यपि शैव दर्शन पर आधारित है, तथापि उसकी निरूपण-पद्धति सर्वथा मौलिक एवं नवीन है। इसीलिए प्रसाद के इस दार्शनिक चिन्तन को सर्वथा प्रौढ़ एवं मौलिक माना गया है।

प्रसाद के जीव सम्बन्धी प्रौढ़ विचार—प्रसाद अपनी प्रौढ़ बेला में जीव को उस चेतन ब्रह्म का ही व्यष्टिगत स्वरूप मानते थे। उनका दृढ़ विश्वास हो गया था कि उस समष्टि रूप ब्रह्म में भी व्यष्टि रहता है।[२] अतएव 'सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है।'[३] किन्तु जगत् के मायावी आकर्षणों में लिप्त होकर जीव अपने वास्तविक रूप को भूल जाता है, वह विकारों में लिप्त हो जाता है और उसका स्वर भी विकृत हो जाता है। इसीलिए फिर उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। वह पांडित्य के मारे जब देखो, जहाँ देखो, बेताल-बेसुरा ही गाता है।[४] इसके विकृत होने का मूल कारण संसार का यह रमणीय रूप है, जिसकी ज्वाला इतनी मोहक एवं इतनी आकर्षक होती है कि उस जीव का मन मनवाला होकर इसमें पतंग की तरह जलने लगता है। यह रूप की ज्वाला सांध्य गगन के समान रागमयी है और मदिरा के समान बड़ी तीव्र होती है। यह दिखाई तो ऐसी देती है जैसे मानो फूलों की सुकुमार माला हो, किन्तु यह लौह शृंखला से किसी प्रकार कम कठोर नहीं होती।'[५] जीव इसी रूप की लौह शृंखला में आबद्ध होकर अपने व्यष्टिगत रूप में ही मत्त रहा आता है और फिर समष्टिगत होने का प्रयत्न नहीं करता। उसे माया अपने बंधन में डाल देती है।[६] इसी माया से आबद्ध होकर जीव अपनी स्वतंत्रता को खो देता है, अन्यथा जीव पूर्णतः स्वतंत्र है और ऐसे जिस जीव को भूमा का सुख और उसकी महत्ता का आभास मात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन फिर अभिभूत नहीं कर सकते। वह किसी बलवान् की इच्छा का क्रीड़ा-कंदुक नहीं बन सकता, क्योंकि उसे विश्वास हो जाता है कि 'समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति, प्रभु की दी हुई है। मृत्यु के द्वारा वही इसको लौटा लेता है। 'जिस वस्तु को मनुष्य दे नहीं सकता, उसे ले लेने की स्पर्धा से बढ़कर दूसरा दम्भ नहीं।'[७] इतना ही नहीं, उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि 'जीवन सौभाग्य है, जीवन अलभ्य है, जीवन अनंत है, उसे छिन्न करने का किसे अधिकार है।'[८] उसे सर्वत्र जीवन ही जीवन की पुकार सुनाई देने लगती

---

१. **का० नि०**, पृष्ठ ३४।
२. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ७१।
३. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ७१।
४. **वही**, पृष्ठ ७१।
५. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १६८।
६. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १२८।
७. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०३।
८. **लहर**, पृष्ठ ७०।

है[1] और एक चेतना-शक्ति का ही सब कुछ खेल दृष्टिगोचर होने लगता है, जिसमें जीवन धूप-छाँह के समान खेलता हुआ जान पड़ता है[2]; किन्तु जीव का मन पर वश नहीं रहता, क्योंकि मन मधुप से भी अधिक चंचल और पवन से भी अधिक प्रगतिशील है, वेगवान है[3]' और इसी मन के चक्कर में पड़कर जीव स्वयं नाना प्रकार की आपत्तियों का आह्वान करता है, क्योंकि वह मकड़ी की तरह लटकने के लिए अपने आप ही जाला बुनता है[4] और इसी जाले में भटकता रहता है। सचमुच जीवात्मा एक भटकी हुई बुलबुल है, जो इस संसार के अपरिचित कुंज में क्षण-भर के लिए विश्राम करने आती है। यहाँ रोती है, क्रंदन करती है और वसंत के गुलाबी प्रभात में अपने यौवन में थिरकती हुई अपनी एक मीठी तान सुनाकर तथा रजनी-विश्राम का मूल्य चुकाकर चली जाती है।'[5]

यह जीव जगत् में आकर सत्य और झूठ के दलदल में फँस जाता है और सत्य की छाया को नहीं छू पाता, क्योंकि वह सदैव अन्धकार में रहता है।[6] उसे उस क्षण यह भान ही नहीं रहता कि 'जीवन सत्य है, संवेदन सत्य है, आत्मा के आलोक में अंधकार कुछ नहीं है।'[7] वास्तव में आत्मा ही जीव के रूप में अज्ञात प्रदेशों से आकर इस संसार में जन्म लेती है, फिर अपने लिए कितने ही स्नेहमय सम्बन्ध बना लेती है[8], किन्तु उसे यहाँ शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि छाया-चित्र-सदृश जन-स्रोत में नियति-पवन के थपेड़ों से जो तरंगें उठती हैं, उनमें वह एक तिनके के सदृश कभी इधर-उधर बहती है, कभी भँवरों में चक्कर खाती है और कभी लहरों में नीचे-ऊपर होती है। उसे कहीं कूल-किनारा नहीं मिलता।[9] इसी कारण प्रसाद का यह दृढ़ विश्वास था कि यदि जीव अपनी वैयक्तिकता को छोड़कर समष्टि में मिलने का प्रयत्न करता है, यदि वह संसार की विषमता से दूर होकर समरसता की ओर अग्रसर होता है, यदि उसमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय हो जाता है[10] और यदि वह विश्व में अनंत संगीत के स्वर में अपना स्वर मिलाकर भव-बन्धन से मुक्त होने का प्रयास करता है[11], तो उसे सम्पूर्ण जगत् अपना नीड़ दिखाई देने लगता है, सबकी सेवा अपनी सुख-संसृति प्रतीत होने लगती है, जड़-चेतन में सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दिखाई देने लगती है और उसे अखंड आनंद एवं अनंत शान्ति की उपलब्धि हो सकती है।[12] इतना ही नहीं, उसे फिर यह भी

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २७।
२. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ ६०।
३. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २०६।
४. **ध्रुवस्वामिनी**, पृष्ठ ३७।
५. **आकाशदीप**, पृष्ठ ३२।
६. **आकाशदीप**, पृष्ठ ५०।
७. **इन्द्रजाल**, पृष्ठ ११३।
८. **आँधी**, पृष्ठ २२।
९. **कंकाल**, पृष्ठ ४४।
१०. **कामायनी**, पृष्ठ ५४,१६२,२७२।
११. **एक घूँट**, पृष्ठ ७–८।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ २८६, २६४।

प्रतीत होने लगता है कि 'विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौन्दर्य' है, क्योंकि आनंदमयी प्रेरणा, जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ—अपने आत्म-भाव में, निर्विशेष रूप से रहने पर सफल हो सकती है।'[१] जीव यह भूला हुआ है कि उसकी मूल सत्ता में आनंद का निवास है। प्रसाद ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'अहा कितना सुन्दर जीवन हो, यदि मनुष्य को इस बात का विश्वास हो जाय कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनंद है।'[२] जीव इस आनंद को समरसता एवं अभेद द्वारा प्राप्त कर सकता है और माया से मुक्त होने पर ही वह ईश्वरत्व की ओर उन्मुख हो सकता है।[३]

इस प्रकार प्रसाद ने अपनी प्रौढ़ बेला में यह स्पष्ट घोषित किया कि वह चित् शक्ति या चेतन ब्रह्म विशाल सागर के समान है और जिस तरह सागर में अनेक लहरें उठती हैं और उसी में विलीन होती रहती हैं, उसी तरह इस विराट् चिति या ब्रह्म के अन्तर्गत ही नाना प्रकार के जीव नित्य उत्पन्न होते और उसी में विलीन होते रहते हैं। परन्तु जिस प्रकार सागर से पृथक् लहरों की कोई सत्ता नहीं है, उसी प्रकार उस विराट् ब्रह्म या चिति से पृथक् किसी भी जीव या प्राणधारी की सत्ता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक जीव जो रूप या आकार ग्रहण करता है, वह उसे अपनी कुछ वैयक्तिक छाप सहित पृथक् सत्ता समझता रहता है, किन्तु मरणोपरान्त वह फिर उसी चेतना-शक्ति में विलीन हो जाता है। अतएव प्रत्येक जीव कुछ क्षणों के लिए ही अपना पृथक् अस्तित्व बना लेता है, नहीं तो वह उस चिति से किसी प्रकार पृथक् नही है। इस जीव की स्थिति चाँदनी के सागर के अन्तर्गत बुलबुले के समान चमकते हुए उन तारों के समान है, जो कुछ क्षण चमक कर उसी प्रकाश-पुंज में विलीन हो जाते हैं। परन्तु जिस तरह असंख्य तारागणों के घुलमिल जाने पर एक अखंड प्रकाश शेष रहता है और असंख्य पानी के बुद्बुदों के घुलमिल जाने पर एक अनंत समुद्र शेष रहता है, उसी तरह समस्त जीवों के घुलमिल जाने पर अखंड आनंदपूर्ण चरम भावमयी विराट् चेतना-शक्ति शेष रहती है।[४] अतएव जीव चेतना का ही स्वरूप है, उससे पृथक् और कुछ नहीं है।

प्रसाद के जगत् सम्बन्धी प्रौढ़ विचार—स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र मनोवृत्ति के फलस्वरूप प्रसाद की मध्यकालीन रचनाओं में तो जहाँ-तहाँ कभी-कभी संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता का स्वर भी गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है, किन्तु अपनी प्रौढ़ बेला में आकर प्रसाद का यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि संसार असत्य एवं मिथ्या नहीं है, अपितु सत्य है; संसार क्षणभंगुर नहीं, अपितु नित्य है और संसार को जो असत्य एवं क्षणभंगुर कहकर दुःखमय मानते थे, उनके प्रति प्रसाद ललकार कर

---

१. **एक घूँट**, पृष्ठ १५।
२. **एक घूँट**, पृष्ठ १७।
३. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ १२८।
४. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।

कहने लगे थे—'मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ, जो यह कहते आये हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है। यह विश्व विकास-पूर्ण है और विश्व की कामना का मूल रहस्य 'आनन्द' है, अन्यथा वह विकास न होकर दूसरा ही कुछ होता।'[1] इतना ही नहीं, प्रसाद ने तो संसार को दुखःपूर्ण एवं क्षणिक मानने वाले वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन पर आक्षेप करते हुए यहाँ तक कहा कि—'जो दुःखवाद का पचड़ा सब धर्मों ने, दार्शनिकों ने गाया है, उसका रहस्य क्या है? डर उत्पन्न करना! विभीषिका फैलाना! जिससे स्निग्ध गम्भीर जल में अवाध गति से तैरने वाली मछली-सी विश्वसागर की मानवता चारों ओर जाल ही जाल देखे, उसे जल न दिखाई पड़े; वह डरी हुई, संकुचित-सी, अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे। सबसे भयभीत, सबसे सशंक।'[2]

प्रसाद का जगत् को नित्य एवं सत्य मानने का प्रबल कारण यह था कि वे इस सम्पूर्ण प्रकृति को परमात्मा की ही विभूति मानते थे[3] और उन्हें सर्वत्र एक चैतन्य सागर उर्मिल होता हुआ दृष्टिगोचर होता था।[4] उनकी यह दृढ़ धारणा बन गई थी कि 'संसार नित्य यौवन और जरा के चक्र में अवश्य घूमता है'[5] और यहाँ परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं, जिनके फलस्वरूप रवि, शशि, तारे अनेक रूप बदलते रहते हैं; वसुधा कभी जलनिधि बन जाती है, कभी जलनिधि मरुभूमि में परिणत हो जाता है और कभी जलधि में ज्वाला जलने लगती है।[6] यह जगत् सैकड़ों रूप अवश्य बदलता रहता है और परिवर्तनशील है, किन्तु उसी चिति या विराट् ब्रह्म का ही स्वरूप है। अतएव असत् नहीं, सत् है; अनित्य नहीं, नित्य है; क्षणभंगुर नहीं, सतत गतिशील है; केवल दुःखमय नहीं, अपितु सतत उल्लासपूर्ण एवं आनन्दमय है।[7] हाँ, इतना अवश्य है कि यह अपने दुःख-सुख से पुलकायमान अवश्य होता रहता है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह चिति का विराट् वपु है, चिति के समान ही मंगलमय है, उसी के तुल्य सत्य है और उसी के तुल्य सतत चिर नवीन सौन्दर्य से ओतप्रोत है।[8] इतना होने पर भी यह कहना उचित नहीं कि संसार में भीषणता एवं विषमता नहीं है। प्रसाद यह स्वीकार करते थे कि संसार केवल सुखमय ही नहीं है, यहाँ दुःख की भीषण विभीषिका भी नग्न नृत्य करती है। यहाँ लालसा क्रन्दन करती है, दुःखानुभूति हँसती है और नियति अपने मिट्टी के पुतलों के साथ अपना क्रूर मनोविनोद करती है।[9] विधाता की यह सृष्टि विषमता से भरी हुई है और चेष्टा करके भी इसमें आर्थिक या शारीरिक साम्य नहीं लाया जा सकता।[10] इसका मूल कारण यह

---

१. **एक घूँट**, पृष्ठ १६-१७।
२. **एक घूँट**, पृष्ठ ३१-३२।
३. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २०८।
४. **इरावती**, पृष्ठ १९।
५. **इरावती**, पृष्ठ १९।
६. **कामायनी**, पृष्ठ १९०।
७. **कामायनी**, पृष्ठ २४२।
८. **वही**, पृष्ठ २८८।
९. **आँधी**, पृष्ठ २९।
१०. **आँधी**, पृष्ठ १०५।

प्रतीत होने लगता है कि 'विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौन्दर्य' है, क्योंकि आनंदमयी प्रेरणा, जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ—अपने आत्म-भाव में, निर्विशेष रूप से रहने पर सफल हो सकती है।'[१] जीव यह भूला हुआ है कि उसकी मूल सत्ता में आनंद का निवास है। प्रसाद ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'अहा कितना सुन्दर जीवन हो, यदि मनुष्य को इस बात का विश्वास हो जाय कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनंद है।'[२] जीव इस आनंद को समरसता एवं अभेद द्वारा प्राप्त कर सकता है और माया से मुक्त होने पर ही वह ईश्वरत्व की ओर उन्मुख हो सकता है।[३]

इस प्रकार प्रसाद ने अपनी प्रौढ़ बेला में यह स्पष्ट घोषित किया कि वह चित् शक्ति या चेतन ब्रह्म विशाल सागर के समान है और जिस तरह सागर में अनेक लहरें उठती हैं और उसी में विलीन होती रहती हैं, उसी तरह इस विराट् चिति या ब्रह्म के अन्तर्गत ही नाना प्रकार के जीव नित्य उत्पन्न होते और उसी में विलीन होते रहते हैं। परन्तु जिस प्रकार सागर से पृथक् लहरों की कोई सत्ता नहीं है, उसी प्रकार उस विराट् ब्रह्म या चिति से पृथक् किसी भी जीव या प्राणधारी की सत्ता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक जीव जो रूप या आकार ग्रहण करता है, वह उसे अपनी कुछ वैयक्तिक छाप सहित पृथक् सत्ता समझता रहता है, किन्तु मरणोपरान्त वह फिर उसी चेतना-शक्ति में विलीन हो जाता है। अतएव प्रत्येक जीव कुछ क्षणों के लिए ही अपना पृथक् अस्तित्व बना लेता है, नहीं तो वह उस चिति से किसी प्रकार पृथक् नही है। इस जीव की स्थिति चाँदनी के सागर के अन्तर्गत बुलबुले के समान चमकते हुए उन तारों के समान है, जो कुछ क्षण चमक कर उसी प्रकाश-पुंज में विलीन हो जाते हैं। परन्तु जिस तरह असंख्य तारागणों के घुलमिल जाने पर एक अखंड प्रकाश शेष रहता है और असंख्य पानी के बुद्बुदों के घुलमिल जाने पर एक अनंत समुद्र शेष रहता है, उसी तरह समस्त जीवों के घुलमिल जाने पर अखंड आनंदपूर्ण चरम भाव-मयी विराट् चेतना-शक्ति शेष रहती है।[४] अतएव जीव चेतना का ही स्वरूप है, उससे पृथक् और कुछ नहीं है।

प्रसाद के जगत् सम्बन्धी प्रौढ़ विचार—स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र मनोवृत्ति के फलस्वरूप प्रसाद की मध्यकालीन रचनाओं में तो जहाँ-तहाँ कभी-कभी संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता का स्वर भी गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है, किन्तु अपनी प्रौढ़ बेला में आकर प्रसाद का यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि संसार असत्य एवं मिथ्या नहीं है, अपितु सत्य है; संसार क्षणभंगुर नहीं, अपितु नित्य है और संसार को जो असत्य एवं क्षणभंगुर कहकर दु:खमय मानते थे, उनके प्रति प्रसाद ललकार कर

---

१. **एक घूँट**, पृष्ठ १५।
२. **एक घूँट**, पृष्ठ १७।
३. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ १२८।
४. **कामायनी, पृष्ठ २८८**।

कहने लगे थे—'मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ, जो यह कहते आये हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है। यह विश्व विकास-पूर्ण है और विश्व की कामना का मूल रहस्य 'आनन्द' है, अन्यथा वह विकास न होकर दूसरा ही कुछ होता।'[1] इतना ही नहीं, प्रसाद ने तो संसार को दुखःपूर्ण एवं क्षणिक मानने वाले वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन पर आक्षेप करते हुए यहाँ तक कहा कि—'जो दुःखवाद का पचड़ा सब धर्मों ने, दार्शनिकों ने गाया है, उसका रहस्य क्या है ? डर उत्पन्न करना ! विभीषिका फैलाना ! जिससे स्निग्ध गम्भीर जल में अवाध गति से तैरने वाली मछली-सी विश्वसागर की मानवता चारों ओर जाल ही जाल देखे, उसे जल न दिखाई पड़े; वह डरी हुई, संकुचित-सी, अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे। सबसे भयभीत, सबसे सशंक।'[2]

प्रसाद का जगत् को नित्य एवं सत्य मानने का प्रबल कारण यह था कि वे इस सम्पूर्ण प्रकृति को परमात्मा की ही विभूति मानते थे[3] और उन्हें सर्वत्र एक चैतन्य सागर उर्मिल होता हुआ दृष्टिगोचर होता था।[4] उनकी यह दृढ़ धारणा बन गई थी कि 'संसार नित्य यौवन और जरा के चक्र में अवश्य घूमता है'[5] और यहाँ परिवर्तन अवश्य होते रहते है, जिनके फलस्वरूप रवि, शशि, तारे अनेक रूप बदलते रहते हैं; वसुधा कभी जलनिधि बन जाती है, कभी जलनिधि मरुभूमि में परिणत हो जाता है और कभी जलधि में ज्वाला जलने लगती है।[6] यह जगत् सैकड़ों रूप अवश्य बदलता रहता है और परिवर्तनशील है, किन्तु उसी चिति या विराट् ब्रह्म का ही स्वरूप है। अतएव असत् नहीं, सत् है; अनित्य नहीं, नित्य है; क्षणभंगुर नहीं, सतत गतिशील है; केवल दुःखमय नहीं, अपितु सतत उल्लासपूर्ण एवं आनन्दमय है।[7] हाँ, इतना अवश्य है कि यह अपने दुःख-सुख से पुलकायमान अवश्य होता रहता है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह चिति का विराट् वपु है, चिति के समान ही मंगलमय है, उसी के तुल्य सत्य है और उसी के तुल्य सतत चिर नवीन सौन्दर्य से ओतप्रोत है।[8] इतना होने पर भी यह कहना उचित नहीं कि संसार में भीषणता एवं विषमता नहीं है। प्रसाद यह स्वीकार करते थे कि संसार केवल सुखमय ही नहीं है, यहाँ दुःख की भीषण विभीषिका भी नग्न नृत्य करती है। यहाँ लालसा क्रन्दन करती है, दुःखानुभूति हँसती है और नियति अपने मिट्टी के पुतलों के साथ अपना क्रूर मनोविनोद करती है।[9] विधाता की यह सृष्टि विषमता से भरी हुई है और चेष्टा करके भी इसमें आर्थिक या शारीरिक साम्य नहीं लाया जा सकता।[10] इसका मूल कारण यह

---

१. **एक घूँट**, पृष्ठ १६-१७।
२. **एक घूँट**, पृष्ठ ३१-३२।
३. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २०८।
४. **इरावती**, पृष्ठ १९।
५. **इरावती**, पृष्ठ १९।
६. **कामायनी**, पृष्ठ १९०।
७. **कामायनी**, पृष्ठ २४२।
८. **वही**, पृष्ठ २८८।
९. **आँधी**, पृष्ठ २९।
१०. **आँधी**, पृष्ठ १०५।

है कि उस सृष्टिकर्त्ता ने इस सृष्टि को निरन्तर गतिशील बनाने के लिए ही यहाँ विषमता की सृष्टि की है, सुख-दुःख उत्पन्न किये हैं, क्योंकि इसी विषमता की पीड़ा से आकुल होकर सारा जगत् सतत स्पन्दनशील होता है।[1] इसके अतिरिक्त यदि समस्त प्राणियों की व्यवस्था एक-सी ही की जाती, तो यह सृष्टि कैसी नीरस होती और फिर यहाँ उस विधाता की क्रीड़ा कैसे चलती, जिसके फलस्वरूप कहीं देवबालाओं के नृत्य हो रहे हैं, तो कहीं राज्य-विप्लव हो रहे हैं; कहीं अतलान्त समुद्र सूख रहा है, तो कहीं महा मरुस्थल में जल की धारायें बहने लगी हैं[2]; कहीं कितने ही अनाथ अन्न-वस्त्र-विहीन, बिना किसी औषधि-उपचार के मर रहे हैं[3] और कहीं पुण्य के नाम पर अथवा धर्म के नाम पर गुलछर्रे उड़ रहे हैं, ब्रह्मभोज हो रहा है और छत पर से पूरी और मिठाइयों के टुकड़ों से लदी हुई पत्तलें नीचे उछाली जा रही हैं।[4]

इस तरह प्रसाद ने इस भीषण जगत् की विषमतापूर्ण दयनीय स्थिति का भी बड़ा ही रोचक दृश्य प्रस्तुत किया है और बताया है कि यह विषमता की विभीषिका केवल एक उपाय द्वारा दूर हो सकती है और वह है 'समरसता' को अपनाना। विश्व में व्याप्त यह विषमता तभी दूर हो सकती है जब प्रत्येक मानव अपने को एक विश्व-कुटुम्ब का सदस्य मानने लगे, सबको एक ही विश्वात्मा के अंग-प्रत्यंग के रूप में देखने लगे और किसी को कोई तुच्छ एवं हेय न समझे। उस समय इस वसुधा पर न कोई शापित रहेगा और न कोई तापित पापी रहेगा, अपितु जीवन रूपी वसुधा पूर्णतया समतल हो जायेगी तथा जो व्यक्ति जहाँ पर है वहीं वह समरसता का अनुभव करने लगेगा।'[5]

इस प्रकार प्रसाद ने अपनी प्रौढ़ बेला में यह भली प्रकार अनुभव किया था कि जगत् की असत्यता एवं जीवन की क्षणभंगुरता ने मानवों को अत्यन्त निष्क्रिय एवं अकर्मण्य बना दिया है। विश्व के अन्य भागों में विज्ञान के विकास के साथ-साथ उत्तरोत्तर प्रगति हो रही है, किन्तु भारत जैसा कर्मशील एवं ज्ञान-गुरु देश अभी तक इस प्रगति में पिछड़ रहा है। इसी कारण प्रसाद ने उन दार्शनिक विचारों का निराकरण किया, जिनके फलस्वरूप मानव अकर्मण्य एवं निकम्मे बनते चले जा रहे थे और संसार को छोड़कर तथा प्रगति से पराङ्मुख होकर जंगलों में हाथ पर हाथ रखे जीवन व्यतीत करने के लिए उत्सुक रहे आते थे। इसके ठीक विपरीत प्रसाद ने उन दार्शनिक विचारों का स्वागत किया, जिनमें ब्रह्म के समान ही जीव को भी महत्त्वपूर्ण घोषित किया गया था, जगत् को सत्य एवं चिर मंगलमय बताया गया था और जीव की ही भाँति जगत् को भी ब्रह्म का ही विराट् एवं व्यापक रमणीय शरीर घोषित किया गया था; क्योंकि प्रसाद जानते थे कि जब तक जगत् की सत्यता घोषित

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ३४।
२. **इन्द्रजाल**, पृष्ठ ८६।
३. **कंकाल**, पृष्ठ २९७।
४. **कंकाल**, पृष्ठ ६६।
५. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।

नहीं की जायेगी और जब तक मानव को इसकी रमणीयता एवं मंगलमयता से परिचय नहीं कराया जायेगा, तब तक मानव इसकी ओर आकृष्ट नहीं होगा और इसके अन्तर्गत प्रगति करने के लिए भी उत्सुक नहीं होगा। ऐसे ही जब तक जीव को ब्रह्म का स्वरूप नहीं घोषित किया जायेगा, तब तक प्रत्येक जीव में समानता का भाव पुष्ट नहीं होगा और पारस्परिक विषमता भी समाप्त नहीं होगी। इसीलिए प्रसाद ने मानवों को कर्मशील एवं प्रयत्नशील बनाने के लिए तथा अपने राष्ट्र एवं समाज को समुन्नत बनाने के लिए प्रत्येक जीव की समानता एवं जगत् की सत्यता पर अत्यधिक बल दिया तथा इस जगत् के अन्तर्गत दिखाई देने वाली विषमता, विभिन्नता एवं विविधता को केवल बाह्य घोषित करते हुए अन्तर्व्यापी अभेद एवं अभिन्नत्व की घोषणा की। यह अभेद एवं अभिन्नत्व ब्रह्म और जगत् को तथा ब्रह्म और जीव को 'सत्य सतत चिर सुन्दर' एवं मंगलमय बताकर दोनो को अखंड एवं अविभक्त घोषित किए बिना स्थापित हो नही सकता था। इसी कारण प्रसाद ने अपनी प्रौढ़ बेला में स्पष्ट ही ब्रह्म और जीव के अभेद पर बल दिया, ब्रह्म और जगत् के अभेद पर बल दिया और दोनों को सत्य घोषित करते हुए अभेदवाद की पुष्टि की।

द्वितीय प्रकरण

परम तत्व—शिव

- तीन पदार्थ—पति, पशु और पाश
- शिव का लक्षण—
- स्वरूप लक्षण
- तटस्थ लक्षण
- निराकार एवं साकार शिव
- शिव का निराकार रूप
- शिव का साकार रूप
- शिव के परस्पर विरोधी गुण
- शिव का विराट् रूप
- प्रसाद के परम तत्व-निरूपण की विशेषताएँ
- शिव की शक्ति का स्वरूप
- शक्ति के विभिन्न रूप—
- चित्-शक्ति
- आनन्द-शक्ति
- इच्छा-शक्ति
- ज्ञान-शक्ति
- क्रिया-शक्ति

द्वितीय प्रकरण

परम तत्व—शिव

जो सर्व व्यापक तऊ सबसे परे है। जो सूक्ष्म है तऊ बसुधा धरे है।
जो शब्द में रहत शब्द न पार पावै। ताकी महान महिमा कवि कौन गावै॥[1]

कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त॥[2]

तीन पदार्थ

शैवदर्शन के अनुसार पति, पशु और पाश नामक तीन पदार्थ माने गये हैं।[3] इनमें से 'पति' पदार्थ से अभिप्राय शिव से है[4], जीवात्मा 'पशु' कहलाता है[5] और 'पाश' से अभिप्राय उन सांसारिक बन्धनों से है जो मल, कर्म, माया और रोधशक्ति के भेद से चार प्रकार के होते हैं[6] और जिन्हें जड़ प्रकृति या जगत् कहा जा सकता है। उक्त पदार्थ-त्रय का विवेचन करने के कारण शैव दर्शन को त्रिक्दर्शन, त्रिक्शास्त्र या त्रिक् भी कहा जाता है।[7] प्रसाद ने भी 'अहो लखो यह विश्वेश्वर की सृष्टि अनूपम'[8] तथा 'पशुपति निज पशुगन प्रतिपालत प्रेम सहित भल'[9] कहकर स्पष्ट ही पशुपति, पशु और सृष्टि (पाश) नामक तीनों पदार्थों की ओर संकेत किया है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन में परम शिव को विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय, प्रकाशैकघन,

---

१. चित्राधार—विनय, पृष्ठ १५३।
२. कामायनी—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५३।
३. पतिपशुपाशभेदात् त्रयः पदार्था इति। स० सं०, पृष्ठ १५४।
४. तत्र पति पदार्थः शिवोऽभिमतः। स० सं०, पृष्ठ १५५।
५. अनणुक्षेत्रज्ञादिपदवेदनीयो जीवात्मा पशुः। स० सं०, पृष्ठ १५९।
६. पाशश्चतुर्विधो मलकर्ममायारोधशक्तिभेदात्। स० सं०, पृष्ठ १६५।
७. कश्मीर शैविज़्य—प्रथम भाग, पृष्ठ १।
८. चित्राधार, पृष्ठ ७२।
९. वही, पृष्ठ ७३।

सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, व्यापक, परमेश्वर आदि कहकर इस अखिल ब्रह्मांड में अभेद रूप से स्फुरित होता हुआ बतलाया गया है और कहा गया है कि उस परम शिव के अतिरिक्त न कुछ ग्राह्य है और न कोई ग्राहक, अपितु वही परम शिव भट्टारक नाना वैचित्र्यों से परिपूर्ण इस सृष्टि में प्रगट हो रहा है। अतएव पशु और पाश नामक पदार्थों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वे भी पशुपति के ही प्रसार मात्र हैं और तीनों पदार्थों के स्थान पर केवल एक परम शिव अथवा पशुपति नामक पदार्थ या तत्त्व ही सर्वोपरि है।[1] इस तरह प्रत्यभिज्ञा दर्शन में तीन पदार्थों अथवा तीन तत्त्वों के स्थान पर जैसे एक शिव को ही परम तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है[2] और इसी में तीनों का समावेश किया गया है, वैसे ही प्रसाद ने भी 'नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन, एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन'[3] कहकर जड़ (पाश), चेतन (पशु) तथा एक तत्त्व (पशुपति) तीनों पदार्थों में उसी एक परम तत्त्व—परम शिव की प्रधानता स्वीकार की है। प्रसाद तो किसी भी तरह से जड़ और चेतन तक का भेद स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका तो स्पष्ट मत है कि 'जिन पदार्थों की शक्ति अप्रकाशित रहती है, उन्हें लोग जड़ कहते हैं। किन्तु देखो जिन्हें हम जड़ कहते है, वे जब किसी विशेष मात्रा में मिलते हैं, तब उनमें एक शक्ति उत्पन्न होती है, स्पन्दन होता है, जिसे जड़ता नहीं कह सकते। वास्तव में सर्वत्र शुद्ध चेतन है, जड़ता कहाँ ? यह तो एक भ्रमात्मक कल्पना है।'[4] अतः प्रसाद ने शैवदर्शन के मतानुसार पति, पशु एवं पाश नामक पदार्थ-त्रय की ओर संकेत अवश्य किया है, परन्तु वे एक पशुपति अथवा परम शिव को ही परम पदार्थ, परम तत्त्व अथवा शाश्वत सत्ता मानते हैं।[5] शिव ही प्रसाद के परम आराध्य हैं।[6] प्रसाद ने

---

१. श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक—परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य.......... अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति; न तु वस्तुतः किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपितु श्री परमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।
—प्र० हृ०, पृष्ठ ८।

सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च व्यापकः परमेश्वरः। विज्ञान भैरव, १०९।

चिदेव भगवती स्वच्छस्वतंत्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति।
—प्र० हृ०, पृष्ठ ३।

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद् विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक् क्रियः शिवः॥ शिवदृष्टि १।२

२. ज्ञेयस्य हि परं तत्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः। तंत्रालोक १।५२।

३. कामायनी, पृष्ठ ३।

४. जनमेजय का नाग-यज्ञ, पृष्ठ १२।

५. इरावती, पृष्ठ ५८।

६. संसार को सदय पालत जौन स्वामी।
वा शक्तिमान परमेश्वर को नमामी॥ चित्राधार, पृष्ठ १५३।

वसुंधरा, अम्बु, अग्नि, गगन, पवन, दिनेश, चन्द्र और मज्जन नामक अष्टमूर्तियों में उसी एक परम तत्व शिव का साक्षात्कार किया है।[1] तथा महेश[2], पशुपति[3], भूतनाथ[4], परमेश्वर[5], परमात्मा[6], विश्वेश्वर[7], ईशान[8], पुरारी[9], महाचिति[10], चिति[11], महाकाल[12], हर[13], शक्तिनाथ[14], शक्ति-शरीरी[15], एकलिंगेश्वर[16] आदि अनेक ऐसे नामों से उसे अभिहित किया है, जो शिव के बोधक हैं। इनके अतिरिक्त शैवदर्शन में जिस तरह सर्वत्र व्याप्त होने के कारण शिव को 'राम' बतलाया है[17], वैसे ही प्रसाद ने शिव को सर्वत्र रोम-रोम में रमे रहने के कारण 'राम' भी कहा है।[18] ऐसे सर्वव्यापक होते हुए भी सबसे परे रहने वाले, अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी वसुधा को धारण करने वाले, शब्द में रहते हुए भी शब्दों द्वारा ज्ञात न होने वाले शिव की महिमा का कौन गुण-गान कर सकता है और कौन उसकी गुण-ग्रन्थियों को खोलकर उसके स्वरूप का निरूपण कर सकता है ?[19] यहाँ तक कि निगमागम भी 'नेति', 'नेति' कहकर उसका गुण-गान करते हुए थक गये[20], किन्तु उसका ठीक-ठीक निरूपण न कर सके। उस महान् शक्तिशाली की सत्ता को सम्पूर्ण चराचर जगत् नतमस्तक होकर स्वीकार तो करता है, परन्तु वह अनन्त सौन्दर्यशाली कौन है ? कैसा है ? कहाँ रहता है ? यह कोई नहीं जानता। उसके रूप का पता लगाना संकुचित विचार-शक्ति के क्षेत्र से परे है। वह अनिर्वचनीय है, अतर्क्य है और मनसा, वाचा, कर्मणा भी अगम्य है।[21] बुद्धि, विवेक, ज्ञान अथवा अनुमान के द्वारा जिन्होंने उसे जानने की

---

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १३९-१४०। २. **चित्राधार**, पृष्ठ १५४।

३. **वही**, पृष्ठ ७३। ४. **वही**, पृष्ठ ७३; **कामायनी**, पृष्ठ १८५।

५. **वही**, पृष्ठ १५३।

६. **ज० ना०**, पृष्ठ १४, ७३; **स्कं०**, पृष्ठ ६७, ८०, १४२; **चं०**, पृष्ठ १०३, **कं०**, पृष्ठ ४१, १३४।

७. **चि०**, पृष्ठ ७२; **प्रे० प०**, पृष्ठ २४, २५; **का० कु०**, पृष्ठ १४, **ज० ना०**, पृष्ठ १०८, १०९; **कं०**, पृष्ठ १५३।

८. **चित्राधार**, पृष्ठ १५५। ९. **कामायनी**, पृष्ठ १५५।

१०. **कामायनी**, पृष्ठ ५३। ११. **वही**, पृष्ठ २४२, २८८।

१२. **इ०**, पृष्ठ ९, १०, १४, २०, २२; **स्कं०**, ७५, ८४।

१३. **इरावती**, पृष्ठ ११। १४. **इरावती**, पृष्ठ १४।

१५. **कामायनी**, पृष्ठ २५४। १६. **छाया**, पृष्ठ ६१, ६४।

१७. **एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परमकारणम्। तंत्रालोक १।८८**

१८. **झरना**, पृष्ठ ४९। १९. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३।

२०. **निगमहू गुण गाइ थाके। चित्राधार**, पृष्ठ १५५।

२१. **कामायनी**, पृष्ठ २६; **झरना**, पृष्ठ ५०।

चेष्टा की, वे भी नष्ट हो गये और उसका पता नहीं लगा सके।[१] परन्तु प्रसाद का मत है कि उस अनन्त सौन्दर्यशाली के सौन्दर्य का यत्किंचित् बोध कराने के लिए ही उसे रूप प्रदान किया गया है, क्योंकि सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य के साथ-साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं।[२] इसी कारण उस अनिर्वचनीय को शब्दों द्वारा कहा गया है, उस अरूप को रूप प्रदान किया गया है और उस अमूर्त्त को यत्किंचित् मूर्त्त रूप में देखने की चेष्टा की गई है[३], क्योंकि विराट् एवं विश्वव्यापक होते हुए भी वह परम तत्त्व कुछ है, ऐसा इस नाना वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि को देखकर भान होता है।[४]

शिव का लक्षण

(क) **स्वरूप लक्षण**—जिस प्रकार शैवदर्शन अथवा शैवागमों में बुद्धि की विकल्पना अथवा प्रज्ञा के सहारे शिव के स्वरूप की कल्पना की गई है, उसी प्रकार प्रसाद ने भी शिव के स्वरूप का निरूपण किया है। प्रसाद के शिव सच्चिदानन्द स्वरूप हैं।[५] वे शुद्ध चेतन है।[६] इसी कारण उन्हें 'चिति' अथवा 'महाचिति' के नाम से अभिहित किया जाता है।[७] वे सर्वव्यापक हैं[८], विभु हैं[९], विराट् है[१०], अन्तर्यामी है[११], पूर्णकाम हैं[१२], प्रमाता है[१३], अनन्त हैं[१४], अखण्ड हैं[१५] तथा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं।[१६] वे अलख[१७], अरूप[१८], अटल[१९], अविचल[२०], अभेद[२१] एवं अपरम्पार[२२]

---

१. **बुद्धि के, विवेक के, या ज्ञान अनुमान के भी,**
आये जो पतंग तुम्हें देखने, जले, गये। झरना, पृष्ठ ५०।

२. **काव्य और कला अथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ३५।

३. **होकर अतृप्त तुम्हें देखने को नित्य नया रूप दिये देता हूँ। झरना**, पृष्ठ ६०।

४. **हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान। कामायनी**, पृष्ठ २६।

५. **साँचे सच्चिदानन्द में प्रेम ना सुधारी क्यों ? चित्राधार**, पृष्ठ १७९।

६. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२। ७. **कामायनी**, पृष्ठ ५३, २४२, २८८।

८. **चि०**, पृष्ठ १५३, १५४, १८६; **प्रे० प०**, पृष्ठ १७; **का० कु०**, पृष्ठ ६१, **स्कं०**, पृष्ठ ४७; **कं०**, पृष्ठ १०५, २९७।

९. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०४; **चित्राधार**, पृष्ठ १५५।

१०. **कंकाल**, पृष्ठ १५३; **कामायनी**, पृष्ठ २४, २६।

११. **का० कु०** पृष्ठ ६; **विशाख**, पृष्ठ ७९; **आँधी**, पृष्ठ ८०।

१२. **झरना**, पृष्ठ ४९। १३. **झरना**, पृष्ठ ६१।

१४. **चि०**, पृष्ठ १५३; **आ०**, पृष्ठ ८; **का०**, पृष्ठ १९३; **इ०** पृष्ठ ५६।

१५. **कामायनी**, पृष्ठ १९३, २५४; **कंकाल**, पृष्ठ २१५।

१६. **छाया**, पृष्ठ ११३। १७. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६८।

१८. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६८। १९. **कंकाल**, पृष्ठ २१५।

२०. **कंकाल**, पृष्ठ २१५। २१. **झरना**, पृष्ठ ४९।

२२. **चित्राधार**, पृष्ठ ३०।

भी है। वे ही निर्विकार, निरुपम एवं निर्मम हैं।[1] प्रसाद ने शिव को पूर्ण[2], सर्वज्ञ[3], नित्य[4] एवं सत्य[5] बताया है। प्रसाद के शिव परा प्रकृति से परे नहीं, अपितु इसी में हिलेमिले हैं, उन्हीं चेतन की चित्कला विश्व के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है और उन्हीं की पूर्ण महत्ता व्योम में ओत-प्रोत है।[6] वे विश्व-शरीरी, विश्वायतन एवं विश्वरूप हैं[7] तथा विश्वात्मा[8] एवं विश्वचेतना हैं।[9] वे विज्ञानाकार हैं और ज्ञानों के आधार हैं।[10] वे इस दृश्य जगत् के द्रष्टा एवं कूटस्थ हैं।[11] सर्वांगज्योतिमय[12], आलोक-पुरुष[13], ज्योति-स्वरूप[14], ज्योतिष्पथ के स्वामी[15], तेज के आकर[16], आलोकमणि[17], वैश्वानर[18], अनन्त अनल-शिखा[19], कान्ति-सिन्धु[20], परम प्रकाश[21] तथा महानील-लोहित-ज्वाला-स्वरूप हैं।[22] आलोक एवं प्रकाश-युक्त होने के कारण ही उन्हें देव कहा जाता है।[23] वे ही देवाधि-देव हैं।[24] प्रसाद ने शिव को ही अखण्ड आनन्द-घन[25], आनन्द सिन्धु[26], आनन्द-अम्बुनिधि[27], अखण्ड आनन्द-वेश[28], आनन्द-कंद[29] तथा लीलामय आनन्दकारी कहा है।[30] वे सर्वात्मा[31], सर्वस्व[32], सर्वसमर्थ एवं सर्वशक्तिमान[33], सर्वलोकविहारी[34], सर्वेश[35], सर्वोच्च-शक्ति[36], सकल निधियों के

---

१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३, ४।
२. **का० नि०**, पृष्ठ ४२।
३. **वही**, पृष्ठ ४२।
४. **आँधी**, पृष्ठ १६।
५. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ १७।
६. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।
७. **चि०**, पृष्ठ १२४, १३९-४०; **वि०**, पृष्ठ ३१; **का० कु०**, पृष्ठ ९४।
८. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २४; **का० नि०**, पृष्ठ ८१, १२८।
९. **एक घूँट**, पृष्ठ १५।
१०. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।
११. **वही**, पृष्ठ ११, ९२।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ २५२।
१३. **कामायनी**, पृष्ठ २५२।
१४. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६८।
१५. **करुणालय**, पृष्ठ १९।
१६. **करुणालय**, पृष्ठ २६।
१७. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ २९।
१८. **चित्राधार**, पृष्ठ १३९।
१९. **कंकाल**, पृष्ठ २१५।
२०. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
२१. **झरना**, पृष्ठ ४९।
२२. **कामायनी**, पृष्ठ १८६।
२३. **चि०**, पृष्ठ १५५; **का०**, पृष्ठ २८; **क०**, पृष्ठ ५, ९, २५।
२४. **इरावती**, पृष्ठ १२।
२५. **का० नि०**, पृष्ठ ५९।
२६. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३।
२७. **कामायनी**, पृष्ठ २८६।
२८. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
२९. **चि०**, पृष्ठ १५४, १५५; **का० कु०**, पृष्ठ ५९।
३०. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।
३१. **स्कं०**, पृष्ठ ७१, ८९; **का० कु०**, पृष्ठ ६।
३२. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ७३।
३३. **चि०**, पृष्ठ १३५; **स्कं०**, पृष्ठ ६८।
३४. **चित्राधार**, पृष्ठ १५५।
३५. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३१।
३६. **आकाश-दीप**, पृष्ठ ८९।

आधार[1], सर्व-भूत-हित-रत[2] तथा समदर्शी हैं।[3] प्रसाद के वे शिव अनन्त रमणीय[4], अखिल लोक-ललाम[5], भुवन-अभिराम[6], सौन्दर्य-सुधा-सागर[7], चिर सुन्दर[8] तथा सुन्दरतम है।[9] वे समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति के प्रदाता हैं।[10] अपने अपार वैभव एवं अनन्त महत्त्व के कारण ही वे 'भूमा' कहलाते हैं।[11] वे ही चेतन-पुरुष-पुरातन हैं[12], अनादि-अनन्त-माया-सम्पन्न है[13], धर्मस्वरूप हैं[14], प्रेममय प्रकाशरूप[15] तथा सौन्दर्य-प्रेम-निधि हैं।[16] वे ही जगन्नियंता[17] और ब्रह्मांडनायक[18] हैं। इसी कारण उन्हें प्रभु[19], ईश, ईश्वर एवं परमेश्वर[20], महेश[21], जगदीश[22] आदि नामों से अभिहित किया गया है। वे ही शक्ति-विग्रही[23], शक्ति-शरीरी[24], शक्तिनाथ[25] तथा महाशक्ति[26] हैं। वे ही भगवान हैं और सम्पूर्ण विश्व के वैभव का स्रोत एवं स्वामित्व उन्हीं को प्राप्त है।[27] वे ही विश्वाधार[28],

---

१. **झरना**, पृष्ठ ६१।
२. **कंकाल**, पृष्ठ २८२।
३. **कंकाल**, पृष्ठ २८१।
४. **कामायनी**, पृष्ठ २६।
५. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३।
६. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३।
७. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५।
८. **आँसू**, पृष्ठ १६।
९. **प्रे० प०**, पृष्ठ २४।
१०. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०३।
११. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०२।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ २८६।
१३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ १।
१४. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३।
१५. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ २।
१६. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २६।
१७. **करुणालय**, पृष्ठ २४; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १२१, १४२।
१८. **चित्राधार**, पृष्ठ १५५।
१९. **चि०**, पृष्ठ १५५; **क०**, पृष्ठ ४, ९; **का० कु०**, पृष्ठ ६, ५८, ६२; **वि०**, पृष्ठ ६५; **ज० ना०**, पृष्ठ ९७; **स्कं०**, पृष्ठ ६६; **चं०**, पृष्ठ १०३; **प्रे० प०**, पृष्ठ २१; **कामना**, पृष्ठ २, ८।
२०. **चि०**, पृष्ठ ७४, १३७, १५५; **प्रे० प०**, पृष्ठ २३, २४; **म० म०**, पृष्ठ २४; **का० नि०**, पृष्ठ ३०, ३४, ४६; **ज० ना०**, पृष्ठ ४२; **चं०**, पृष्ठ १९२, २२१; **आँधी**, पृष्ठ १०४, १०५, १०९; **कं०**, पृष्ठ ४०, २८९; **का०**, पृष्ठ ५३।
२१. **चित्राधार**, पृष्ठ १५४।
२२. **करुणालय**, पृष्ठ २४।
२३. **का० नि०**, पृष्ठ ३६।
२४. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
२५. **इरावती**, पृष्ठ १४।
२६. **कामायनी**, पृष्ठ २०२।
२७. **आँधी**, पृष्ठ ५२, ७४, ८०, १०४, १०५, १११; **आ०**, पृष्ठ ९, १०; **कं०**, पृष्ठ ४५, ५७, ५८, ६३, १२३, १४६; **इं०**, पृष्ठ ५४; **चं०** पृष्ठ ६६, ६९, १८५; **इ०**, पृष्ठ १४, २२, ३२, ३५।
२८. **करुणालय**, पृष्ठ २५।

कर्णधार[1], अनन्तनिधि के नाविक[2], प्राणनाथ अथवा प्राणधन एवं प्राणाधार[3], गुणाधार[4], अशरण-शरण[5], प्रणत-जन-कृपा-भाजन[6] आदि हैं और वे ही करुणालय[7], करुणानिधि[8], करुणासिंधु[9], करुणावरुणालय[10] आदि नामों से पुकारे जाते हैं।

(ख) **तटस्थ-लक्षण**—शैवागमों में शिव को पंचकृत्यकारी माना गया है।[11] इन पंचकृत्यों को क्रमशः सृष्टि, स्थिति, प्रलय, तिरोधान और अनुग्रह कहा गया है।[12] किन्तु शिव की स्रष्टता, स्थापकता, संहर्तृता, विलयकारिता तथा अनुग्रहीतृता सभी कादाचित्क हैं[13], क्योंकि उक्त कार्यों का सम्बन्ध नियत देशकाल से है[14] और शिव सृष्टिकर्त्ता, भर्त्ता, संहर्त्ता आदि होते हुए भी सर्वथा स्वतन्त्र एवं देशकाल की सीमाओं से परे हैं। अतः शिव की सृष्टता, स्थापकता, संहर्तृता आदि उनका तटस्थ लक्षण है। प्रसाद ने भी शैव दर्शन के आधार पर शिव के पंचकृत्यों का निरूपण किया है।[15] इसी कारण प्रसाद ने शिव को जगत् का प्रभवकर्त्ता कहा है और उसे सबका पिता घोषित किया है।[16] प्रसाद की दृष्टि में यह सारी सृष्टि एक रचना-मूलक-यज्ञ है,

---

१. **चि०**, पृष्ठ १८२, १८६, १८७; **क०** पृष्ठ ३, ११; **का० कु०**, पृष्ठ ८, ६३; **वि०**, पृष्ठ ६६।
२. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २०८।
३. **चित्राधार**, पृष्ठ १८८; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ २०।
४. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ८। ५. **चित्राधार**, पृष्ठ १३६।
६. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३। ७. **करुणालय**, पृष्ठ २०।
८. **चि०**, पृष्ठ १८५, १८७; **क०** पृष्ठ २०; **प्रे० प०**, पृष्ठ २२; **का० कु०**, पृष्ठ ७, ६३।
९. **क०**, पृष्ठ १९, २४; **वि०**, पृष्ठ ६५; **रा०**, ६३।
१०. **करुणालय**, पृष्ठ २४।
११. **तथापि तद्वत् पंचकृत्यानि करोति।—प्र० हृ०, सूत्र १०।**
१२. **सर्गस्थितिप्रलयानुग्रहतिरोधानलक्षण पंचप्रकारं कृत्यम्।—शि० दृ०, पृष्ठ १५।**
१३. **विश्वात्मसात्काररूपा समावेशभूः कादाचित्की, कथम् उपादेया इयं स्यात् इति; यतो देहाद्युन्मज्जननिमज्जनवशेन इदम् अस्याः कादाचित्कत्वम् इव आभाति। वस्तुतस्तु चितिस्वातंत्र्यावभासितदेहाद्युन्मज्जनात् एव कदाचित्कत्वम्।**
—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ ३६।
१४. **नियतदेशकालादिनया यदा आभासयति, तदा नियतदेशकालाद्याभासांशे अस्य स्रष्टृता; अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता; नीलाद्याभासांशे स्थापकता; भेदेन आभासांशे विलयकारिता; प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता।**
—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ २३।
१५. **देखो—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह की नित्य लीला से समस्त आकाश भर उठा है।—इरावती**, पृष्ठ ५८।
१६. **करुणालय**, पृष्ठ २५, २६। 26-121

और शिव इसके यज्ञ-पुरुष हैं।[1] वे नित्य रचना के कार्य में लीन रहते हैं और विश्व-रचयिता हैं।[2] इसी कारण प्रसाद ने शिव को स्थान-स्थान पर जगत्-पिता[3], जगज्जनक[4], सृष्टिकर्त्ता[5], परम पिता[6] आदि नामों से अभिहित किया है तथा बताया है कि यह सारा जगत् उनका अद्‌भुत शिल्प है और वे इसके शिल्पी हैं।[7] प्रसाद ने 'चिति का स्वरूप यह नित्य जगत'[8] अथवा 'चिति का विराट वपु मंगल'[9] कहकर चैतन्यात्मा शिव और उनके ही द्वारा रचित जगत् में कोई भेद स्वीकार नहीं किया है। इस अभिन्नत्व एवं अभेद के कारण ही शिव इस जगत् के उपादान एवं निमित्त दोनों कारण हैं, क्योंकि जब प्रसाद शिव को इस जगत् का कारण कहते हैं[10], तब उनका तात्पर्य उक्त दोनों ही कारणों से है। प्रसाद की दृष्टि में सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है और उसका कुछ न कुछ उद्देश्य है।[11] वैसे भी प्रत्येक कार्य किसी न किसी उद्देश्य अथवा प्रयोजन से ही किया जाता है, किन्तु शिव तो पूर्ण काम हैं, फिर इस जगत् की रचना में उनका क्या उद्देश्य है? शैव दार्शनिकों ने इसके दो उत्तर दिए हैं। प्रथम तो शिव क्रीड़ा या लीला करने के लिए इस जगत् की रचना करते हैं।[12] दूसरे वे शंकर हैं, अतएव 'शं' अथवा कल्याण करने के लिए अथवा जीवों पर अनुग्रह करने के लिए वे निराकार एवं अरूप होकर भी नाना आकारों एवं नाना रूपों को धारण करते हैं।[13] प्रसाद ने 'कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी

१. **रचना-मूलक सृष्टि यज्ञ यह यज्ञपुरुष का जो है।–कामायनी**, पृष्ठ १३२।
२. **जिसने रचकर फैलाया है ग्रह तारा विद्युत नखत माल।–का०**, पृष्ठ १७०।
३. **चि०**, पृष्ठ १२२; **क०**, पृष्ठ २०, २५; **कं०**, पृष्ठ २१४; **का० कु०**, पृष्ठ ६४।
४. **चि०**, पृष्ठ १२३; **क०**, पृष्ठ २६; **प्रे० प०**, पृष्ठ २३।
५. **प्र०**, पृष्ठ १६; **आँधी**, पृष्ठ १०७।
६. **कंकाल**, पृष्ठ २१५; **महाराणा का महत्व**, पृष्ठ १८।
७. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ६७; **चित्राधार**, पृष्ठ १२५।
८. **कामायनी**, पृष्ठ २४२।
९. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।
१०. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०६; **झरना**, पृष्ठ ४६।
११. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२।
१२. **क्रीडया दुःखवेद्यानि कर्मकारीणि तत्फलेः।**
संभत्स्यमानानि तथा नरकार्णवगह्वरे॥
निवासीनि शरीराणि गृह्णाति परमेश्वरः।—शिवदृष्टि १।३६, ३७।
सा एवं लक्षणा पारमेश्वरी शक्तिः स्वलीलोल्लासितस्य जगतोऽवस्थाद्वयहेतुत्वात्।
—**स्पन्दकारिका**, पृष्ठ ६।
१३. **तं शंकरं–श्रेयसः कर्त्तारं स्तुमः प्रशंसामः।–स्पन्दकारिका**, पृष्ठ ३।
ध्यानपूजाद्यसम्भवेनभक्तानुग्रहकरणाय तत्तदाकारग्रहण अविरोधात्।
—**सर्व-दर्शन-संग्रह**, पृष्ठ १५८।

व्यक्त'[1], 'सागर की भीषण तरंग सा खेल रहा वह महाकाल'[2], 'लीला उसी की जग में'[3] 'लीलामय की अद्भुत लीला'[4] आदि कहकर एक ओर तो शिव की लीला या क्रीड़ा को जगत्-निर्माण का उद्देश्य बतलाया है[5] और दूसरी ओर 'अप्रत्याशित, अप्रकटित कल्याण विश्व का करता है'[6] कहकर प्रसाद ने विश्व का कल्याण करने के लिए सृष्टि-रचना का होना सिद्ध किया है।

शिव केवल सृष्टि-कर्त्ता ही नहीं, अपितु विश्वम्भर भी हैं और बड़े प्रेम-सहित अपने पशुगण (जीवों) का प्रतिपालन करते हैं, नित्य-प्रति उनका भरण-पोषण करते हैं।[7] वे विश्व-नियंता होने के कारण तृण, वीरुध, सर्प आदि सभी के प्रतिपालक हैं।[8] वे विश्व-गृहस्थ हैं और सारा विश्व उनकी गृहस्थी है, जिसका परिपालन वे नित्य करते हैं।[9] वे निष्ठुर एवं कठोर नहीं है, अपितु एक सद् गृहस्थ की भाँति बड़े ही दयालु हैं और दया के साथ ही इस संसार का पालन करते हैं।[10] वे शीघ्र ही शान्ति एवं सुखदाता होने के कारण 'आशुतोष' कहलाते हैं[11], जगत् की पीड़ाओं से संतप्त अनाथ जीवों को शरण देने के कारण 'अशरण-शरण' के नाम से पुकारे जाते हैं।[12] यही शिव की स्थापकता है, जिसके फलस्वरूप उन्हें स्थितिकारक कहते हैं।

शिव विश्वम्भर ही नहीं, अपितु संहारकारी प्रलयंकर भी हैं।[13] वे अपने तांडव नृत्य द्वारा सृष्टि को इतना विकम्पित कर देते हैं कि उसके अनंत चेतन परमाणु बिखर जाते हैं, सूर्य, चन्द्र आदि तारे के समान दिखाई देते हैं और बड़े-बड़े भूधर धूलि के कण बनकर उड़ने लगते हैं।[14] वे जब रौद्र रूप धारण कर अपने अजगव नामक धनुप पर शिजिनी चढ़ाकर इस सृष्टि का विनाश करने के लिए

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ५३। २. **कामायनी**, पृष्ठ १७०।

३. **इन्दु, कला ३, किरण १, सं० १९६८**, पृष्ठ ३७।

४. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ ३, २३।

५. **कं०**, पृष्ठ २८; **का० कु०**, पृष्ठ १०, ११६; **आँधी**, पृष्ठ ३३; **स्कं०**, पृष्ठ १२८; **चित्राधार**, पृष्ठ १३०।

६. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २३।

७. **पशुपति निज पशुगन प्रतिपालत प्रेम सहित भल।**
विश्वम्भर नित भरत और पोषत निज जन को।—चित्राधार, पृष्ठ ७३।

८. **हे हे करुणा-सिंधु, नियन्ता विश्व के,**
हे प्रतिपालक, तृण, विरुध के, सर्प के।—करुणालय, पृष्ठ १९।

९. **करुणालय**, पृष्ठ २५; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ४, ९२।

१०. **संसार को सदय पालत जौन स्वामी।—चित्राधार**, पृष्ठ १५३।

११. **आशुतोष तव आशु-शान्ति अभिनव तेहि दीन्ही।—चि०**, पृष्ठ ६६।

१२. **चित्राधार**, पृष्ठ १३७।

१३. **कामायनी**, पृष्ठ २०२। १४. **कामायनी**, पृष्ठ २५३, २५४।

अपने नाराच छोड़ते है[१], तब उनके वे नाराच या वाण धूमकेतु के समान अपनी पूँछ में प्रलयकारिणी अग्नि लिये हुए चलते हैं और अंतरिक्ष में उनकी हुंकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है।[२] इसी कारण उन्हें 'रुद्र' नाम से भी अभिहित किया जाता है।[३] वे जीवों के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण सृष्टि के काल है। वे जब विनाश पर तुलते हैं, तब चितिमय चिता सृष्टि के विनाश के लिए अविरल गति से धधकने लगती है, इसी कारण उन्हें 'महाकाल' कहते हैं।[४] वे अपने शृंगी नामक वाद्य से भयंकर नाद उत्पन्न करते हैं, इसी कारण 'भैरव' कहलाते हैं।[५] वे कर्तृत्व मद से मत्त तथा दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्यों को क्रीड़ा-कन्दुक बनाकर इस विराट् के वर्गीकरण के लिए क्रान्ति मचाते हैं और इस क्रान्ति द्वारा उत्थान का पतन और पतन का उत्थान किया करते है।[६] वे ही समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति को मृत्यु द्वारा लौटा लेते हैं।[७] उनका विद्युत्-कटाक्ष इतना भयंकर है कि सारी सृष्टि काँपने लगती है तथा बड़े-बड़े साम्राज्य एवं सम्राट् उनकी एक दृष्टि में नष्ट हो जाते हैं।[८] उनका यह प्रकोप कभी दुर्भिक्ष एवं अकाल तक ही सीमित रहता है और कभी इतना उग्र रूप धारण कर लेता है कि उसी के कारण सूर्य अलात-चक्र की भाँति शून्य में भ्रमण करने लगता है तथा अग्नि-स्फुलिंग की वर्षा करने लगता है, हिम-टीले नवीन महानदों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और भयानक ताप से सम्पूर्ण जीव झुलसने लगते हैं। उस क्षण महाकालिक के चित्ताग्नि-साधन का सा भयंकर एवं वीभत्स दृश्य उपस्थित हो जाता है, प्रचण्ड आलोक सघन अंधकार में परिणत हो जाता है[९], सघन आकाश से प्रालेय हलाहल नीर बरसने लगता है[१०], सागर मर्यादा त्याग देते हैं और सम्पूर्ण वसुधा जल में निमग्न हो जाती है। यह है संहारकर्त्ता शिव की संहर्तृता, जिसके फलस्वरूप यह सृष्टि जहाँ से उत्पन्न होती है उसी में विलीन हो जाती है।

इन सृष्टि, स्थिति, संहार सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त वे शिव तिरोधान का कार्य भी करते हैं। इसके लिए वे नियति, काल, राग, विद्या और कला नामक पाँच

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ १८५।
२. **वही**, पृष्ठ १८५, २०२।
३. **का०**, पृष्ठ १८५, १८६, २०२, २४१, २५३; **स्कं०**, पृष्ठ ४६।
४. **का०** पृष्ठ १७०, २७३; **स्कं०**, पृष्ठ २६, ७५, ८४; **इ०**, पृष्ठ १
५. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४८; **कामायनी**, पृष्ठ २७३।
६. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३।
७. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०३; **झरना**, पृष्ठ ६२।
८. **कामायनी**, पृष्ठ २५३; **इरावती**, पृष्ठ १४।
९. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ २८, ६६, ६७, ६८।
१०. **कामायनी**, पृष्ठ १३-१५।

कंचुकों द्वारा तथा आणव, मायीय और कार्म नामक तीन मलों द्वारा प्राणियों को ऐसे भुलावे में डाल देते हैं, जिससे वे प्रकाशैक-घन-चिदात्मा-शिव के स्वरूप को नहीं देख पाते, संकुचित मनोवृत्ति वाले हो जाते हैं, अभेद को छोड़कर भेद-भाव से परिपूर्ण हो जाते हैं और भेद-दृष्टि के कारण उस एक को अनेक रूप में देखने लगते हैं।[1] प्रसाद भी यह स्वीकार करते हैं कि शिव इतने छलिया हैं और जीवात्मा को अपनी तिरोधान-शक्ति द्वारा ऐसा पागल बना देते हैं कि अपने नेत्र, मन, जल, थल, मारुत, व्योम में सर्वत्र उनका जो रूप छाया हुआ है वह जीवात्मा को दिखाई नहीं देता और वह खोजते-खोजते पागल होकर इसी नाम-रूपात्मक जगत् में खो जाता है।[2] प्राणियों को भुलावे में डालने वाली उनकी वह माया-शक्ति सम्पूर्ण आलोक-बिन्दु को घेरकर बैठी हुई नित्य मुस्कराती रहती है, यहाँ के जीवों को फँसाती रहती है और देखती रहती है कि यह सारी सृष्टि किस तरह चल-चित्रों की भाँति चारों ओर घूमती रहती है[3], किस तरह यहाँ के प्राणी अनुराग या आसक्ति में लीन रहे आते हैं और किस तरह वे भव-जाल में फँसकर माया-राज्य में अनुरक्त रहे आते हैं।[4] यहाँ प्राणी इसलिए और भुलावे में पड़ जाते हैं कि छाया-नट की भाँति वे शिव अपने छवि के परदे में छिपकर बैठे हुए सम्मोहनकारी वेणु बजाते रहते हैं, संध्या के रूप में जादूभरा अंचल डालकर अपना कौतुक कर जाते हैं और जीवात्मा उन्हें तनिक भी पहचान नहीं पाता।[5] वे प्रकृति के द्वारा प्रलोभन में डालने की चेष्टा किया करते हैं।[6] उनकी सौंदर्यमयी चंचल कृतियाँ रहस्य बनकर चारों ओर नाचती रहती हैं, जिनमें प्राणियों की दृष्टि ऐसी उलझ जाती है कि वे उस विराट् एवं अक्षय सौन्दर्यशाली को नहीं देख पाते और उसके प्रतिबिम्ब अथवा उसकी छाया में ही

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ १२, १५, १६, २३।

२. भरा नैनों में मन में रूप, किसी छलिया का अमल अनूप।
जल-थल मारुत-व्योम में, छाया है सब ओर।
खोज-खोजकर खो गई मैं, पागल-प्रेम—विभोर॥—स्कं० पृष्ठ ४७।

३. घूम रही है यहाँ चतुर्दिक चल-चित्रों की संसृति-छाया.
जिस आलोक-बिन्दु को घेरे वह बैठी मुसक्याती माया॥—का०, पृष्ठ २६४।

४. यहाँ मनोमय विश्व कर रहा रागारुण चेतन उपासना।
माया-राज्य ! यही परिपाटी पास बिछाकर जीव फाँसना॥
—कामायनी, पृष्ठ २६४।

५. छायानट छवि परदे में सम्मोहन वेणु बजाता,
संध्या कुहुकिन अंचल में कौतुक अपना कर जाता।—आँसू, पृष्ठ ३३।

६. करुणालय, पृष्ठ ७।

अपने नाराच छोड़ते हैं[1], तब उनके वे नाराच या वाण धूमकेतु के समान अपनी पूँछ में प्रलयकारिणी अग्नि लिये हुए चलते हैं और अंतरिक्ष में उनकी हुंकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है।[2] इसी कारण उन्हें 'रुद्र' नाम से भी अभिहित किया जाता है।[3] वे जीवों के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण सृष्टि के काल हैं। वे जब विनाश पर तुलते हैं, तव चितिमय चिता सृष्टि के विनाश के लिए अविरल गति से धधकने लगती है, इसी कारण उन्हें 'महाकाल' कहते हैं।[4] वे अपने श्रृंगी नामक वाद्य से भयंकर नाद उत्पन्न करते हैं, इसी कारण 'भैरव' कहलाते हैं।[5] वे कर्तृत्व मद से मत्त तथा दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्यों को क्रीड़ा-कन्दुक बनाकर इस विराट् के वर्गीकरण के लिए क्रान्ति मचाते हैं और इस क्रान्ति द्वारा उत्थान का पतन और पतन का उत्थान किया करते है।[6] वे ही समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति को मृत्यु द्वारा लौटा लेते हैं।[7] उनका विद्युत्-कटाक्ष इतना भयंकर है कि सारी सृष्टि काँपने लगती है तथा बड़े-बड़े साम्राज्य एवं सम्राट् उनकी एक दृष्टि में नष्ट हो जाते हैं।[8] उनका यह प्रकोप कभी दुर्भिक्ष एवं अकाल तक ही सीमित रहता है और कभी इतना उग्र रूप धारण कर लेता है कि उसी के कारण सूर्य अलात-चक्र की भाँति शून्य में भ्रमण करने लगता है तथा अग्नि-स्फुलिंग की वर्षा करने लगता है, हिम-टीले नवीन महानदों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और भयानक ताप से सम्पूर्ण जीव झुलसने लगते हैं। उस क्षण महाकालिक के चित्ताग्नि-साधन का सा भयंकर एवं वीभत्स दृश्य उपस्थित हो जाता है, प्रचण्ड आलोक सघन अंधकार में परिणत हो जाता है[9], सघन आकाश से प्रालेय हलाहल नीर बरसने लगता है[10], सागर मर्यादा त्याग देते हैं और सम्पूर्ण वसुधा जल में निमग्न हो जाती है। यह है संहारकर्त्ता शिव की संहर्तृता, जिसके फलस्वरूप यह सृष्टि जहाँ से उत्पन्न होती है उसी में विलीन हो जाती है।

इन सृष्टि, स्थिति, संहार सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त वे शिव तिरोधान का कार्य भी करते हैं। इसके लिए वे नियति, काल, राग, विद्या और कला नामक पाँच

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ १८५।
२. **वही**, पृष्ठ १८५, २०२।
३. **का०**, पृष्ठ १८५, १८६, २०२, २४१, २५३; **स्कं०**, पृष्ठ ४६।
४. **का०** पृष्ठ १७०, २७३; **स्कं०**, पृष्ठ २६, ७५, ८४; **इ०**, पृष्ठ १
५. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४८; **कामायनी**, पृष्ठ २७३।
६. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३।
७. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०३; **झरना**, पृष्ठ ६२।
८. **कामायनी**, पृष्ठ २५३; **इरावती**, पृष्ठ १४।
९. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ २८, ६६, ६७, ६८।
१०. **कामायनी**, पृष्ठ १३–१५।

उलझे रहे आते हैं।[१] यहाँ तक कि जो उन जीवन-धन की छवि को देखने की चेष्टा करते हैं, वहाँ दर्शकों की ऐसी भीड़ लग जाती है कि दर्शन 'करने वाले ही स्वयं एक-दूसरे के आवरण बनते चले जाते हैं और उन्हें देख नहीं पाते।[२] इस तरह वे परब्रह्म शिव अपनी आवरण-शक्ति द्वारा जीवों को इस तरह आवृत कर देते हैं कि जीव नीच एवं मूढ़ मति होकर उसके चरण-कमलों को भूल जाता है और उसके मन की गति ऐसी हो जाती है कि वह बलपूर्वक काम-क्रोध के सिंधु में दौड़कर प्रवेश करने लगता है।[3]

शिव का पंचम तटस्थ-लक्षण अनुगृहीतृता है। शिव बड़े दयालु एवं कृपालु हैं।[४] वे जगद्बन्धु कहलाते हैं।[५] उन्हें दीनों से अत्यन्त प्रेम है, इसी से वे दीनबन्धु[६], दीन-दुख-हारी[७], दीनों के सम्बल[८] आदि कहे जाते हैं। वे संसार के दलित एवं पतित प्राणियों पर अनुग्रह करके उन्हें पावन कर देते हैं। इसी से उन्हें पतित-सर्वस्व[९] तथा पतितपावन[१०] नाम से अभिहित किया जाता है। वे ही इस भवसागर में भटकने वाले जीवों के त्राणकर्त्ता हैं, इसी कारण उन्हें भवसिंधु से जीवन-नौका पार करने वाले कर्णधार[११], अनन्त-निधि के नाविक[१२] अथवा शान्तिनिधि के नाविक[१३] कह कर पुकारा जाता है। उनके हृदय में दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से संतप्त जीवों के प्रति असीम करुणा भरी हुई है, इसी कारण वे करुणा-वरुणालय, करुणानिधि अथवा करुणा-सिंधु कहलाते है।[१४] सभी जीवों पर दया करने के कारण उन्हें दया-

---

१. **सौंदर्यमयी चंचल कृतियाँ बनकर रहस्य हैं नाच रहीं,**
मेरी आँखों को रोक वहीं आगे बढ़ने में जाँच रहीं।
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी वह सब क्या छाया उलझन है ?
सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है ?—का०, पृष्ठ ६६।

२. **सब कहते हैं 'खोलो, खोलो छवि देखूँगा जीवन धन की।'**
आवरण स्वयं बनते जाते, है भीड़ लग रही दर्शन की॥—का०, पृष्ठ ६७।

३. **भूलि भूलि जात पद-कमल तिहारो कहा,**
ऐसी नीच मूढ़ मति कीन्हीं है हमारी क्यों ?—चि०, पृष्ठ १७९।

४. **कैसो अनन्त वह देव दयालु सोहै।—चित्राधार**, पृष्ठ १५३।

५. **करुणालय**, पृष्ठ २०।

६. **चित्राधार**, पृष्ठ १७९, १८५; **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३।

७. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २१। ८. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ ४२।

९. **चित्राधार**, पृष्ठ १८५।

१०. **कंकाल**, पृष्ठ ७६, २३५, २३८, २५१; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६५।

११. **चि०**, पृष्ठ १८२, १८७; **क०**, पृष्ठ ३; **का० कु०**, पृष्ठ ८; **वि०**, पृष्ठ ६६।

१२. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २०८। १३. **झरना**, पृष्ठ ६३।

१४. **करुणालय**, पृष्ठ १९, २०, २४; **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २२; **विशाख**, पृष्ठ ६५; **राज्यश्री**, पृष्ठ ६२; **चित्राधार**, पृष्ठ १८५, १८७; **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ १६।

निधि कहते हैं।[1] जगत् के कल्याण में रत रहने के कारण वे शंकर[2], विश्व-कल्याण-कर्त्ता[3], कल्याण के देवता[4], मंगलमय[5] आदि नामों से पुकारे जाते हैं। उनके अमंगलों में भी सदैव मंगल छिपा रहता है, जिसे हम नहीं समझ पाते।[6] वे इतने कृपालु हैं कि उनकी कृपा-कादम्बिनी से सदैव सुधा-नीर की वर्षा होती रहती है।[7] उनकी दया होने से सब अच्छा ही होता है तथा उनकी कृपा से सदैव सफलता मिलती है।[8] वे सदैव 'सर्व-भूत-हित' की कामना से ही दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्यों का दमन करते हैं।[9] वे दीन-दुखी-जनों का आर्त्तनाद सुनकर तुरन्त दौड़े आते हैं।[10] वे ही सुमति-दाता हैं और मानव-हृदय-भूमि को करुणा से सींचकर बोधन-विवेक-बीज अंकुरित किया करते हैं।[11] साथ ही वे इतने अनुग्रहकारी हैं कि सदैव उनके द्वारा अप्रत्याशित एवं अप्रकटित रूप में विश्व का कल्याण होता रहता है[12] तथा जब वे अनुग्रह करते हैं तो विश्व-बन्धन में पड़े हुए प्राणी के समस्त बन्धन खुल जाते हैं और वह प्रसन्न, उदार एवं विगत विकार होकर विश्व के प्राणस्वरूप शिव में ही व्याप्त हो जाता है।[13]

निराकार एवं साकार शिव

प्रसाद ने न तो शंकराचार्य की भाँति केवल निर्गुण या निराकार ब्रह्म को और न बल्लभाचार्य की भाँति केवल सगुण एवं साकार ब्रह्म को पारमार्थिक सत्ता के रूप में स्वीकार किया है, अपितु ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण तथा निराकार एवं साकार दोनों रूपों को पारमार्थिक सत्ता के रूप में मान्यता प्रदान की है। प्रसाद की यह मान्यता भारतीय उपनिषदों एवं उन्हीं की परम्परा में विकसित शैवागमों के आधार पर है, क्योंकि जिस तरह बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म के मूर्त्त एवं अमूर्त्त तथा मर्त्य (परिवर्तनशील) एवं अमर्त्य (अपरिवर्तनशील) दोनों रूप सत्य माने गये

---

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १२०। २. **चित्राधार**, पृष्ठ ६१, १२०, १२२।

३. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २३। ४. **तितली**, पृष्ठ २५०।

५. **चि०**, पृष्ठ १८६; **प्रे० प०**, पृष्ठ २३; **चं०**, पृष्ठ १०४; **इ०**, पृष्ठ २२।

६. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०४।

७. **कादम्बिनी कृपा की जिसकी सुधा-नीर बरसाती है।**—**का० कु०**, पृष्ठ ३।

८. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ६६, ६७।

९. **वही**, पृष्ठ ७३। १०. **चित्राधार**, पृष्ठ १३६।

११. **दाता सुमति दीजिए,**
मानव-हृदय-भूमि करुणा से सींचकर बोधन-विवेक-बीज अंकुरित कीजिए।
—**अजातशत्रु**, पृष्ठ ८६।

१२. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २३।

१३. **छूटे सब यह विश्व-बन्धन हो प्रसन्न उदार।**
विश्वप्राणी प्राण में हो व्याप्त विगत विकार॥—**क०**, पृष्ठ २६।

हैं[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् में अरूप एवं अनामय कहकर निराकार ब्रह्म[2] और आँख-मुख-भुजा-चरण-युक्त[3] एवं विश्व में परिवेष्टित[4] कहकर साकार ब्रह्म को मान्यता दी है तथा शैवागमों में विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय[5] तथा अमूर्त्त एवं विविध वैचित्र्ययुक्त मूर्त्त-रूप[6] में ब्रह्म को स्वीकार किया गया है, वैसे ही प्रसाद ने उस परम तत्त्व, परम ब्रह्म अथवा परम शिव को अव्यक्त[7] एवं व्यक्त[8], अमूर्त्त एवं मूर्त्त तथा नश्वर (परिवर्तनशील) एवं अविनश्वर [illegible] दोनों रूपों में स्वीकार किया है।[9]

(क) **शिव का निराकार रूप**—शैवदर्शन में शिव को अनादि, अनन्त, चिद्रूप, अक्षर, निर्विकार, शब्दरूप, अरूप, देशकालादि शून्य, विज्ञानरूप, अवाच्य, अलक्षित आदि कहकर जिस तरह शिवत्व की अनिर्वचनीयता, निर्गुणता एवं निराकारिता का निरूपण किया गया है[10], उसी तरह प्रसाद ने भी अनिर्वचनीय[11], अवाच्य एवं

---

१. द्वावेव ब्रह्मणो रूपं मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च ।—बृ० उ० २।३
२. यतो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् ।—श्वे० उ० ३।१०
३. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
—श्वे० उ० ३।३
४. विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ।—श्वे० उ० ३।७
५. विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च । —प्र० हृ०, पृष्ठ १८ ।
६. सामान्या मूर्त्तता व्याप्ता ह्यमूर्त्तत्वं तदग्रतः ।—शि० दृ०, ५।८९
७. अव्यक्त रूप है ।—चित्राधार, पृष्ठ ७२ ।
८. कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त ।—का०, पृष्ठ ५३ ।
९. मूर्त्त, नश्वर और अमूर्त्त, अविनश्वर—दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं। वायु और आकाश अमूर्त्त, अविनश्वर हैं; इनसे इतर मूर्त्त और नश्वर (परिवर्तनशील) हैं। —का० नि०, पृष्ठ ३४।
१०. यदनादि अनन्तं च परं ब्रह्म चिद्रूपं तदक्षरं निर्विकारं शब्दरूपम् ।
—शि० दृ०, पृष्ठ ३९ ।

चिद्रूपत्वमरूपकम् । —शि० दृ०, २।३
देशकालादिशून्यकम् । —शि० दृ०, २।४
आस्ते विज्ञानरूपत्वे । —शि० दृ०, २।६
अवाच्यत्वेन भवतां..........अलक्षितस्वरूपाया ।—शिवदृष्टि, २।३२

११. कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता ।
—कामायनी, पृष्ठ २६ ।

का० कु०, पृष्ठ ८१; आ०, पृष्ठ ९८ ।

शब्दातीत[1], कल्पनातीत[2], ज्ञानातीत[3], विज्ञानाकार एवं ज्ञानाधार[4], दिक्कालादि की सीमारहित[5], असीम[6], अनन्त[7], अलख[8], अरूप एवं अमूर्त्त[9], अव्यक्त[10], अभेद[11], अनूप[12], अदृष्ट[13], अचल[14], अमर[15], अविनाशी[16], अपार[17], क्षतिजपार[18], सबसे परे[19], अविकल[20], अमल[21], अज्ञेय[22], अक्षय[23], परमचिति या चेतना अथवा शुद्ध चेतन[24], निरुपम[25], निर्मम[26], निर्विकार[27] आदि कहकर शिव के निर्गुण एवं निराकार रूप का विवेचन किया है।

---

१. जो शब्द में रहत शब्द न पार पावै।—चित्राधार, पृष्ठ १५३।
२. तुम्हारा स्वरूप मनुष्य की कल्पना में नहीं आ सकता।
—चित्राधार, पृष्ठ १२९।
३. जिससे जाना जाता सब यह, उसे जानने का प्रयत्न ! अह !—ए०, पृष्ठ ८।
४. कानन-कुसुम, पृष्ठ ९४।
५. कामायनी, पृष्ठ १७०, २५२, २६१; लहर, पृष्ठ ३४।
६. कामायनी, पृष्ठ २४५, २६०; कानन-कुसुम, पृष्ठ २।
७. चि०, पृष्ठ १३५; आँसू, पृष्ठ ७०; का०, पृष्ठ ३८, ६८, १२३, १२८, १९३, २५१; वि०, पृष्ठ ११; अ० पृष्ठ ९४; प्र० २१; छाया, पृष्ठ ११४; आ०, पृष्ठ ८।
८. राज्यश्री, पृष्ठ ६८।
९. रा०, पृष्ठ ६८; ल० पृष्ठ २०; का० नि०, पृष्ठ ३४।
१०. चित्राधार, पृष्ठ ७२; कामायनी, पृष्ठ ७२।
११. झरना, पृष्ठ ४९; कामायनी, पृष्ठ २८८।
१२. झरना, पृष्ठ ५०।
१३. ल०, पृष्ठ २२, ७७; चन्द्र०, पृष्ठ २२९; अ०, पृष्ठ २८; का०, पृष्ठ १३१।
१४. कामायनी, पृष्ठ १२३, २५१।
१५. कामायनी, पृष्ठ १२२।
१६. प्रति०, पृष्ठ ६८; का० नि०, पृष्ठ ३४; का० कु०, पृष्ठ ९०।
१७. चित्राधार, पृष्ठ ३०; करु०, पृष्ठ २५।
१८. लहर, पृष्ठ ३७।
१९. चित्राधार, पृष्ठ १५३।
२०. कानन-कुसुम, पृष्ठ ८३।
२१. कानन-कुसुम, पृष्ठ ९२।
२२. वही, पृष्ठ ३।
२३. कामायनी, पृष्ठ ६६।
२४. ए०, पृष्ठ १५; ज० ना०, पृष्ठ १२, १३; का०, पृष्ठ ५३, १०२, १९३, २४२, २५२, २५८।
२५. कानन-कुसुम, पृष्ठ ४।
२६. वही, पृष्ठ ४; आँसू, पृष्ठ ६३।
२७. वही, पृष्ठ ३; कामा०, पृष्ठ २८९।

प्रसाद के इस विवेचन में 'निर्गुण' या 'निराकार' शब्द चार अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सर्वप्रथम वह रूप-हीन का द्योतक है। दूसरे, वह गुण-हीन या गुण-रहित का भी वाचक है, क्योंकि 'निर्गुण' में गुण का अर्थ—विशेषण या लक्षण होता है और जिसका किसी प्रकार के विशेषण या लक्षण के द्वारा 'इदमित्थं' निरूपण नहीं किया जा सकता, वह 'निर्गुण' कहलाता है। नेति-नेति उसकी इसी निर्विशेषता अथवा अनिर्वचनीयता का प्रतिपादक है।[1] प्रसाद ने 'कैसे हो ? क्या हो ?'[2] अथवा 'जो शब्द में रहत शब्द न पार पावै'[3] के द्वारा उसे अनिर्वचनीय, अवाच्य आदि कहकर उसके गुण-रहित रूप की ओर ही संकेत किया है। तीसरे, यहाँ निराकार या निर्गुण शब्द गुणातीत अथवा प्रकृति के सत्व, रज, तम आदि गुणों से वर्जित तथा गोत्र, वर्ण, जन्म, मरण, मोह, शोक आदि प्राकृत हेय गुणों से रहित का भी वाचक है।[4] चौथे, यहाँ 'निराकार' शब्द अखंडता, अनादिता, अनन्तता आदि का भी द्योतक है। इसी कारण प्रसाद ने शिव को अखंड, अचल, अनादि, अनन्त आदि कहा है।[5]

(ख) **शिव का साकार रूप**—शैवदर्शन में अनादि, अनंत, अमूर्त, अनवच्छिन्न, स्वतन्त्र एवं चैतन्यात्मा शिव को मायोत्तीर्ण एवं विश्वोत्तीर्ण होकर भी महामाया के अधिष्ठानभूत ब्रह्मा, विष्णु आदि के ऐश्वर्य से युक्त तथा विश्वमय कहा गया है।[6] वे अपनी इच्छा से ही कभी-कभी ज्ञान-शक्ति द्वारा विविध रूपों को धारण करते हैं।[7] वे इस जगत् में क्रीड़ा करने के लिये अपनी माया से छत्तीस तत्त्वों के रूप को ग्रहण करते हैं।[8] वे ही देवता, मनुष्य, तिर्यक् योनि आदि का सृजन करके नाना शरीरों, नाना आकारों एवं विविध भुवनों का रूप ग्रहण करते हैं।[9] इस जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ तथा नाना रूप एक शिव के ही साकार रूप हैं।[10] वे एक ही जगत् के विविध रूपों एवं विविध आकारों में स्थित हैं।[11] वे ही चित्शक्तिरूप शिव

---

१. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा**, पृष्ठ ४८।
२. **कामायनी**, पृष्ठ २६।	३. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३।
४. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३, **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३; **कामायनी**, पृष्ठ २८९।
५. **कामायनी**, पृष्ठ ३५, १२३, २५४।
६. **मायोत्तीर्ण अपि महामायाधिकृता विष्णुविरंचाद्या यदीयैश्वर्यलेशेनेश्वरीभूताः स भगवान नवच्छिन्नप्रकाशानन्दस्वातन्त्र्य परमार्थो महेश्वरः।**
—स० सं०, पृष्ठ १६८।
७. **विभर्ति रूपमिच्छाः कदाचिज्ज्ञानशक्तितः।** —**शिवदृष्टि**, १।३०
८. **आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथंचन।**
मायारूपमितीत्यादि षट्त्रिंशत्तत्वरूपताम्॥ —**वही**, १।३२
९. **तथा नानाशरीराणि भुवनानि तथा तथा।**
विसृज्य रूपं गृह्णाति प्रोत्कृष्टाधममध्यमम्॥ —**वही**, १।३४
१०. **तद्वत्सर्वपदार्थानां जगत्यैक्यै स्थितः शिवः।** —**वही**, ४।६४
११. **एकोऽपि तत्र वैरूपो बहवोऽप्येकरूपिणः॥** —**वही**, ६।११९

स्वतन्त्र होकर भी अनन्त जगत् के रूप में प्रकट हो रहे हैं[१], क्योंकि परम शिव ही विश्व-शरीर है[२], वे ही जगत् के नाना पदार्थों को रूप एवं आकार देने वाले हैं तथा वे ही जगत् के साकार विग्रह हैं।[३] इस तरह शैव दार्शनिकों ने जैसे निराकार शिव के साकार रूप की चर्चा की है, वैसे ही प्रसाद ने शिव को निराकर एवं निर्गुण कहते हुए साकार एवं सगुण भी माना है। इसी कारण प्रसाद ने शिव को धरा, कीलाल, वैश्वानर, आकाश, समीर, दिनेश, चन्द्र तथा मनुष्य—इन अष्टमूर्तियों को धारण करने वाले सिद्ध किया है।[४] प्रसाद की दृष्टि में वे अनादि एवं अनन्त माया-सम्पन्न हैं।[५] इसी कारण वे अनेकरूपी हैं[६], सहस्रमुखी हैं[७], चन्द्रिका में उनकी स्मित विद्यमान है, नदियों के निनाद में उनके हास्य की ध्वनि सुनाई पड़ती है और यह विराट् विश्व उनका विशाल मंदिर है, जिसमें तारागण की ज्योति दीपमाला है।[८] वे प्रकृति-पद्मिनी के अंशुमाली हैं और इस असीम उपवन के माली हैं।[९] वे ही यहाँ समस्त कार्यों को करते हैं, सब कुछ सुनते हैं, फल देते हैं और सब कुछ ग्रहण करते हैं।[१०] यह जगत् उन्हीं का विराट् एवं मंगलमय शरीर है[११] और वे सदैव विश्व-जनता में खड़े हुए दृष्टिगोचर होते हैं।[१२] वे कभी हमें रुलाते हैं और फिर कभी हमें हँसाते हैं।[१३] उनकी मधुर हँसी और वंकिम भ्रकुटि सभी हमें पुलकायमान करती रहती हैं।[१४] उनकी सदय एवं निर्दय दोनों ही मूर्तियाँ बड़ी मनोहर है[१५], क्योंकि वे सदैव मंगलमूर्ति हैं[१६] और उनके द्वारा किए गए अमंगल में भी सदैव कोई न कोई मंगल छिपा रहता है।[१७]

---

१. चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरित। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ ३।
२. एवं भगवान् विश्वशरीरः। —वही, पृष्ठ ९।
३. विग्रहो विग्रही चैव सर्वविग्रहविग्रही। —वही, पृष्ठ ९।
४. अष्टमूर्ति (कविता)—चित्राधार, पृष्ठ १३९-१४०।
५. कानन-कुसुम, पृष्ठ १।
६. यों ही अनेकरूपी बनकर कभी पुजाया। —कानन-कुसुम, पृष्ठ ६।
७. कहकर सहस्रमुख से जब है वही बताता। —वही, पृष्ठ ५।
८. कानन-कुसुम, पृष्ठ, २। ९. वही, पृष्ठ २।
१०. करत, सुनत, फल देत, लेत सब तुमहीं यही प्रतीत।—चि०, पृष्ठ १८६।
११. चिति का विराट् वपु मंगल।—कामायनी, पृष्ठ २८८।
१२. खड़े विश्व-जनता में प्यारे हम तो तुमको पाते हैं।—का० कु०, पृष्ठ ६१।
१३. हमको रुलाता है कभी, हाँ, फिर हँसाता है कभी। —वही, पृष्ठ ३१।
१४. मधुर हँसी, भौंह टेढ़ी सब तब पुलकित ह्वै सहिहौं।—चि०, पृष्ठ १९०।
१५. मूर्ति तुम्हारी सदय और निर्दय दोनों ही भाती हैं। —का० कु०, पृष्ठ २३।
१६. नित्य मंगलमई मूरति हिय पटल में देखि।—चित्राधार, पृष्ठ १८९।
१७. चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १०४।

प्रसाद ने शिव के साकार रूप के साथ-साथ उनके सगुण रूप का भी निरूपण किया है। शिव कर्त्ता, भर्त्ता, संहर्ता, विलयकर्ता तथा अनुग्रहकर्त्ता होने के कारण अनेक गुणों से विभूपित हैं। उनका सबसे बड़ा गुण यह है कि वे जगत् के कल्याण-कर्त्ता हैं। इसीलिए प्रसाद ने उन्हें मंगलमय विभु[१], मंगलमय भगवान्[२], कल्याणकर्त्ता एवं कल्याण-देवता[३], विश्व-मंगलकारी[४], सर्व-भूत-हित[५], मंगलमूर्ति[६] आदि नामों से अभिहित किया है। वे करुणानिधान है[७], करुणामय हैं[८] और करुणासिंधु हैं।[९] उनकी करुणा ही सबको न्याय देती है।[१०] उनकी करुणा-कादम्बिनी की चर्चा से चिर दग्ध-दुखी धरणी प्रमुदित हो सरसने लगती है।[११] वे करुणामय होने के कारण ही इस दुःखपूर्ण धरणी को अपनी क्रोड़ में चिरकालिक शान्ति एवं विश्राम प्रदान करते हैं।[१२] वे दयामय हैं[१३], दयाब्धि हैं[१४] और अपनी दया-दृष्टि से सम्पूर्ण त्रासों के नाशक हैं।[१५] उनकी असीम दया अपना स्निग्ध अंचल सब दुखियों के आँसू पोंछने के लिए सदैव हाथ में लिए रहती है[१६] और वे अनन्त दया का अभेद्य कवच पहन कर सदैव सबको सुरक्षित रखते हैं।[१७] वे बड़े क्षमाशील हैं, केवल उनमें ही क्षमा की क्षमता है[१८] और कृपा करने पर घोर से घोर कुकर्मियों को भी वे क्षमा कर देते हैं।[१९] वे बड़े भक्तवत्सल हैं और शठता करने पर भी अपने भक्त पर कृपा करते हैं।[२०] वे दीनानाथ[२१], दीनदयालु[२२], निर्बलों के बल[२३], दीनों के सम्बल[२४], दीनों के सहायक[२५], दीनवन्धु[२६] तथा दीनों के रक्षक हैं।[२७] वे किसी को हीन

---

१. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०४।
२. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ९९, **कंकाल**, पृष्ठ २१५।
३. **तितली**, पृष्ठ २५०; **विशाख**, पृष्ठ ९१।
४. **विशाख**, ६६।
५. **कंकाल**, पृष्ठ ६३, २८२।
६. **चित्राधार**, पृष्ठ १८९।
७. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ १६।
८. **का० कु०**, पृष्ठ १४; **प्र०**, पृष्ठ ५४; **रा०**, पृष्ठ ५६।
९. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३।
१०. **विशाख**, पृष्ठ ८६।
११. **राज्यश्री**, पृष्ठ ७५।
१२. **राज्यश्री**, पृष्ठ ५६।
१३. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ६६।
१४. **इन्दु, कला** २, **किरण** १, **श्रावण शुक्ला** २, **सं०** १९६७।
१५. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ६६।
१६. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ६६।
१७. **वही**, पृष्ठ ६८।
१८. **कंकाल**, पृष्ठ २९१।
१९. **कंकाल**, पृष्ठ १७०।
२०. **चित्राधार**, पृष्ठ ९१।
२१. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ १६।
२२. **कंकाल**, पृष्ठ २१५।
२३. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४२।
२४. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४२।
२५. **विशाख**, पृष्ठ ७४; **कंकाल** पृष्ठ ४५।
२६. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ १२।
२७. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १२१।

अवस्था में बहुत दिनों तक देख नहीं सकते[१] और सदैव दीनों को अपनाते हैं।[२] वे दीन दुखियों को देखकर रो पड़ते हैं[३] तथा उनके सहायक एवं संरक्षक बनकर उन्हें भीति बन्धन से छुड़ाते हैं[४], डूबतों को उबारते हैं[५], उनकी बिगड़ी को बनाते हैं[६] और उनके कर्णधार बनकर उनकी जीवन-नौका को पार लगाते हैं[७], क्योंकि दीन-दुखियों से उन्हें अत्यन्त स्नेह है।[८] वे अशरण-शरण हैं[९], उनकी शरण में जाते ही जीव के सम्पूर्ण पाप-पुण्य जलकर निर्मल हो जाते हैं और वह अखंड आनन्द-रूप हो जाता है।[१०] वे पतित-पावन एवं पापियों के उद्धारक हैं[११], अनाथों के नाथ हैं[१२], असहायों के सहायक हैं[१३], प्रणत-जन-सुखधाम हैं[१४], पथ-भ्रष्टों के पथ-प्रदर्शक हैं[१५], तृषित प्राणों के जीवन एवं निर्मल प्रेम-सुधा-स्रोत हैं[१६], संसृति के दुख के साथी हैं[१७] जगती को मंगलमय प्रकाश-प्रदाता हैं[१८], मरु-जीवन के सुधा-स्रोत हैं[१९], जीवों के जीवन हैं[२०], भू-भार उतारने वाले हैं[२१], सुप्त-जीवन को जगाने वाले हैं[२२], दुःखी जीवन को आनन्दमय बनाने वाले हैं[२३], बिगड़ी को सँवारने वाले हैं[२४], अपने पुतलों को अनन्त पथ के यात्री बनाने वाले हैं[२५], जीवन-ज्योति-स्वरूप हैं[२६], सुमतिदायक हैं[२७], शीतल एवं शान्ति पूर्ण वरदाता हैं[२८], दुस्साध्य कार्य को पूर्ण करने वाले हैं[२९], अखिल शान्तिदायक हैं[३०], विश्व के बोधक हैं[३१], समस्त जीवों के जीवन हैं[३२], तथा सद्गुण-सम्पन्न हैं।[३३] वे जगत् के रक्षक हैं[३४], जगत्पति भूप

१. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १२१।
२. **झरना**, पृष्ठ ४४।
३. **कामायनी**, पृष्ठ १३।
४. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १२८।
५. **कंकाल**, पृष्ठ १४६।
६. **वही**, पृष्ठ १४६।
७. **स्कं०** पृष्ठ ८; **वि०** पृष्ठ ६६।
८. **कंकाल**, पृष्ठ १४६।
९. **कं०** पृष्ठ २३८; **आँधी**, पृष्ठ ५२।
१०. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
११. **कंकाल**, पृष्ठ ७६, २३५, २३६, २३८, २५१; **का०, कु०**, पृष्ठ १५।
१२. **कंकाल**, पृष्ठ २९७।
१३. **कंकाल**, पृष्ठ ४५।
१४. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३।
१५. **आकाशदीप**, पृष्ठ १०।
१६. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६१।
१७. **आँसू**, पृष्ठ ७४।
१८. **आँसू**, पृष्ठ ६३।
१९. **झरना**, पृष्ठ ३२।
२०. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६५।
२१. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४१।
२२. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १२८।
२३. **वही**, पृष्ठ १२९।
२४. **वही**, पृष्ठ १४६।
२५. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६२-६३।
२६. **वही**, पृष्ठ ६८।
२७. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ८९।
२८. **कंकाल**, पृष्ठ १३४।
२९. **छाया**, पृष्ठ ६१।
३०. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९२।
३१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६१।
३२. **वही**, पृष्ठ ६५।
३३. **चित्राधार**, पृष्ठ १५५।
३४. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ १४२; **कंकाल**, पृष्ठ २९७।

हैं[१], जगदाधार हैं[२], विश्व-गृहस्थ हैं[३], मधु-क्रीड़ा-कूटस्थ है[४], जन्म-जन्म के जीवन हैं[५] और सबके जीवन-धन हैं।[६] वे ही सम्पूर्ण जीवों के प्रेममय पिता हैं, जीव उनके दुलारे पुत्र हैं, जिन्हें वे कभी दंड नहीं देते, अपितु जिनके साथ वे सदैव खेल खेलते रहते हैं।[७]

शिव के परस्पर विरोधी गुण

श्रुतियों में परात्पर ब्रह्म-स्वरूप शिव के परस्पर विरोधी गुणों की चर्चा पर्याप्त मात्रा में मिलती है।[८] इसी प्रकार रामायण[९] तथा

---

१. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३।
२. **इन्दु, कला १, किरण ८, सं० १९६६।**
३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ४, ९२।
४. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९२।
५. **आँसू**, पृष्ठ ७४।
६. **झरना**, पृष्ठ ६७; **लहर**, पृष्ठ २९।
७. **कामना**, पृष्ठ २३, २६, १००।
८.

शिवः—यजु० वा० सं० १६।१।६६।११	**रुद्रः—ऋ०** १।११४।१
शंकरः—यजु० वा० सं० १६।१।६६।४१	**उग्रः—ऋ०** २।३३।९
बभ्रुः—ऋ० २।३३।९	**हिरण्यैः—ऋ०** २।३३।९
सहस्राक्षः—अथर्व० ११।२।७	**त्र्यम्बकः—तै० ब्रा०** १।६।१०
देवानां हृदय—यजु० वा० सं० १६।१।६६।४६	**तस्कराणां पति—यजु० वा० सं०** १६।१।६६।२१
विश्वतश्चक्षुः—श्वे० उ० ३।३	**अचक्षुः—श्वे० उ०** ३।१९
सर्वतः श्रुतिः—श्वे० उ० ३।१६	**अकर्णः—श्वे० उ०** ३।१९
सर्वतः पाणिपादं—श्वे० उ० ३।१६	**अपाणिपादः—श्वे० उ०** ३।१९
एकः—श्वे० उ० ३।२	**अनेकरूपम्—श्वे० उ०** ३।१४
अणोरणीयान्—श्वे० उ० ३।२०	**महतोमहीयान्—श्वे० उ०** ३।२०
सर्वाननशिरोग्रीवः—श्वे० उ० ३।११	**अरूपम्—श्वे० उ०** ३।१०

रौद्र-कृपालु—वा० रा०, उत्तरकांड १३।२१, १६।३३
शिव-रुद्र—वा० रा०, बालकांड २३।१२, ३६।१९
पशुपति-उमापति—वा० रा०, बालकांड ४५।२१, ४३।२

महाभारत[1] में शिव के परस्पर विरोधी गुणों का उल्लेख मिलता है। पुराणों में भी शिव को विविध विरोधी गुणों से युक्त बतलाया गया है।[2] ऐसे ही शैवागमों

१.	स्थिर–जंगम	—महा०, अनु० १७।३१, १७।९२
	गोचर–अगोचर	—वही १७।३३, १७।९६
	सुरूप–विरूप	—वही १७।४८, १७।१३१
	सुवक्त्र–अमुख	—वही १७।४४, १७।५९
	सत्–असत्	—वही १७।१०८
	समाम्नाय–असमाम्नाय	—वही १७।१२३
	व्यक्त–अव्यक्त	—वही १७।१२४
	स्थाणु–मनोजव	—वही १७।३१, १७।१३६
	सूक्ष्मात्मा–महारूप	—वही १७।१४०, १७।१२६, १७।१४९
	पर–अपर	—वही १७।९८
	स्नेहन–अस्नेहन	—वही १७।९०
	बन्धकर्त्ता–बन्धविमोचन	—वही १७।१०१
	गुह्य–अगुह्य	—वही १७।९२
२.	अव्यक्त–व्यक्त	—वा० पु० २४।७१, ५४।७४, अ० पु० ७४।८२
	विष्णुरूपिन्–रूद्ररूपिन्	—म० पु० १५४।७, २४९।३८, २५०।३०
	वरदाता–दंडदाता	—म० पु० १८३।५१; सौ० पु० २।१४, ब्र० वै० पु० ३।५८
	वेत्ता–अवेत्ता	—शि० पु० ७।१।६।२३
	क्षर–अक्षर	—वि० पु० १।२०।९; सौ० पु० ५४।१४
	द्रष्टा–दृश्य	—भा० पु० ७।६।२२
	व्याप्य–व्यापक	—भा० पु० ७।६।२२
	विश्व–विश्वेश्वर	—भा० पु० ११।५।३०
	कूटस्थ–कूटवर्जित	—वा० पु० २।४२।२८
	एक–अनेक	—वि० पु० १।२०।१२
	भोक्ता–भोग्य	—वि० पु० १।९।५०
	स्थूल–सूक्ष्म	—वा० पु० ११।४।७
	मूर्त्त–अमूर्त्त	—वि० पु० १।२०।१०; क० पु० १।६।२०
	सौम्य–कराल	—वि० पु० १।२०।११

हैं[१], जगदाधार हैं[२], विश्व-गृहस्थ हैं[३], मधु-क्रीड़ा-कूटस्थ है[४], जन्म-जन्म के जीवन हैं[५] और सबके जीवन-धन हैं।[६] वे ही सम्पूर्ण जीवों के प्रेममय पिता हैं, जीव उनके दुलारे पुत्र हैं, जिन्हें वे कभी दंड नहीं देते, अपितु जिनके साथ वे सदैव खेल खेलते रहते हैं।[७]

शिव के परस्पर विरोधी गुण

श्रुतियों में परात्पर ब्रह्म-स्वरूप शिव के परस्पर विरोधी गुणों की चर्चा पर्याप्त मात्रा में मिलती है।[८] इसी प्रकार रामायण[९] तथा

---

१. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३।
२. **इन्दु, कला १, किरण ८, सं० १९६६।**
३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ४, ९२।
४. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९२।
५. **आँसू**, पृष्ठ ७४।
६. **झरना**, पृष्ठ ६७; **लहर**, पृष्ठ २९।
७. **कामना**, पृष्ठ २३, २६, १००।
८.

शिवः—यजु० वा० सं० १६।१।६६।११	**रूद्रः—ऋ० १।११४।१**
शंकरः—यजु० वा० सं० १६।१।६६।४१	**उग्रः—ऋ०** २।३३।९
वभ्रुः—ऋ० २।३३।९	**हिरण्यैः—ऋ०** २।३३।९
सहस्राक्षः—अथर्व० ११।२।७	**त्र्यम्बकः—तै० ब्रा०** १।६।१०
देवानां हृदय—यजु० वा० सं० १६।१।६६।४६	**तस्कराणां पति—यजु० वा० सं०** १६।१।६६।२१
विश्वतश्चक्षुः—श्वे० उ० ३।३	**अचक्षुः—श्वे० उ०** ३।१९
सर्वतः श्रुतिः—श्वे० उ० ३।१६	**अकर्णः—श्वे० उ०** ३।१९
सर्वतः पाणिपादं—श्वे० उ० ३।१६	**अपाणिपादः—श्वे० उ०** ३।१९
एकः—श्वे० उ० ३।२	**अनेकरूपम्—श्वे० उ०** ३।१४
अणोरणीयान्—श्वे० उ० ३।२०	**महतोमहीयान्—श्वे० उ०** ३।२०
सर्वाननशिरोग्रीवः—श्वे० उ० ३।११	**अरूपम्—श्वे० उ०** ३।१०

९. **रौद्र-कृपालु—बा० रा०, उत्तरकांड** १३।२१, १६।३३
शिव-रुद्र—बा० रा०, बालकांड २३।१२, ३६।१९
पशुपति-उमापति—बा० रा०, बालकांड ४५।२१, ४३।२

महाभारत[1] में शिव के परस्पर विरोधी गुणों का उल्लेख मिलता है। पुराणों में भी शिव को विविध विरोधी गुणो मे युक्त बतलाया गया है।[2] ऐसे ही शैवागमों

१.	स्थिर–जंगम	—महा०, अनु० १७।३१, १७।९२
	गोचर–अगोचर	—वही १७।३३, १७।९६
	सुरूप–विरूप	—वही १७।४८, १७।१३१
	सुवक्त्र–अमुख	—वही १७।४४, १७।५९
	सत्–असत्	—वही १७।१०८
	समाम्नाय–असमाम्नाय	—वही १७।१२३
	व्यक्त–अव्यक्त	—वही १७।१२४
	स्थाणु–मनोजव	—वही १७।३१, १७।१३६
	सूक्ष्मात्मा–महारूप	—वही १७।१४०, १७।१२६, १७।१४९
	पर–अपर	—वही १७।९८
	स्नेहन–अस्नेहन	—वही १७।९०
	बन्धकर्त्ता–बन्धविमोचन	—वही १७।१०१
	गुह्य–अगुह्य	—वही १७।९२
२.	अव्यक्त–व्यक्त	—वा० पु० २४।७१, ५४।७४, अ० पु० ७४।८२
	विष्णुरूपिन्–रूद्ररूपिन्	—म० पु० १५४।७, २४९।३८, २५०।३०
	वरदाता–दंडदाता	—म० पु० १८३।५१; सौ० पु० २।१४, ब्र० वै० पु० ३।५८
	वेत्ता–अवेत्ता	—शि० पु० ७।१।६।२३
	क्षर–अक्षर	—वि० पु० १।२०।९; सौ० पु० ५४।१४
	द्रष्टा–दृश्य	—भा० पु० ७।६।२२
	व्याप्य–व्यापक	—भा० पु० ७।६।२२
	विश्व–विश्वेश्वर	—भा० पु० ११।५।३०
	कूटस्थ–कूटवर्जित	—वा० पु० २।४२।२८
	एक–अनेक	—वि० पु० १।२०।१२
	भोक्ता–भोग्य	—वि० पु० १।९।५०
	स्थूल–सूक्ष्म	—वा० पु० १।१४।७
	मूर्त्त–अमूर्त्त	—वि० पु० १।२०।१०; क० पु० १।६।२०
	सौम्य–कराल	—वि० पु० १।२०।११

में भी शिव के परस्पर विरोधी गुणों का प्रतिपादन किया गया है।[1] प्रसाद ने भी इसी परम्परागत मान्यता के आधार पर परात्पर ब्रह्म रूप परम तत्व शिव की अनुपम

---

१. **प्रमेय–अप्रमेय** —**तन्त्रालोक** ८।१९०; **तन्त्रसार,** पृष्ठ ३८, ५१।

प्रमाता–प्रमेय —**तन्त्रालोक** १०।११३; **प्र० हृ०,** पृष्ठ ३, ७; **तन्त्रसार,** पृष्ठ ३८, ५१।

कार्य–कारण —**तन्त्रालोक** १।२९५, ८।३५४, ९।७; **ई० प्र०** २।४।२, २।४।८

ग्राह्य–ग्राहक —**तन्त्रालोक** ३।२१८; **शि० दृ०** ५।४०-४१

विश्वोत्तीर्ण–विश्वमय —**प्र० हृ०,** पृष्ठ ८, १८; **तन्त्रसार,** पृष्ठ २१; **ई० प्र०** ३।२।२०, ४।१।१

व्यक्त–अव्यक्त —**तन्त्रसार,** पृष्ठ ५५; **प्र० हृ०,** पृष्ठ १०।

अन्तर्मुख–बहिर्मुख —**ई० प्र०** २।४।५-६; **शि० सू० वि०** ३।४०; **शि० दृ०** २।४१

तुर्य–तुर्यातीत —**शि० सू० वि०** १।७; **तन्त्रालोक** १०।२७८

सर्व–सर्वातीत —**तन्त्रालोक** १०।२८६

वाच्य–वाचक —**शि० दृ०** ४।७९-८०; **प्र० हृ०,** पृष्ठ ४९।

सूक्ष्म–स्थूल —**शि० दृ०** १।१७, १।२७, २।५७; **ई० प्र०** ३।१।११; **स्पं० का०** ४।२१; **तन्त्रालोक** ६।३६, ६।७२, २०।५१

प्रवृत्तिरूप–निवृत्तिरूप —**शि० दृ०** १।१२, १।२५; **स्पं० का०** १।६, ३।३२

एक–अनेक —**शि० दृ०** २।४३, ४।५, ४।१२१; **ई० प्र०** २।२।१-२

दृष्ट–अदृष्ट —**शि० दृ०** १।४५, २।५५

व्याप्य–व्यापक —**तन्त्रालोक** ६।७१, ८।१०, १५।४३३; **स्पं० का०** ४।१३

गोचर–अगोचर —**शि० दृ०** २।६२; **स्पं० का०** ४।१४–१६

चित्-अचित् —**तन्त्रालोक** ९।१४५; **शि० दृ०** २।५६, १।२, ५।१४; **ई० प्र०** २।४।१९

निरवयव–सावयव —**शि० दृ०** २।२, ३।२२-२३, ४।६३

नित्य-अनित्य —**शि० दृ०** २।७७, ३।५०

मूर्त–अमूर्त —**तन्त्रालोक** ६।२९, ९।७८; **शि० दृ०** ४।३०-३१, ४।७२, ४।१०६, ५।८४, ८५

एवं अगम्य महिमा का प्रतिपादन करने के लिए उनके परस्पर विरोधी गुणों का निरूपण किया है। इसी कारण प्रसाद के शिव सर्वव्यापक[1] होकर भी सबसे परे हैं[2], कारण[3] होकर भी कार्य हैं[4], निराकार[5] होते हुए भी साकार हैं[6], अमूर्त होते हुए भी अष्टमूर्ति हैं[7], अलख[8] होते हुए भी विश्वायतन, विश्वरूप एवं विश्वशरीरी हैं[9],

---

भिन्न–अभिन्न	—शि० हृ० ४।६२, ४।६७
पृथक्–अपृथक्	—शि० सू० वि० १।२०; ई० प्र० २।२।६; शि० हृ० ४।५२
सिद्ध–साध्य	—शि० हृ० ५।६६
ज्ञात–अविज्ञात	—शि० हृ० ७।८
निराकार–सर्वाकार	—तन्त्रसार, पृष्ठ ६; शि० हृ० २।३, ७।५४, ७।६८, ७।९१
भोक्ता–भोग्य	—तन्त्रालोक ३।१९१; शि० हृ० ७।९९; स्पं० का० ३।२; तन्त्रसार, पृष्ठ ८३।
ध्याता–ध्येय	—स्पं० का० ४।१; तन्त्रसार, पृष्ठ २४।
ज्ञाता–ज्ञेय	—तन्त्रालोक १०।१२४; ई० प्र०, पृष्ठ १५, २४।
निरानन्द–चिदानन्द	—तन्त्रसार, पृष्ठ ३८।
निर्गुण–सगुण	—स्पं० का० १।५, १।५०
रूपस्थ–रूपातीत	—तन्त्रालोक १०।२८५
क्षय–अक्षय	—स्पं० का० १।१४
दूरम्–अन्तिकम्	—ई० प्र०, पृष्ठ १६, १०८।
स्थिर–चल	—तन्त्रालोक १५।४३२

१. **चि०**, पृष्ठ १५३, १५४, १८६; **का० कु०**, पृष्ठ ५; **प्रे० प०**, पृष्ठ १७; **स्कं०**, पृष्ठ ४७; **कं०**, पृष्ठ १०५, २९७।

२. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३; **कामायनी**, पृष्ठ १७०; **लहर**, पृष्ठ ३७।

३. **झरना**, पृष्ठ ४९; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०९।

४. **झरना**, पृष्ठ ४९। ५. **चित्राधार**, पृष्ठ ७२।

६. **चित्राधार**, पृष्ठ १९०।

७. **का० नि०**, पृष्ठ ३४; **चित्राधार**, पृष्ठ १२९।

८. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६८; **लहर**, पृष्ठ २०।

९. **चि०**, पृष्ठ १२४, १३९–१४०; **वि०** पृष्ठ ३१; **का० कु०**, पृष्ठ ९४।

में भी शिव के परस्पर विरोधी गुणों का प्रतिपादन किया गया है।[1] प्रसाद ने भी इसी परम्परागत मान्यता के आधार पर परात्पर ब्रह्म रूप परम तत्व शिव की अनुपम

---

१. **प्रमेय–अप्रमेय** —तन्त्रालोक ८।१६०; तन्त्रसार, पृष्ठ ३८, ५१।

प्रमाता–प्रमेय —तन्त्रालोक १०।११३; प्र० हृ०, पृष्ठ ३, ७; तन्त्रसार, पृष्ठ ३८, ५१।

कार्य–कारण —तन्त्रालोक १।२६५, ८।३५४, ६।७; ई० प्र० २।४।२, २।४।८

ग्राह्य–ग्राहक —तन्त्रालोक ३।२१८; शि० दृ० ५।४०-४१

विश्वोत्तीर्ण–विश्वमय —प्र० हृ०, पृष्ठ ८, १८; तन्त्रसार, पृष्ठ २१; ई० प्र० ३।२।२०, ४।१।१

व्यक्त–अव्यक्त —तन्त्रसार, पृष्ठ ५५; प्र० हृ०, पृष्ठ १०।

अन्तर्मुख–बहिर्मुख —ई० प्र० २।४।५-६; शि० सू० वि० ३।४०; शि० दृ० २।४१

तुर्य–तुर्यातीत —शि० सू० वि० १।७; तन्त्रालोक १०।२७८

सर्व–सर्वातीत —तन्त्रालोक १०।२८६

वाच्य–वाचक —शि० दृ० ४।७६-८०; प्र० हृ०, पृष्ठ ४६।

सूक्ष्म–स्थूल —शि० दृ० १।१७, १।२७, २।५७; ई० प्र० ३।१।११; स्पं० का० ४।२१; तन्त्रालोक ६।३६, ६।७२, २०।५१

प्रवृत्तिरूप–निवृत्तिरूप —शि० दृ० १।१२, १।२५; स्पं० का० १।६, ३।३२

एक–अनेक —शि० दृ० २।४३, ४।५, ४।१२१; ई० प्र० २।२।१-२

दृष्ट–अदृष्ट —शि० दृ० १।४५, २।५५

व्याप्य–व्यापक —तन्त्रालोक ६।७१, ८।१०, १५।४३३; स्पं० का० ४।१३

गोचर–अगोचर —शि० दृ० २।६२; स्पं० का० ४।१४–१६

चित्–अचित् —तन्त्रालोक ६।१४५; शि० दृ० २।५६, १।२, ५।१४; ई० प्र० २।४।१६

निरवयव–सावयव —शि० दृ० २।२, ३।२२-२३, ४।६३

नित्य–अनित्य —शि० दृ० २।७७, ३।५०

मूर्त–अमूर्त —तन्त्रालोक ६।२६, ६।७८; शि० दृ० ४।३०-३१, ४।७२, ४।१०६, ५।८४, ८५

एवं अगम्य महिमा का प्रतिपादन करने के लिए उनके परस्पर विरोधी गुणों का निरूपण किया है। इसी कारण प्रसाद के शिव सर्वव्यापक[१] होकर भी सबसे परे हैं[२], कारण[३] होकर भी कार्य है[४], निराकार[५] होते हुए भी साकार हैं[६], अमूर्त होते हुए भी अष्टमूर्ति है[७], अलख[८] होते हुए भी विश्वायतन, विश्वरूप एवं विश्वशरीरी हैं[९],

---

भिन्न–अभिन्न	—शि० हृ० ४।६२, ४।६७
पृथक्–अपृथक्	—शि० सू० वि० १।२०; ई० प्र० २।२।६; शि० हृ० ४।५२
सिद्ध–साध्य	—शि० हृ० ५।६६
ज्ञात–अविज्ञात	—शि० हृ० ७।८
निराकार–सर्वाकार	—तन्त्रसार, पृष्ठ ६; शि० हृ० २।३, ७।५४, ७।६८, ७।९१
भोक्ता–भोग्य	—तन्त्रालोक ३।१९१; शि० हृ० ७।९९; स्पं० का० ३।२; तन्त्रसार, पृष्ठ ८३।
ध्याता–ध्येय	—स्पं० का० ४।१; तन्त्रसार, पृष्ठ २४।
ज्ञाता–ज्ञेय	—तन्त्रालोक १०।१२४; ई० प्र०, पृष्ठ १५, २४।
निरानन्द–चिदानन्द	—तन्त्रसार, पृष्ठ ३८।
निर्गुण–सगुण	—स्पं० का० १।५, १।५०
रूपस्थ–रूपातीत	—तन्त्रालोक १०।२८५
क्षय–अक्षय	—स्पं० का० १।१४
दूरम्–अन्तिकम्	—ई० प्र०, पृष्ठ १६, १०८।
स्थिर–चल	—तन्त्रालोक १५।४३२

१. चि०, पृष्ठ १५३, १५४, १८६; का० कु०, पृष्ठ ५; प्रे० प०, पृष्ठ १७; स्कं०, पृष्ठ ४७; कं०, पृष्ठ १०५, २९७।

२. चित्राधार, पृष्ठ १५३; कामायनी, पृष्ठ १७०; लहर, पृष्ठ ३७।

३. झरना, पृष्ठ ४९; जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ १०९।

४. झरना, पृष्ठ ४९। ५. चित्राधार, पृष्ठ ७२।

६. चित्राधार, पृष्ठ १९०।

७. का० नि०, पृष्ठ ३४; चित्राधार, पृष्ठ १२९।

८. राज्यश्री, पृष्ठ ६८; लहर, पृष्ठ २०।

९. चि०, पृष्ठ १२४, १३९–१४०; वि० पृष्ठ ३१; का० कु०, पृष्ठ ९४।

सूक्ष्म[१] होते हुए भी विराट् हैं[२], दृश्य[३] होते हुए भी द्रष्टा है[४], अव्यक्त[५] होते हुए भी व्यक्त है[६], अन्तर्यामी[७] होते हुए भी बहिर्यामी है[८], अनस्तित्व[९] होते हुए भी अस्तित्व एवं शाश्वत सत्ता सम्पन्न है[१०] तथा भीषणतर[११] होते हुए भी कमनीय हैं।[१२] वे जगत् के कल्याणकारी शिवशंकर भी हैं[१३] और रुद्र-प्रलयंकर भी हैं[१४], वे व्याप्य भी हैं और व्यापक भी हैं,[१५], वे विषम भी है[१६] और समरस भी है[१७], वे जड़ भी हैं[१८] और चेतन भी हैं[१९], वे सदय भी हैं[२०] और निर्दय भी है[२१], वे नश्वर भी हैं और अविनश्वर भी हैं[२२], वे दृष्ट भी है[२३] और अदृष्ट भी हैं[२४], वे

---

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३ ।
२. **कामायनी**, पृष्ठ २४, २६; **कंकाल**, पृष्ठ १५३ ।
३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४ ।
४. **नित्य नूतन रूप हो उसका बनाकर देखते**। --**कानन-कुसुम**, पृष्ठ ११ ।
५. **चित्राधार**, पृष्ठ ७२ ।
६. **वही**, पृष्ठ ६२ ।
७. **विशाख**, पृष्ठ ७९, **आँधी**, पृष्ठ ८०; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६ ।
८ **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०९ ।
९. **कामायनी**, पृष्ठ २०, **झरना**, पृष्ठ ५०; **अ०**, पृष्ठ १४२ ।
१०. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १४२; **इरावती**, पृष्ठ ५८; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२; **झरना**, पृष्ठ ५०; **कामायनी**, पृष्ठ २६, २५२; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १२९ ।
११. **कामायनी**, पृष्ठ १८५, १८६, २५३, २५४ ।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ २६, २५४; **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३; **प्रे० प०**, पृष्ठ २५; **झरना**, पृष्ठ ५० ।
१३. **चित्राधार**, पृष्ठ २९, ७२; **इरावती**, पृष्ठ १०४; **कामायनी**, पृ० १८५ ।
१४. **कामायनी**, पृष्ठ १८५, २०२ ।
१५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०९ ।
१६. **कामायनी**, पृष्ठ ५४, १८५; **आँधी**, पृष्ठ १०५ ।
१७. **वही**, पृष्ठ ५४, २५४ ।
१८. **वही**, पृष्ठ ३; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२ ।
१९. **वही**, पृष्ठ ३; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२, १३ ।
२० **कानन-कुसुम**, पृष्ठ २३ ।
२१. **आँसू**, पृष्ठ ६३; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ४, २३ ।
२२. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ३४ ।
२३. **कामायनी**, पृष्ठ २८६ ।
२४. **लहर**, पृष्ठ २२, ७७; **आ०** पृष्ठ ९४; **ध्रु०**, पृष्ठ १३; **आ०**, पृष्ठ २८ ।

विधाता एवं स्रष्टा भी हैं[१] और संहारकर्त्ता भी हैं[२], वे ज्ञानाधार भी हैं[३] और ज्ञानातीत भी हैं[४], वे हमारे साथ खेल भी रहे हैं और हम में छिपे हुए भी हैं[५], वे प्रमाता भी हैं और प्रमेय भी हैं[६], वे ज्ञाता भी हैं और ज्ञेय भी हैं[७], वे मधु-क्रीड़ा-कूटस्थ भी हैं[८] और सबके साथ विविध क्रीड़ाएँ करते हुए कभी रुलाते हैं, कभी हँसाते हैं और जो उनकी मौज में आता है वही करते हैं।[९] सूर्य के अन्तर्गत उन्हीं का ओज प्रकट होता है और चन्द्रमा के अन्तर्गत उन्हीं की कान्ति उद्भासित होती है।[१०] वे विश्वम्भर भी हैं[११] और विश्व-संहारकर्त्ता भी हैं।[१२] वे धरा भी हैं और आकाश भी हैं।[१३] वे जल भी हैं और अग्नि भी हैं।[१४] वे दिनेश भी हैं और चन्द्र भी हैं।[१५] वे भव भी हैं और भव-छिद भी हैं[१६] तथा वे अरूप भी हैं[१७] और बहुरूप भी हैं।[१८] इस प्रकार प्रसाद ने शिव के विविध विरोधी गुणों का निरूपण करते हुए उन्हें अज्ञेय एवं अनिर्वचनीय सिद्ध किया है।

शिव का विराट् रूप—श्रुतियों में शिव के विराट् रूप का वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है।[१९] ऐसे ही पुराणों में भी शिव के विराट् रूप की चर्चा की

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ १७०, २५३; **आँधी**, पृष्ठ १०७; **प्र०**, पृष्ठ १९, २८, ३२, **प्र०**, पृष्ठ १६।
२. **कामायनी**, पृष्ठ १५७, १७०; **इरावती**, पृष्ठ १४; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ २९।
३. **का० कु०**, पृष्ठ ९४।
४. **एक घूँट**, पृष्ठ ८; **झरना**, पृष्ठ ५०।
५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०९।
६. **झरना**, पृष्ठ ६१; **एक घूँट**, पृष्ठ ८।
७. **एक घूँट**, पृष्ठ ८।
८. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९२।
९. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३१।
१०. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३।
११. **चित्राधार**, पृष्ठ ६६, ७३।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ १८५, २०२; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४६।
१३. **चित्राधार**, पृष्ठ १३९।
१४. **चित्राधार**, पृष्ठ १३९।
१५. **वही**, पृष्ठ १४०।
१६. **इन्दु**, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला २, सं० १९६७, पृष्ठ १।
१७. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६८।
१८. **चित्राधार**, पृष्ठ १२४; **झरना**, पृष्ठ ५०; **प्रे० प०**, पृष्ठ २५; **कानन कुसुम**, पृष्ठ ६; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०९।
१९. **स्थिरेभिरंगैः पुरुरूप उग्रो—ऋग्वेद २।३३।९**
स एव शतशीर्षा रुद्रः समभवत् सहस्राक्षः शतेषुधिरथ।—शतपथ ब्राह्मण ९।१।१।१
अग्ने सहस्राक्ष, हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः शतमूर्धन्निति यददः
शतशीर्षा रुद्रोऽसृज्यत शतं ते प्राणाः। —शतपथ ब्राह्मण ९।२।३।३२
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्थात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः। —श्वे० उ० ३।३
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥ —श्वे० उ० ३।१४

गई है।[1] शैवागमों में भी शिव के विराट् रूप की झाँकी स्थान-स्थान पर मिल जाती है।[2] प्रसाद ने भी इसी परम्परागत मान्यता के आधार पर शिव के विराट् रूप का निरूपण करते हुए उन्हें विश्वरूप सिद्ध किया है। इसी कारण प्रसाद ने विश्व को शिव का विराट् शरीर कहा है, शान्तिमयी दिशाओं को उनका वस्त्र बतलाया है, हिमगिरि को उनकी चिताभस्म कहा है, चन्द्र और सूर्य को उनके दोनों नेत्र बताया है, व्योम को उनके केश बतलाया है, तारागणों को उनकी नागमणियाँ कहा है, सम्पूर्ण जनों के दोषों को उनके कंठ का गरल बतलाया है, अग्नि को उनका तीसरा नेत्र कहा है, प्रकृति को उनकी पराशक्ति बतलाया है, धर्म को उनका वृषभ कहा है और इसी विराट् रूप को धारण करके उन्हें समस्त भूतों के साथ अविरल क्रीड़ा करते हुए बतलाया है।[3] इसी भाँति 'भव तुमहि' अथवा 'चन्द्रभाल सुचन्द्रनैन

---

१. सहस्रशिरसे चैव सहस्राक्षाय मीढुषे।
वराय भव्यरूपाय श्वेताय पुरुषाय च ॥ —मत्स्यपुराण ४७।१३२
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ —सौरपुराण ६६।२६
विश्वकायौ विश्वमुखौ विश्वपादकरौ शिवौ।
प्रसन्नवदनौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥ —मत्स्यपुराण ६४।११

२. श्रीपरमभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।
—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ ८।
तथा नानाशरीराणि भुवनानि तथा तथा।
विसृज्य रूपं गृह्णाति प्रोत्कृष्टाधममध्यमम् ॥ —शिवदृष्टि १।३४
का पाणिपादं क्व शिरो यथैक्यं भिन्नदेशगम्।
तद्वत्सर्वपदार्थानां जगत्यैक्ये स्थितः शिवः ॥ —शिवदृष्टि ४।६३-६४
यत्र यत्र तत्र तत्र सत्यत्वं विश्वरूपता ॥—शिवदृष्टि ४।२६
तेन संवित्तिमुकुरे विश्वमात्मानमर्पयत्।
नाथस्य वदतेऽमुष्य विमलां विश्वरूपताम् ॥ —तन्त्रालोक ३।४४
सूर्य एव हि सोमात्मा स च विश्वमयः स्थितः। —तन्त्रालोक ४।१२४
निराकारे हि चिद्धाम्नि विश्वाकृतिमये सति। —तन्त्रालोक ४।१६६
सोमसूर्याग्निभासात्म रूपं समवतिष्ठते। —तन्त्रालोक ५।२६

३. यह विराट संसार तासु, अव्यक्त रूप है।
यामें अंगन की आभा, राजत अनूप है ॥
शान्तिमयी दिग्वस्त्र, सहित वह मनहर मूरति।
चिता भस्म तममय, पै शुचि हिमगिरि सों पूरति ॥
चन्द्रसूर्य युग नैन, जबहिं वह अपने पेखत।
तबहीं तममय जगत—माँहि नर आँखिन देखत ॥
लखहु अहै यह व्योमकेश, अवली अति उज्ज्वल।
तिन महँ नागमणिन सम तारे लसत समुज्ज्वल ॥—चित्राधार, पृष्ठ ७२-७३।

त्रिनैन गिरिश गिरीश' कहकर प्रसाद ने शिव के विराट् रूप का वर्णन किया है।[1] ऐसे ही शिव के विराट् रूप की ओर संकेत करते हुए प्रसाद ने चन्द्रिका को शिव की मुस्कान कहा है, नदियों के कल-कल निनाद को शिव के हँसने की ध्वनि बतलाया है और तारिकाओं को उनके विशाल मन्दिर की दीपमाला कहा है।[2] प्रसाद ने इस जगत् को उनका विशाल मन्दिर कहा है, सुरम्य प्रकृति के कानन को उनके बाग-बगीचे बताया है, चन्द्र-दिनकर-तारे को उनके मन्दिर के दीपक कहा है और शिव को इस मन्दिर का नाथ एवं विश्व-गृहस्थ के रूप में अङ्कित किया है।[3] इसी भाँति 'कह कर सहस्रमुख से जब है वही बनाता' कह कर प्रसाद ने शिव के सहस्र मुख बतलाये है[4], 'बन गया तमस था अलक जाल' कहकर सघन अन्धकार को उनका केश-समूह कहा है[5], 'विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर' कहकर बिजली को उनका कटाक्ष कहा है[6], 'उल्लसित महा हिम धवल हास' कहकर हिमालय की उज्ज्वल हिम को उनका धवल हास कहा है[7], 'देव कौन तुम झरते तन से श्रम कण से ये तारे' कह कर तारागणों को उनके पसीने की बूँदें बतलाया है[8] तथा 'वह विराट् था हेम घोलता नया रंग भरने को आज' कहकर उस विराट् को प्रातः वेला में नया रंग भरने के लिए सुनहरी रंग घोलते हुए एक चित्रकार के रूप में चित्रित किया है।[9] इसी प्रकार प्रसाद ने शिव के विश्व-व्यापक एवं विराट् रूप की महत्ता प्रदर्शित करते हुए उन्हें 'धरा' की मूर्ति धारण करके अपने सुअन्न से जगत् का पालन करने वाला, 'कीलाल' या जल के रूप में जीवन प्रदान करने वाला, 'वैश्वानर' या अग्नि के रूप में हविष्य ग्रहण करने वाला, आकाश के रूप मे सर्वत्र व्याप्त रहने वाला, 'समीर' के रूप में प्राण धारण कराने वाला, 'दिनेश' के रूप में सर्वत्र प्रकाश फैलाने वाला, 'चन्द्रमा' के रूप में अमृत वर्षा करने वाला और 'मनुष्य' के रूप यज्ञ, अतिथि-सेवा, दुखियों का दुःख निवारण, धर्म का प्रचार आदि कार्य करने वाला सिद्ध किया है।[10]

प्रसाद के परम तत्व-निरूपण की विशेषताएँ

प्रसाद के परम तत्व सम्बन्धी विचारों की जानकारी के लिए निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य हैं :—

(१) प्रसाद ने न तो केवलाद्वैतवादियों की भाँति ब्रह्म को केवल निर्गुण स्वीकार किया है और न शुद्धाद्वैतवादियो की भाँति ब्रह्म को केवल सगुण माना है,

---

१. इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला २, सं० १९६७।
२. कानन कुसुम, पृष्ठ २।
३. कानन-कुसुम, पृष्ठ ४।
४. वही, पृष्ठ ५।
५. कामायनी, पृष्ठ २५२।
६. कामायनी, पृष्ठ २५३।
७. वही, पृष्ठ २५४।
८. वही, पृष्ठ १२३।
९. वही, पृष्ठ २४।
१०. अष्टमूर्ति (कविता), चित्राधार, पृष्ठ १३९–१४०।

अपितु विशिष्टाद्वैतवादियों की भाँति ब्रह्म को एक साथ सगुण-निर्गुण स्वीकार किया है और ब्रह्म के उक्त दोनों रूपों को सत्य एवं पारमार्थिक माना है; किन्तु जहाँ विशिष्टाद्वैतवादी ब्रह्म को चित् (जीव) एवं अचित् (जड़ जगत्) से विशिष्ट स्वीकार करते हैं, वहाँ पर प्रसाद ब्रह्म को शुद्ध चेतन स्वरूप मानते हुए जीव और जगत् से विशिष्ट न मानकर उनमें अभेद रूप से विद्यमान मानते हैं, क्योंकि प्रसाद जीव और जड़ जगत् की कोई पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि जड़ रूप में भी चेतन ही प्रकाशित होता है।[1] साथ ही जीव तो चेतन है ही। अतएव जीव और जड़ जगत् ब्रह्म के ही रूप हैं, ब्रह्म के अतिरिक्त उनकी पृथक् सत्ता नहीं है, अपितु बर्फ और जल की भाँति एक तत्व के ही विविध रूप हैं।[2]

(२) प्रसाद न तो कबीर की भाँति ब्रह्म को निर्गुण-सगुण से परे मानते हैं और न मुस्लिम एकेश्वरवादी जायसी की भाँति वे यह स्वीकार करते हैं कि जीव और जगत् के रूप में अभिव्यक्त होकर भी ब्रह्म इनसे सर्वथा परे रहता है, अपितु प्रसाद की यह स्पष्ट मान्यता है कि वह ब्रह्म यहाँ जीव एवं जगत् के रूप में अभिव्यक्त होकर इनके साथ अभेद रूप से विद्यमान रहता है। इसी कारण वे सचराचर विश्व को 'चिति का विराट् वपु मंगल'[3] कहकर ब्रह्म का विराट् शरीर मानते हैं, 'चेतन समुद्र में जीवन लहरों सा बिखर पड़ा है'[4] कहकर जीव को लहर एवं ब्रह्म को समुद्र मानकर उनके अभिन्नत्व एवं अभेद पर बल देते हैं तथा 'परा प्रकृति से परे नहीं जो हिला मिला है' कहकर उसकी केवल जगत् से परे कल्पना नहीं करते।[5]

(३) प्रसाद भी रामानुजाचार्य की भाँति ब्रह्म को लीलामय मानते हैं[6], परन्तु रामानुज अपने लीलामय भगवान् को केवल 'कारण ब्रह्म' ही स्वीकार करते हैं, जबकि प्रसाद उसे कारण और कार्य दोनों रूपों में मानते हैं। इसी कारण वे 'काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग, इच्छा का है परिणाम'[7] कहकर इस सृष्टि और स्रष्टा में क्रमशः कारण और कार्य का सम्बन्ध तो स्थापित करते हैं, किन्तु 'चिति का स्वरूप यह नित्य

---

१. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२, १३।

२. **नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन।**
एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन॥

—**कामायनी**, पृष्ठ ३।

३. **कामायनी**, पृष्ठ २८८। ४. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।

५. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६४।

६. **कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।**

—**कामायनी**, पृष्ठ ५३।

७. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।

जगत्[1] कहकर ब्रह्म को कारण और कार्य दोनों रूपों में स्वीकार कर लेते हैं। इसी भाँति 'कारण तुम्हीं थे अब कर्म हो रहे हो तुम्हीं[2]' कहकर प्रसाद ने ब्रह्म के कारण और कार्य दोनों रूपों की एकरूपता का प्रतिपादन किया है।

(४) प्रसाद ने ब्रह्म के सगुण रूप को स्वीकार तो किया है, परन्तु वे ब्रह्म को कोई अवतारी पुरुष अथवा सीमित आकार देना उचित नहीं समझते। इसी कारण प्रसाद ने प्रायः स्थान-स्थान पर ब्रह्म के विराट् रूप का ही अधिक वर्णन किया है।[3]

(५) प्रसाद ने ब्रह्म को सर्वत्र रमे रहने के कारण 'राम' कहा है[4], वृष्टि करके कृषि-उत्पादक होने के कारण 'घनश्याम' कहा है[5], जगत् के कल्याणकर्त्ता होने के कारण 'शंकर' एवं 'शिव' कहा है[6], विश्व का भरण-पोषण करने के कारण 'विश्वम्भर' कहा है[7], सृष्टि-कर्त्ता होने के कारण 'विधाता' कहा है[8], प्रलयकर्त्ता होने के कारण 'प्रलयंकर'[9], 'महाकाल'[10] तथा 'रुद्र'[11] कहा है, लिंग के रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण एकलिंगेश्वर बताया है[12] और शुद्ध चेतन-स्वरूप होने के कारण 'चिति' या 'महाचिति' के नाम से अभिहित किया है।[13] इस तरह प्रसाद ने ब्रह्म को विविध नामों एवं उपाधियों से विभूषित किया है, परन्तु उनके सर्वाधिक प्रिय नाम 'शिव' तथा 'चिति' हैं।

(६) प्रसाद ने ब्रह्म के निराकार रूप की अपेक्षा साकार रूप को अधिक महत्त्व दिया है। इसी कारण वे ब्रह्म को विश्वशरीरी मानते हैं[14] और धरा, जल, अग्नि, आकाश, समीर, दिनेश, चन्द्र और सज्जन के रूप में उनके दर्शन करना अधिक उपयुक्त समझते हैं।[15] इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण यह भी हो सकता

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २४२। २. **लहर**, पृष्ठ ४६।
३. **चित्राधार**, पृष्ठ ७२; **कामायनी**, पृष्ठ २५२-२५४, २७३।
४. **लहर**, पृष्ठ ४६; **कंकाल**, पृष्ठ २३५; **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ १२।
५. **धर्म कृषि मर्म के नवीन घनश्याम हो।—लहर**, पृष्ठ ४६।
६. **चित्राधार**, पृष्ठ २६, ७२, ११४; **इरावती**, पृष्ठ १०४।
७. **चित्राधार**, पृष्ठ ६६, ७३।
८. **ध्रुवस्वामिनी**, पृष्ठ १६, २८, ३२।
९. **कामायनी**, पृष्ठ २०२।
१०. **इरावती**, पृष्ठ ११४; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ २६; **कामायनी**, पृष्ठ २७३।
११. **कामायनी**, पृष्ठ १८५, २०२, २४१, २५३।
१२. **छाया**, पृष्ठ ६१, ६४।
१३. **कामायनी**, पृष्ठ ५३, २४२, २८८।
१४. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।
१५. **चित्राधार**, पृष्ठ १३९-१४०।

है कि निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म की उपासना करना सर्वथा कठिन है और प्रसाद के ही मत से ऐसा ब्रह्म व्यर्थ भी है, जो न कुछ करता हो, न किसी की सुनता हो और न किसी की पीड़ा दूर करता हो।[1] इसी कारण प्रसाद ने ऐसे ब्रह्म की उपासना पर ज़ोर दिया है, जो कुछ करता है, सुनता है, फल देता तथा लेता है और ऐसे ही ब्रह्म के चरणों में प्रेम करने की अभिलाषा व्यक्त की है।[2]

(७) प्रसाद ने ब्रह्म को सत्यवादियों की भाँति अचल, स्थिर, स्थाणु एवं निष्क्रिय नहीं माना है, अपितु वे ब्रह्म को सतत क्रीड़ामय मानते हैं[3], जो कभी दक्षिण पवन बनकर कलियों के साथ खेलता है, कभी भ्रमर बनकर मकरन्द-पान करता है, कभी कोयल बनकर रसीला राग गाता है और कभी प्रकृति को उषा-पट पहना कर उसके भाल पर कुंकुम-अरुण की बिन्दी लगाकर तथा उसे अपनी चिर सहचरी बनाकर नित्य नूतन क्रीड़ाएँ करता रहता है।[4]

(८) प्रसाद ने ब्रह्म में सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् का समन्वय स्थापित किया है। इसी कारण ब्रह्म को अखिल विश्व का सत्य[5], सत्य-पथ-निर्धारक[6], सत्य-तत्व[7] आदि कहकर उसके सत्य-स्वरूप का निरूपण किया गया है; कल्याण के देवता[8], विश्व-कल्याण-कर्त्ता[9], मंगलमयीमूर्ति[10], मंगलमय विभु[11], मंगलमय नटराज[12], आदि कहकर ब्रह्म के शिवम्-रूप का उल्लेख किया गया है और अनन्त रमणीय[13], कान्ति-सिन्धु[14], सौन्दर्य-सुधा-सागर[15], चिर सुन्दर[16], अखिल-लोक-ललाम[17], सुन्दरतम[18] आदि कहकर ब्रह्म के सुन्दर रूप का चित्रण किया गया है। इसके साथ ही प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है—"श्रद्धा के परिपाक में भक्ति से उसे मनुष्य कहता है—'सत्यं'। जब उसके मंगलमय स्वरूप को देखता है तब उसके मुख से

---

१. **ऐसो ब्रह्म लेइ का करि हैं ?**
जो नहिं करत, सुनत नहिं जो कछु, जो जन पीर न हरि है।
—**चित्राधार**, पृष्ठ १८६।

२. **करत, सुनत, फल देत, लेत सब तुमहीं, यही प्रतीत।**
बढ़ै हमारे हृदय सदा ही, देहु चरण में प्रीत। —**चि०**, पृष्ठ १८६।

३. **कामायनी**, पृष्ठ ५३, १७०।
४. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ १०-११।
५. **झरना**, पृष्ठ ६१।
६. **करुणालय**, पृष्ठ २६।
७. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ १७।
८. **तितली**, पृष्ठ २५०।
९. **वही**, पृष्ठ २३।
१०. **चित्राधार**, पृष्ठ १८९।
११. **चन्द्रगुप्त**, १०४।
१२. **इरावती**, पृष्ठ २२।
१३. **कामायनी**, पृष्ठ २६; **छाया**, पृष्ठ ११४।
१४. **वही**, पृष्ठ २५४।
१५. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५।
१६. **आँसू**, पृष्ठ १६।
१७. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६३।
१८. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २४।

अनायास ही—'शिवं'—निकलता है, पुनः मनुष्य उसके अलौकिक सौन्दर्य से आनंदित होकर कहता है—'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ।"[१]

(९) प्रसाद ने केवल सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने वाले त्रिदेव के रूप में ही ब्रह्म की कल्पना नहीं की है, अपितु शैवागमों के आधार पर ब्रह्म को नित्य पंचकृत्यकारी भी माना है, जिसके परिणामस्वरूप ब्रह्म सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह सम्बन्धी पाँच कार्यों में नित्य-प्रति लीन रहता है ।[२] यद्यपि उसके इन पंचकृत्यों का सम्वन्ध नियत देश-काल से है, तथापि यही उसकी नित्य लीला है और इसी लीला को वह सजग होकर इस जगत् में नित्य करता रहता है ।[३]

(१०) यद्यपि प्रसाद ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द के रूप में स्वीकार किया है[४], तथापि इन्होंने ब्रह्म के अखंड-आनन्द-स्वरूप पर सर्वाधिक जोर दिया है । इसी कारण उन्होंने स्थान-स्थान पर आनन्द-सिन्धु[५], आनन्द-अम्बुनिधि[६], अखण्ड-आनन्द-वेश[७], आनन्द-कन्द[८], आनन्द-रूप[९], आनन्द-घन[१०] आदि कहकर ब्रह्म का निरूपण किया है ।

शिव की शक्ति का स्वरूप

श्रुतिओं में सर्वप्रथम श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्तर्गत जहाँ शिव को सर्वप्रथम परब्रह्म के रूप में अङ्कित किया गया है, वहाँ प्रकृति का उल्लेख शिव की शक्ति के रूप में भी किया गया है, क्योंकि वहाँ महेश्वर को मायावी और उनकी शक्ति-स्वरूपा प्रकृति को माया बतलाया गया है[११], उसे अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करने वाली कहा गया है[१२] तथा परब्रह्म महेश्वर इसी अपनी शक्ति के द्वारा वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य, वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं, उस सबको उत्पन्न करते हैं ।[१३] इसके अतिरिक्त केन उपनिषद् में सर्वप्रथम 'उमा हेमवती' का उल्लेख मिलता है[१४], जो देवताओं की चेतन प्रज्ञा के रूप में अवतीर्ण जान पड़ती हैं और

---

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १३९ ।
२. **इरावती**, पृष्ठ ५८ । ३. **कामायनी**, पृष्ठ ५३ ।
४. **चित्राधार**, पृष्ठ १७९ । ५. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३ ।
६. **कामायनी**, पृष्ठ २८६; **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५ ।
७. **कामायनी**, पृष्ठ २५४ ।
८. **चित्राधार**, पृष्ठ १५४, १५५, १८८; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ५९ ।
९. **विशाख**, पृष्ठ ३१ ।
१०. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ५९ ।
११. **मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।** —श्वे० उ० ४।१०
१२. **बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।**—श्वे० उ० ४।५
१३. **छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।**
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्ध ।।—श्वे० उ० ४।९
१४. **केनोपनिषद्** ३।१२

इस रूप में उन्हें प्राचीन वैदिक वाग्देवता का विकासमात्र माना जा सकता है, जिसका वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में भी मिलता है।[1] 'उमा' नाम और 'हेमवती' उपाधि ये दोनों ही परवर्ती शिव-पत्नी अथवा शिव की शक्ति की ओर संकेत कर रहे हैं, परन्तु यह उमा हेमवती किस तरह शिव-पत्नी या शिव-शक्ति बनी यह अभी तक स्पष्ट नहीं है। डा० यदुवंशी का विचार है, कि 'सम्भव है इस उमा हेमवती को दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रकृति माना जाता हो और जब रुद्र की सहचरी देवता का भी इसी प्रकृति में आत्मसात् हुआ तो 'उमा' उसका एक नाम हो गया। उमा की उपाधि 'हेमवती' के कारण, जिसका प्रारम्भिक अर्थ सम्भवतः सुवर्णवर्णा अथवा सुवर्णमयी था, अपर काल में शिव की पत्नी को हिमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री माना जाने लगा। इसी रूप में उसका नाम पार्वती पड़ा, जो बाद में उनका सबसे प्रसिद्ध नाम हो गया।'[2] इसके उपरान्त शांखायन श्रौत सूत्र में सर्वप्रथम रुद्र की सहचरी देवता का वर्णन मिलता है, जिसे भवानी, शर्वानी, ईशानी, रुद्राणी और आर्गेयी नामों से अभिहित किया गया है।[3] महाभारत में आकर देवी की स्पष्ट ही शिव की शक्ति के रूप में उपासना आरम्भ हो गई, क्योंकि विराट् पर्व तथा भीष्म पर्व में दो पूरे स्तोत्रों के अन्तर्गत देवी की स्वतन्त्र उपासना का वर्णन मिलता है। विराट् पर्व में उसे दुर्गा, त्रिभुवनेश्वरी, सदाशिवा, मंगलकारिणी, कुलवर्धिनी, ब्रह्मचारिणी, महिषासुरनाशिनी, महाकाली, कीर्ति, श्री, धृति, सिद्धि, लज्जा, विद्या, कान्ति, क्षमा, दया आदि कहा गया है।[4] ऐसे ही भीष्म पर्व में कुमारी, काली, कापालि, भद्रकाली, महाकाली, चंडी, कात्यायनी, शाकम्भरी, कैटभनाशिनी, हिरण्याक्षी, विरूपाक्षी, ब्रह्मविद्या, महानिद्रा, स्कन्दमाता, भगवती, दुर्गा, कान्तार-वासिनी, स्वाहाकार, महादेवी, माया, मोहिनी, तुष्टि, पुष्टि, धृति, दीप्ति आदि कहकर स्तुति की गई है।[5] पुराणों में आकर शिव की इस शक्ति का और भी विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। वहाँ पर भी शिव की सहचरी को शिव-शक्ति, माया अथवा प्रकृति कहा गया है। शिव की यह शक्ति अथवा माया शिव से भिन्न नहीं है, अपितु अभेद रूप से विद्यमान रहती है।[6] इसी शक्ति को पार्वती भी बताया गया है और सदैव शिव से अभिन्न रहते हुए अङ्कित किया गया है।[7] उसे वहाँ शिव की ज्ञानमयी शक्ति कहा गया है, जिसके द्वारा शिव सृष्टि की रचना करते हैं, अन्त में संहार करते हैं और यही शक्ति शिव के इन कार्यों में विविध अवसरों पर विविध रूप धारण किया करती है।[8] इसे परा अथवा परम शक्ति भी कहा गया है, जो सर्वत्र व्याप्त है[9] और जिस

---

१. **बृहदारण्यक उपनिषद्** ६।१।३
२. **शैवमत**, पृष्ठ ४१।
३. **शांखायन श्रौत सूत्र** ४।१७–२०
४. **महाभारत, विराट् पर्व** ६।१–२६
५. **वही, भीष्म पर्व** २३।४–१६
६. **सौरपुराण** २।१७
७. **सौरपुराण**, ५५।७
८. **वही** २।१८, ५५।८, १४
९. **वही**, २।१४, १९

तरह अग्नि में ज्वलन शक्ति रहती है उसी तरह शिव के साथ जो सदैव अभेद रूप में स्थित रहती है।[1] पुराणों में शिव को पिता और शक्ति को महामाता भी कहा गया है[2] तथा शिव और शक्ति की इसी अभिन्नता एवं अभेद के कारण शिव को अर्धनारीश्वर के नाम से भी अभिहित किया गया है।[3] पुराणों में देवी को आद्या शक्ति अथवा आद्या प्रकृति सिद्ध करने के लिए स्थान-स्थान पर [illegible]. तीक्ष्ण-दंष्ट्रा, करालाकृति, सिंहवाहिनी, बीस भुजा वाली, ब्रह्मा-विष्णु-महेश से आराधित आदि कहा गया है।[4] अन्य स्थलों पर उसे माहेश्वरी[5], वैष्णवी[6], महामाता[7], कात्यायनी[8] आदि कहकर शिव की ही नहीं, अपितु समस्त देवताओं की शक्ति भी माना गया है।[9] इस तरह पुराणों में शक्ति को शिव की चिर सहचरी माना गया है। इसी के द्वारा शिव सृष्टि सम्बन्धी समस्त कार्य किया करते हैं। यह शक्ति शिव की समवर्तिनी है, उनसे पूर्णतया अभिन्न है। इसी को उमा, पार्वती, माहेश्वरी, महादेवी, दुर्गा, काली आदि विविध नामों से अभिहित किया गया है और इसी शक्ति के द्वारा शिव इस सम्पूर्ण सृष्टि में इस प्रकार व्याप्त रहते हैं कि वे इससे भिन्न नहीं होते।

कश्मीर-शैव-दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में भी शक्ति का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। वहाँ पर इस शक्ति को उमाकुमारी कहा गया है।[10] यह शिव भट्टारक अथवा परमेश्वर की शक्ति है, अतएव इसे पारमेश्वरी शक्ति तथा शैवी शक्ति कहा गया है।[11] यह शिव की ज्ञानज्ञेयारूपा परम शक्ति भी कहलाती है, क्योंकि इसी शक्ति से युक्त होकर शिव विविध शरीर एवं रूपमयी सृष्टि के रूप में प्रकाशित होते हैं।[12] इसी को माया-शक्ति भी कहा गया है, जो नाना प्रकार के भेद उत्पन्न करती

---

१. **सौरपुराण**, २।१८, १९
२. **अग्निपुराण** ९६।१००–१०६; **सौरपुराण** २५।१३–२३
३. **मत्स्यपुराण** ६०।२२
४. **वाराहपुराण** २८।२४, ९३, ४९।५०; **सौरपुराण** ४९।६४; **ब्रह्मवैवर्तपुराण** २।६४।१४, २।६४।१९
५. **ब्रह्मवैवर्तपुराण** २।६४।४८ ६. **ब्रह्मवैवर्तपुराण** २।६४।४४
७. **मत्स्यपुराण** १५८।११, १७६।२२; **अग्निपुराण** ९६।१००; **वायुपुराण** ९।८२-८६
८. **वाराहपुराण**, अध्याय २८।
९. **वाराहपुराण** ९०।१७; **ब्रह्मवैवर्तपुराण** २।६४।८, ४४
१०. **इच्छाशक्तिरुमाकुमारी। —शि० सू० वि० १।१३**
११. **सा एवं लक्षणा पारमेश्वरी शक्तिः।—स्पं० का०**, पृष्ठ ६।
तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवी मुखमिहोच्यते। —वि० भै० २०।
१२. **ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः।**
पद द्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः॥—स्पं० का० २।२
शक्ति संधाने शरीरोत्पत्तिः॥—शि० सू० वि० १।१९

है।[1] शिव की इसी शक्ति से उद्भूत होने के कारण सारा विश्व भी शिव की शक्ति से युक्त माना जाता है।[2] शिव के साथ यह शक्ति इस तरह अभिन्न एवं अभेद रूप में विद्यमान रहती है, जिस तरह हिम के साथ शीतलता, अग्नि के साथ उष्णता, दीपक के साथ आलोक तथा सूर्य के साथ तापमयी किरणें।[3] शक्तिमान शिव भट्टारक की भाँति शक्ति भी सर्वकार्य-समर्थ मानी गई है।[4] शिव की यह शक्ति अनेक भावरूपा है, किन्तु शक्तिमान शिव इसके साथ अभिन्न होकर अथवा एक होकर स्थित रहते हैं।[5] शिव से एकत्व एवं अभिन्नत्व होने के कारण शक्ति में शिव की तरह ही सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्व, सर्वात्मता आदि गुण सहज भाव से विद्यमान रहते हैं।[6] जिस तरह सांख्य-दर्शन में प्रकृति ब्रह्म की समवर्तिनी रहती है, उसी तरह शक्ति भी शिव की समवर्तिनी रहती है, परन्तु शैव दर्शन में विशेषता यह है कि वहाँ शक्ति को भी परम-शिव या परम-ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र माना गया है और शक्ति तथा शिव में किसी प्रकार का कोई भेद स्वीकार नहीं किया गया है। इसी कारण वहाँ स्वतन्त्र आत्मा रूप शिव या ब्रह्म को चिति-शक्ति कहा जाता है[7] और वहीं व्योमाकार रूपा, विश्वव्यापिनी एवं निराश्रया भगवती चित् शक्ति स्वतंत्र रूप से अनन्त जगत् के रूप में स्वयं प्रगट होती है।[8]

शक्ति के इसी परम्परागत रूप के आधार पर प्रसाद ने भी अपने ग्रन्थों में शिव की शक्ति का निरूपण किया है। इसी कारण वे शिव या ब्रह्म की चिर सहचरी

---

१. नानाभेदनियतात्माभिमानत्वात् तात्विकस्वैश्वर्यानभिज्ञे क्षेत्रज्ञतत्वे केवला प्रभोर्विश्वरूपैश्वर्य प्रथास्पदभूता विजृम्भते।—स्पं० का०, पृष्ठ १३२।

२. स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्।—शि० सू० वि० ३।३०

३. न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत्।—शिवदृष्टि ३।६
यथालोकेनदीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।
ज्ञायते दिग्विभादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये।—विज्ञान भै०, २१।

४. शक्तिमानेव शक्तिः स्याच्छिववत्करणार्थतः।—शिवदृष्टि ३।५

५. तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा॥—शिवदृष्टि ४।५
शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम्।
तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने॥—तन्त्रालोक १।६९

६. शक्तिशक्तिमतोर्यद्वत् अभेदः सर्वदा स्थितः।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् पराशक्तिः परात्मनः॥—वि० भै०, १८।

७. स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव।—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ १३।

८. चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति।
—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ ३।
व्योमाकारं स्वमात्मानं ध्यायेद्दिग्भिरनावृतम्।
निराश्रया चितिः शक्तिः स्वरूपं दर्शयेत् तदा॥—विज्ञानभैरव, ९२।

प्रकृति को ही शक्ति मानते हैं, जिसके साथ परम ब्रह्म रूप शिव सतत क्रीड़ा करते है।[1] प्रसाद ने प्रकृति को स्पष्ट ही परा-शक्ति बतलाया है[2] और शिव को इस परा-प्रकृति से परे नहीं, अपितु सदैव हिला-मिला या अभिन्न कहा है।[3] प्रसाद ने पार्वती या उमा को ही शिव की शक्ति माना है[4], जो महामाया भी कहलाती हैं।[5] यदि शिव जगत्पिता हैं, तो पार्वती या शक्ति जगज्जननी हैं[6], यदि शिव भव हैं तो शक्ति भवानी हैं[7], यदि शिव महेश हैं तो शक्ति महेशि हैं[8], यदि शिव विश्वम्भर हैं तो शक्ति विश्वपालिनी एवं विश्वधारिणी हैं[9], यदि शिव विश्वेश्वर हैं तो शक्ति विश्वेशि हैं[10], यदि शिव मायावी हैं तो शक्ति माया हैं[11] और यदि शिव शुद्ध चेतन हैं तो शक्ति महाचेतना हैं;[12] किन्तु यह शक्ति शिव के साथ अभिन्न या अभेद रूप से स्थित रहती है। इसी कारण शिव शक्ति-विग्रही[13], शक्ति-शरीरी[14], महाशक्ति-स्वरूप[15], शक्तिनाथ[16] तथा अर्द्धनारीश्वर[17] कहलाते हैं। इसी शक्ति को प्रसाद ने योगमाया भी कहा है, जिससे इस उज्ज्वल सृष्टि का विकास होता है[18] और इसी शक्ति को परावाणी अथवा नाद-रूपा शुद्ध अहंपरामर्शमयी शक्ति भी कहा है।[19] प्रसाद ने एक स्थान पर इसे विश्वात्मा की छाया अथवा प्रतिबिम्ब भी बतलाया है।[20] किन्तु प्रसाद की यह दृढ़ धारणा रही है कि यह शक्ति आनन्द-घन शिव में अमृत-जल के तुल्य विद्यमान हैं[21], चन्द्ररूप महेश में चन्द्रिका के तुल्य स्थित हैं[22], अग्निरूप शिव में उष्णता के समान विद्यमान हैं।[23] दोनों की एकाकारता के कारण ही प्रसाद ने इसी शक्ति को चिति एवं महाचिति कहा है[24] और बतलाया है कि जिस तरह विशाल समुद्र अपनी उत्ताल तरंगों से युक्त होकर सुशोभित होता है उसी तरह पुराण-पुरुष रूप शिव अपनी आद्या शक्तिस्वरूपा प्रकृति से मिलकर सुशोभित

१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ११; **करुणालय**, पृष्ठ ३।
२. **पराशक्ति वह प्रकृति, अङ्क महँ अति छवि छावत।—चित्राधार**, पृष्ठ ७२।
३. **पराप्रकृति से परे नहीं जो हिलामिला है।—कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।
४. **इरावती**, पृष्ठ ११।
५. **चित्राधार**, पृष्ठ १२१।
६. **चित्राधार**, पृष्ठ १२०, १२१, १२३, १२४।
७. **वही**, पृष्ठ १२३।
८. **चित्राधार**, पृष्ठ १५४।
९. **वही**, पृष्ठ १५४।
१०. **वही**, पृष्ठ १५४।
११. **कामायनी**, पृष्ठ ९७।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ १९३।
१३. **का० नि०**, पृष्ठ ३६।
१४. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
१५. **विशाख**, पृष्ठ ३१; **कामायनी**, पृष्ठ २४२।
१६. **इरावती**, पृष्ठ ५९।
१७. **का० नि०**, पृष्ठ ३६।
१८. **विशाख**, पृष्ठ ८६।
१९. **का० नि०**, पृष्ठ ४०-४१।
२०. **का० नि०**, पृष्ठ १२८।
२१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९३।
२२. **चित्राधार**, पृष्ठ १५४।
२३. **कामायनी**, पृष्ठ ३१।
२४. **कामायनी**, पृष्ठ ५३, २४२, २८८।

होते हैं ।[१] शिव की यह शक्ति अघटित-घटना-पटीयसी है ।[२] शरदकालीन छटा के के रूप में यही शक्ति जगत् में प्रस्फुटित होती है । उस क्षण यह विश्वव्यापी महा-मनोहर मूर्ति चित्तानुरंजन करती हुई स्फूर्ति का संचार करती है तथा सम्पूर्ण विश्व को आनन्द से परिपूर्ण कर देती है ।[३] इसी को करुणानिधि की शक्तिमती करुणा कहा गया है ।[४] शिव की यही शक्ति प्राकृतिक सुषमा के रूप में अद्भुत चित्रपट-सा दिखाया करती है[५] और यही आसुरी माया का रूप धारण करके जीव को फँसा लेती है तथा उसके हृदय में हिंसा जाग्रत कर देती है ।[६] सोम, सूर्य, मरुत, पवमान आदि इसी शक्ति के चिह्न हैं[७] और यह अग्नि-स्वरूपा भी मानी गई है ।[८]

प्रसाद ने इस मूलशक्ति को 'प्रेमकला' के नाम से भी अभिहित किया है और इसी से सृष्टि की सम्पूर्ण लीला का विकास सिद्ध किया है ।[९] यही 'विश्व-नाट्य-कुहक' के रूप में सर्वत्र व्याप्त है ।[१०] मानव इस उल्लासशीला शक्ति का केन्द्र माना गया है तथा मानव के जीवन को पूर्ण आनन्द-उच्छलित शक्ति का स्रोत बताया गया है ।[११] इसी शक्ति की महिमा के कारण प्राणियों का जीवन वैचित्र्य से परिपूर्ण होता है[१२], क्योंकि यह सतत परिवर्तनशीला है[१३] और शक्तिमान महेश्वर के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करती हुई आनन्द में मग्न रहती है ।[१४] प्रकृति के एक से एक मनोहर दृश्य इसी शक्ति की क्रीड़ा के सब छंद हैं ।[१५] इसे पूर्ण प्रकृति-रूपा माना गया है और इसकी नीति को भी सदैव पूर्ण बताया गया है ।[१६] अपनी इसी नीति की स्थापना के लिए यह परमात्मा-शक्ति सदा उत्थान का पतन और पतन का उत्थान किया करती है ।[१७] यह शक्ति शिव की भाँति सदैव अदृष्ट रहकर ही मानव को अपना क्रीड़ा-कंदुक बनाया करती है ।[१८] प्रकृति के मनोहर दृश्यों में जहाँ इसके सौम्य रूप का दर्शन होता है, वहाँ प्रकृति की हलचलपूर्ण स्थिति में इसके रौद्र रूप का भी साक्षात्कार होता है । अपने रौद्र रूप को प्रदर्शित करते समय यह प्रकृति में उत्पात मचाने लगती है । उस क्षण शक्ति-तरंगों में आन्दोलन होने लगता है[१९]

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २८६ ।
२. **चित्राधार**, पृष्ठ १३५ ।
३. **शारदीय महापूजन—चित्राधार**, पृष्ठ १५४ ।
४. **चित्राधार**, पृष्ठ १८७ ।
५. **करुणालय**, पृष्ठ २ ।
६. **करुणालय**, पृष्ठ ७, २१ ।
७. **कामायनी**, पृष्ठ २५ ।
८. **कामायनी**, पृष्ठ ३१ ।
९. **वही**, पृष्ठ ७२, ७३, ७६ ।
१०. **वही**, पृष्ठ ९० ।
११. **वही**, पृष्ठ १९१ ।
१२. **वही**, पृष्ठ १९१ ।
१३. **करुणालय**, पृष्ठ ७ ।
१४. **कामायनी**, पृष्ठ ५३ ।
१५. **झरना**, पृष्ठ ५२ ।
१६. **म० म०**, पृष्ठ २ ।
१७. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ७२ ।
१८. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ ७३ ।
१९. **कामायनी**, पृष्ठ १८६ ।

और इसकी तांडव लीला से प्रलय मच जाती है।[1] इसी कारण प्रसाद ने शक्ति की सम्पूर्ण लीलाओं को आश्चर्यजनक बतलाया है, उसके अनन्त-वर्ण-रंजित मनोहर रूप को आश्चर्यजनक कहा है[2] और इसे अनादि तथा अनन्त कहकर इसके स्वरूप का जानना भी सर्वथा कठिन बतलाया है।[3] वैसे यह स्पष्ट है कि यह सर्वोच्च शक्ति ही जगत् के पदार्थों के रूप में अपनी महत्ता, सौन्दर्य और ऐश्वर्य के साथ व्यक्त होती है।[4]

शक्ति के विभिन्न रूप

कश्मीर-शैव-दर्शन की भाँति प्रसाद ने भी इस शक्ति को अनन्तरूपा माना है। इसीलिये कभी यह शारदीय सुषमा के रूप में अभिव्यक्त होती है[5], तो कभी उषा-पट पहनकर तथा भाल पर कुंकुम-अरुण की विन्दी लगाकर ग्रीष्मकालीन प्रातः सुषमा के रूप में प्रकट होती है।[6] कभी यह विमल इन्दु की किरणों द्वारा चन्द्रिका के रूप में छिटकती हुई दिखाई देती है, तो कभी सागर की तरंगमालाओं के रूप में क्रीड़ा करती हुई दृष्टिगोचर होती है।[7] कभी यह असीम उपवन में प्रकृति-पद्मिनी के रूप में विकसित होती है[8] तो कभी यह कृपा-कादम्बिनी बनकर सुधा-जल बरसाया करती हैं।[9] कभी यह करुणा का रूप धारण करके विश्व के प्राणियों की नौका पार लगाया करती है, तो कभी विश्व-वीणा बनकर मधुर संगीत सुनाया करती है।[10] कभी यह वाणी बनकर परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी के रूप में अभिव्यक्त होती है[11], तो कभी दुर्गा, काली या प्रज्ञापारमितास्वरूपा उग्र तारा का रूप धारण कर शव-चिता पर नृत्य करती हुई असुरों की मुंडमालाओं से कन्दुक-क्रीड़ा किया करती है।[12] यही शक्ति कभी कृत्या का रूप धारण कर अभिशाप दिया करती है[13], तो कभी उदार एवं निर्विकार मातृमूर्ति धारण कर सबका कल्याण करती है, सबके दुःखों को स्वयं सहन करती है, सबसे कल्याणमयी वाणी कहती है और सबको क्षमा प्रदान करती है।[14] इस महाशक्ति के नित्य नूतन रूपों का निर्माण स्वयं शक्तिमान महेश्वर किया करते हैं।[15] यह महाशक्ति विविध रूप धारण करके चाहे सुकुमार क्रीड़ाएँ करे और चाहे कठोर, किन्तु इसकी समस्त क्रीड़ाएँ मंगलमयी होती हैं तथा

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ १८६। २. **चित्राधार**, पृष्ठ १३०।
३. **का० कु०**, पृष्ठ १, ३; **चि०**, पृष्ठ २६।
४. **आकाशदीप**, पृष्ठ ८६। ५. **चित्राधार**, पृष्ठ १५४।
६. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ११। ७. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ १।
८. **वही**, पृष्ठ २। ९. **वही**, पृष्ठ ३।
१०. **वही**, पृष्ठ ३। ११. **का० नि०**, पृष्ठ ४०।
१२. **स्कं०**, पृष्ठ २६, ८७, ६१। १३. **स्कं०**, पृष्ठ ८६।
१४. **कामायनी**, पृष्ठ २४६। १५. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ११।

आनन्द से परिपूर्ण रहती हैं।[1] इस तरह प्रसाद ने विविध रूप धारण करने वाली शक्ति की विविध क्रीड़ाओं का उल्लेख किया है; परन्तु शैवागमों में शक्ति के पाँच—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया—रूपों को ही प्रमुखता प्रदान की गई है।[2] प्रसाद ने भी महाशक्ति के उक्त पाँच रूपों का विशेष निरूपण किया है, जो इस प्रकार है—

(१) **चित् शक्ति**—शिव की सर्वप्रमुख चित् शक्ति केनोपनिषद् की हैमवती उमा या ब्रह्म की विद्या-शक्ति ही है, जो देवताओं की विलुप्त चेतना को जाग्रत करके ब्रह्म के स्वरूप को प्रकाशित करती है।[3] शैवागमों में भी चित् शक्ति को शिव की प्रकाशरूपता की द्योतक बतलाया गया है।[4] प्रसाद ने भी यही स्वीकार किया है कि शक्तिमान महेश्वर अपनी इसी चित् शक्ति द्वारा सदैव अभिव्यक्त होते हैं। यह चित् शक्ति ही महाचेतना है।[5] प्रसाद ने इसकी तुलना सागर से करते हुए लिखा है कि जिस तरह सागर में अनेकानेक लहरें उमड़ती हैं और उसी में विलीन होती रहती हैं, उसी तरह इस विराट् चिति के अन्दर नाना प्रकार के प्राणी जीवन धारण करते हुए नित्य उत्पन्न होते और उसी में विलीन होते रहते हैं। परन्तु जिस तरह सागर से पृथक् लहरों की कोई सत्ता नहीं है, उसी तरह इस विराट् चेतना शक्ति से पृथक् किसी भी जीवधारी का कोई अस्तित्व नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक जीवधारी को जो रूप या आकार प्राप्त होता है, उसी के कारण वह जब तक जीवित रहता है तब तक अपनी कुछ पृथक् सत्ता समझता रहता है, परन्तु विलय के उपरान्त वह फिर चित् शक्ति में उसी तरह विलीन हो जाता है, जिस तरह सागर की एक लहर उठकर कुछ क्षणों के उपरान्त सागर में ही विलीन हो जाती है।[6] यह मानव उसी चित् शक्ति या चेतना का साक्षी है[7], क्योंकि इसे चेतना का विकसित आकार माना गया है।[8] इस चित् शक्ति को प्रसाद ने भी प्रभापुंज स्वीकार किया है[9] और बतलाया है कि उस चेतन की चित् कला अथवा चित् शक्ति के कारण ही विश्व के रूप में उस विराट् पुरुष या परब्रह्म की सत्ता स्वतः अभिव्यक्त होती है।[10]

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।
२. **तन्त्रसार**, पृष्ठ ६।
३. **केनोपनिषद्** ३।१२
४. **प्रकाशरूपताचिच्छक्तिः। —तन्त्रसार**, पृष्ठ ६।
५. **कामायनी**, पृष्ठ १९३।
६. **चेतन समुद्र में जीवन लहरों सा बिखर पड़ा है,**
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना निर्मित आकार खड़ा है। —का०, पृष्ठ २८८।
७. **चेतन का साक्षी मानव। —कामायनी**, पृष्ठ २८९।
८. **यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित। —कामायनी**, पृष्ठ १९२।
९. **वह प्रभा-पुंज चितिमय प्रसाद। —कामायनी**, पृष्ठ २५३।
१०. **चेतन की चित्कला विश्व में जिसकी सत्ता। —कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।

यह परम शिव की आत्मानुभूति की शक्ति मानी गई है, क्योंकि इसी के द्वारा सजग होकर शिव अभिव्यक्त होते हुए लीलाएँ करते हैं।[१] विश्व के रूप में इसी चित् शक्ति का अभिराम उन्मीलन होता है।[२] इसी कारण प्रसाद ने इस नित्य जगत् को चिति का स्वरूप घोषित किया है, जो निरन्तर सैकड़ों रूप बदलता रहता है और जहाँ मिलन एवं विरह का नृत्य भी निरन्तर होता रहता है, फिर भी जो उल्लासपूर्ण सतत आनन्द का अनुभव करता रहता है।[3]

(२) **आनन्द-शक्ति**—इस आनन्द-शक्ति का मूल रूप में सर्वप्रथम तैत्तिरीयोपनिषद् में निरूपण किया गया है, जहाँ आनन्द को ही ब्रह्म कहकर इसी आनन्द से समस्त प्राणियों के उत्पन्न होने, इसी से जीवित रहने और अन्त में इसी के अन्तर्गत समा जाने का वर्णन किया गया है।[४] कश्मीर-शैव-दर्शन में यह परम शिव की परमानन्द अनुभव करने की स्वातन्त्र्य शक्ति मानी गई है।[५] प्रसाद ने इसी शक्ति के द्वारा परम शिव को सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होकर लीला करते हुए अखण्ड आनन्द में लीन अंकित किया है।[६] इसी आनन्द-शक्ति की ओर संकेत करते हुए प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है—'माँ, तुम शक्तिस्वरूपा हो, अन्तर्निहित आनन्द की अग्नि प्रज्वलित करो। सब मलिन कर्म उसमें भस्म हो जाएँगे। उस आनन्द के समीप पाप आने से डरेगा।'[७] निस्सन्देह इस आनन्द-शक्ति रूपी अग्नि के उदय होते ही सम्पूर्ण पाप एवं पुण्य उसमें जलकर पावन एवं निर्मल बन जाते हैं, असत्य ज्ञान का लेशमात्र भी शेष नहीं रहता और समरस अखण्ड आनन्द की उपलब्धि हो जाती है।[८] इतना ही नहीं, इस आनन्द-शक्ति का ही प्रभाव है कि जगत् के सम्पूर्ण जड़ या चेतन पदार्थ सब घुल-मिलकर समरस

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।

२. **विश्व का उन्मीलन अभिराम। —कामायनी**, पृष्ठ ५३।

३. **चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,**
वह रूप बदलता है शत शत,
कण विरह मिलनमय नृत्य निरत,
उल्लास पूर्ण आनन्द सतत। —कामायनी, पृष्ठ २४२।

४. **तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, ५।१**

५. **स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः। —तन्त्रसार**, पृष्ठ ६।

६. **आनन्द के तरल बीचिन में बिहारे। —चित्राधार**, पृष्ठ १५३।
कर रही लीलामय आनन्द। —कामायनी, पृष्ठ ५३।

७. **इरावती**, पृष्ठ ५९।

८. **सब पाप पुण्य जिसमें जल जल,**
पावन बन जाते हैं निर्मल,
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखंड आनन्द वेश। —कामायनी, पृष्ठ २५४।

हो जाते हैं, सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दृष्टिगोचर होने लगती है और आत्मा अखण्ड एवं अविच्छिन्न रूप से अत्यधिक गहन आनन्द में निमग्न हो जाती है।[१] इस तरह प्रकृति एवं पुरुष अथवा शक्ति एवं शक्तिमान दोनों का एकाकार होकर चिर मिलन कराना ही आनन्द-शक्ति का कार्य है, जहाँ अखण्ड शान्ति, अखण्ड आलोक एवं अखण्ड आनन्द के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता।[२] उस क्षण वह [illegible] अपनी चिर-सहचरी प्रकृति के साथ मिलकर पुलकायमान होता हुआ आनन्द में विभोर हो जाता है; जिस तरह विशाल समुद्र अपनी उत्ताल तरंगों के साथ लहराता हुआ शोभायमान होता है, उसी तरह परम शिव भी अपनी शक्ति के साथ क्रीड़ा करता हुआ स्वशक्ति-तरंगायित आनन्द-अम्बुनिधि के रूप में शोभायमान होता है।[3] इस तरह यह आनन्द-शक्ति ही परम शिव को अखण्ड आनन्द प्रदान करती है। यही स्फूर्ति उत्पन्न करके चित्तानुरंजन करती हुई शक्तिमान परमेश्वर को आनन्द से परिपूर्ण करती है।[४] इसी आनन्द-शक्ति रूपी सूर्य की किरणों से जगत् में सर्वत्र आनन्द का प्रकाश फैलता है।[५] इसी शक्ति के द्वारा प्रमुदित मन से उस आनन्द-अम्बुनिधि में मिलन होता है, जहाँ फिर क्षणिक वियोग भी पास नहीं फटकता।[६] इसी आनन्द-शक्ति से परिपूर्ण होने के कारण शिव या परब्रह्म को आनन्द-रूप[७] तथा आनन्दघन[८] कहा जाता है और इसी आनन्द-शक्ति के प्रताप से जीवात्मा की स्वप्न, सुषुप्ति तथा जागरण की अवस्थाएँ भस्म हो जाती हैं, उसकी इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान की समस्त शक्तियाँ भी मिलकर लय हो जाती हैं और वह दिव्य अनाहत नाद में तन्मय होकर आनन्द-पद-संल्लीन हो जाता है।[९]

---

१. **समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।**
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था। --कामायनी, पृष्ठ २९४।

२. **प्रलय—प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ७१।

३. **चिर मिलित प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन,**
निज शक्ति तरंगायित था आनन्द अम्बुनिधि शोभन।
—कामायनी, पृष्ठ २८६।

४. **चित्तरंजन करति आनन्द भरति है धरि स्फूर्ति। —चित्राधार**, पृष्ठ १५४।

५. **आनन्द-दिनकर-किरण-कला ते सदा जहाँ उजियारा। —चित्राधार**, पृष्ठ १८८।

६. **मिलो उसी आनन्द-अम्बुनिधि में मन से प्रमुदित होकर।**
यह जो क्षणिक वियोग, वहाँ पर नहीं फटकने पावेगा।
एक सिंधु में मिलकर अक्षय सम्मेलन होगा सुंदर।
फिर न बिछुड़ने का भय तुमको-मुझको होगा कहीं कभी।
—प्रेम-पथिक, पृष्ठ २५।

७. **तू खोजता किसे, अरे आनन्द रूप है। —विशाख**, पृष्ठ ३१।

८. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ५९।

९. **कामायनी**, पृष्ठ २७३।

(३) **इच्छा-शक्ति**—परमेश्वर की इस इच्छा-शक्ति का मूल उद्गम भी उपनिषद् ग्रन्थ हैं। लगभग सभी प्रमुख उपनिषदों में लिखा है कि ब्रह्म ने इच्छा की कि मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ और अपनी इच्छा या कामना के आधार पर उसने सृष्टि का विकास किया।[१] शैवागमों के आधार पर इच्छा वह शक्ति है जिसके द्वारा परम शिव के हृदय में सृष्टि-कार्य करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है।[२] यह तो मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब तक हृदय में किसी कार्य को करने की इच्छा उत्पन्न नहीं होती, तब तक कोई किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। श्रुतियों में भी लिखा है कि ब्रह्म के हृदय में जब सृष्टि-निर्माण की इच्छा उत्पन्न हुई, तब वह सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त हुआ। इसलिये प्रभु की इच्छा ही सृष्टि है।[3] शैव दर्शन भी यही मानता है कि शिवभट्टारक सृष्टि की विचित्र रचना करने के लिए तथा सृष्टि के अन्य नाना कार्यों में अपनी इच्छा से ही उन्मुख होते हैं।[४] इसी कारण प्रसाद ने भी इच्छा-शक्ति को लोक की भाव-भूमिका कहा है, जो समस्त पाप-पुण्यों की जननी है तथा जिसकी अग्नि में गलकर सभी प्रकार के स्वभाव इस तरह निर्मित हुआ करते है, जिस तरह अग्नि में गलकर किसी धातु से विविध प्रकार की मूर्तियों का निर्माण हुआ करता है।[५] प्रसाद ने इस इच्छा-शक्ति को रागारुण भावमयी प्रतिमा कहा है, जिसका सूक्ष्म एवं छायामय कलेवर अत्यन्त कमनीय होता है तथा जो शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध की पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियों के रूप में भाव-जगत् के अन्तर्गत इस तरह चारों ओर नृत्य किया करती है, जिस तरह किसी कमनीय उद्यान में रूपवती रंगीन तितलियाँ चारों ओर नाचती हुई सी दिखाई देती हैं।[६] इच्छा-शक्ति का यह भावलोक बड़ा ही अद्भुत है, क्योंकि यहाँ चारों ओर सृष्टि-कार्य करने की अभिलाषाओं के चलचित्र निरन्तर घूमते रहते हैं और इन चित्रों का संचालन इसी इच्छा-शक्ति के हाथ में रहता है, जो अभिलाषायें जगाकर स्वयं बैठी-बैठी मुस्कराया करती है।[७] यह इच्छा-शक्ति ही भाव-चक्र को चलाया करती है। यह भाव-चक्र इसी इच्छा की नाभि पर घूमा करता है और इस चक्र को नवरस भरी अरायें सतत घूमती हुई अविरल गति

---

१. छां० उ० ६।३।६।२; ऐ० उ० १।१।१,३; बृ० उ० १।४।१७

२. **तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। —तन्त्रसार**, पृष्ठ ६।

३. **इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।**

—मां० उ०, आगम प्रकरण, ८।

४. **विचित्ररचनानानाकार्यसृष्टिप्रवर्तने।**
भवत्युन्मुखिता चित्ता सेच्छायाः प्रथमा तुटिः॥ —शिवदृष्टि १।८

५. **भाव भूमिका इसी लोक की जननी है सब पाप पुण्य की।**
ढलते सब, स्वभाव प्रतिकृति बन गल ज्वाला से मधुर ताप की।

—कामायनी, पृष्ठ २६४।

६. **कामायनी**, पृष्ठ २६२। ७. **कामायनी**, पृष्ठ २६४।

से इस भाव-चक्र के गोल घेरे को चकित होकर स्पर्श किया करती हैं।[1] तात्पर्य यह है कि समस्त भाव-लोक का संचालन करने वाली तथा विविध अभिलाषाओं एवं एषणाओ को जाग्रत करके अपने माया-राज्य में लिप्त करने वाली यह इच्छा-शक्ति ही है, जिससे शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा अपने विशुद्ध एवं तटस्थ रूप को भूलकर इस रागारुण चेतन की उपासना में लीन हो जाती है और इस माया-जगत् के विविध प्रपंचों के जाल में फँसकर सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त हो जाती है।[2] इसी कारण प्रसाद ने इस इच्छा-शक्ति को सृष्टि-कार्य की विविध रंगीन एवं उद्दाम लालसाओं से परिपूर्ण होने के कारण जहाँ एक ओर वसंत का उद्गम कहा है, वहाँ असफलता, निराशा आदि से संयुक्त होने के कारण पतझड़ से परिपूर्ण भी कहा है। इसी तरह सुख की ओर प्रवृत्त करने के कारण जहाँ इसे अमृतरूपा कहा गया है, वहाँ दुःख की ओर ले जाने वाली होने के कारण इसे हलाहलरूपा भी माना गया है।[3] निस्सन्देह इस इच्छा-शक्ति के अन्तर्गत वसन्त और पतझड़, अमृत और विष, सुख और दुःख सभी सतत विद्यमान रहते हैं, क्योंकि यह पाप और पुण्य एवं अच्छे एवं बुरे सभी प्रकार के भावों की प्रेरिका है। इसी से प्रेरित होकर जगत् के सम्पूर्ण कार्य होते हैं[4] और इसी प्रच्छन्न शक्ति की प्रेरणा से मानव जीवन-पथ पर अग्रसर होता है।[5] यही वह शक्ति है जिससे प्रेरित होकर परम चिति स्वरूप शिव मंगल से मण्डित श्रेयरूप इस सृष्टि का निर्माण करते है। इसी कारण इस जगत् को इच्छा का परिणाम कहा गया है।[6] यह इच्छा-शक्ति ही एक ओर काम का रूप धारण करके तृष्णा को विकसित करती है, तो दूसरी ओर रति का रूप ग्रहण करके तृप्ति का मार्ग दिखाया करती है तथा इस तरह काम और रति दोनों के समन्वय द्वारा जीवात्मा को लौकिक आनन्द के पथ की ओर अथवा सृजन-कार्य की ओर अग्रसर किया करती है।[7] इसी कारण प्रसाद ने इस इच्छा-शक्ति को अत्यन्त आकर्षणमयी कहा है तथा इसे अनादि वासना बत-

१. **भाव-चक्र यह चला रही है इच्छा की रथ-नाभि घूमती।**
—कामायनी, पृष्ठ २६४।

२. **माया राज्य ! यही परिपाटी पास बिछाकर जीव फांसना।**
—कामायनी, पृष्ठ २६४।

३. **अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं सुख-दुख बँधते एक डोर हैं।**
—कामायनी, पृष्ठ २६५।

४. छाया, पृष्ठ ६४। ५. छाया, पृष्ठ ६९।

६. **काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग, इच्छा का है परिणाम। —का०**, पृष्ठ ५३।

७. **हम भूख प्यास से जाग उठे आकांक्षा-तृप्ति समन्वय में,**
रति काम बने उस रचना में जो रही नित्य यौवन वय में।
मैं तृष्णा था विकसित करता, वह तृप्ति दिखाती थी उनको।
आनन्द समन्वय होता था हम ले चलते पथ पर उनको।
—कामायनी, पृष्ठ ७४।

लाया है, जो स्रष्टा के हृदय में अव्यक्त-प्रकृति के उन्मीलन से पूर्व चाह के रूप में विद्यमान रहती है।[१] इस इच्छा-शक्ति के काम तथा रति दोनों रूपों के संयोग से ही सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है और वह अव्यक्त प्रकृति अभिव्यक्त होकर विविध आकारों में दृष्टिगोचर होने लगती है।[२]

(४) **ज्ञान-शक्ति**—इसका सर्वप्रथम संकेत मुण्डक उपनिषद् में मिलता है, वहाँ लिखा है कि ब्रह्म के ज्ञानमय तप से ही नामरूपात्मक जगत् की उत्पत्ति हुई है।[3] यह ज्ञानमय तप और कुछ नहीं ज्ञान-शक्ति ही है, जो परमेश्वर की प्रमुख शक्ति के रूप में यहाँ अंकित है और जिसे कश्मीर-शैव-दर्शन में महेश्वर की पाँच शक्तियों में स्थान दिया गया है।[४] कश्मीर-शैव-दर्शन में यह परमेश्वर की सर्वज्ञता की शक्ति है।[५] इसके द्वारा ही शिव सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए इस शक्ति के द्वारा परम शिव में वेद्योन्मुखता आती है तथा इसी के द्वारा जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों का चित् सम्बन्ध उस पूर्ण चेतन के साथ स्थापित होता है।[६] प्रसाद भी इस शक्ति को ज्ञान-क्षेत्र की संचालिका मानते हैं, जो सुख-दुःख से उदासीन होकर निर्मम न्याय किया करती है, जो बुद्धि-चक्र का प्रवर्तन करती है तथा जिसमें तनिक भी दैन्य भाव दिखाई नहीं देता।[७] यह ज्ञान-शक्ति अज्ञानान्धकार को भेदकर शरद् की धवल ज्योत्स्ना के समान प्रस्फुटित होती है।[८] इसी के द्वारा यह बोध होता है कि इन्दु की विशाल किरणों में उसी परब्रह्म का प्रकाश विद्यमान है, इसी के द्वारा पता चलता है कि उसकी अनादि एवं अनन्त माया जगत् को अपनी लीला दिखा रही है, इसी ज्ञान-शक्ति द्वारा सागर को देखकर उसकी दया के प्रसार का बोध होता है और इसी के

---

१. **जो आकर्षण बन हँसती थी रति थी अनादि वासना वही,**
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के अन्तर में उसकी चाह रही।
—**कामायनी**, पृष्ठ ७२।

२. **हम दोनों का अस्तित्व रहा उस आरम्भिक आवर्तन सा,**
जिससे संसृति का बनता है आकार रूप के नर्तन सा।
—**कामायनी**, पृष्ठ ७२।

३. **यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।**
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ —मुण्डकोपनिषद् १।१।९

४. **शक्ति ऑर डिवाइन पॉवर—डा० सुधेन्दुकुमार दास**, पृष्ठ ५६।

५. **आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः। —तन्त्रसार**, पृष्ठ ६।

६. **काश्मीर शैविज़्म, भाग** १, पृष्ठ ४५।

७. **प्रियतम! यह तो ज्ञान क्षेत्र है सुख-दुख से है उदासीनता।**
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है, बुद्धि-चक्र, जिसमें न दीनता।
—**कामायनी**, पृष्ठ २६९।

८. **यहाँ शरद की धवल ज्योत्स्ना अन्धकार को भेद निखरती।**
—**कामायनी**, पृष्ठ २७१।

द्वारा यह पता चलता है कि सागर की तरंग-मालाएँ उसी परब्रह्म की प्रशंसा का राग गाया करती हैं।[१] इसी ज्ञान-शक्ति से सब कुछ जाना जाता है,[२] इसी से विश्व-बोध होता है[३] और इसी से उस अखिल ब्रह्माण्ड-नायक का पता चलता है कि वह जल, भूमि, अनिल, तारा, शशांक, आकाश, अनल आदि सब में व्याप्त है।[४] इसी ज्ञान-शक्ति के कारण वह विज्ञानाकार कहलाता है और इसी के कारण उसे ज्ञानाधार कहा जाता है।[५] इस प्रकार यह ज्ञान-शक्ति आत्मबोध एवं जगद्बोध दोनों का मूलाधार है, इसी के सहारे अखिल ऐश्वर्यपूर्ण परम रमणीय प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन किया जाता है और इसी के द्वारा विज्ञान का सहारा लेकर जड़ता को चैतन्य-रूप प्रदान किया जाता है।[६]

(५) **क्रिया-शक्ति**—उपनिषदों में इस शक्ति के लिए 'सत्' शब्द का प्रयोग मिलता है। डा० सुधेन्दुकुमार दास का मत है कि यह 'सत्' शब्द ही परमेश्वर की कृतित्व शक्ति अथवा क्रिया-शक्ति या त्रिकदर्शन की विमर्श शक्ति का वाचक है।[७] किन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो 'सत्' की अपेक्षा 'तप' शब्द अधिक क्रिया-शक्ति के निकट जान पड़ता है, क्योंकि 'ज्ञानमय तप' शब्द में ज्ञान तो निस्संदेह ज्ञान-शक्ति की ओर संकेत कर रहा है, किन्तु 'तप' शब्द प्रत्येक स्थान पर ब्रह्म के कर्तृत्व की ओर संकेत करता है। उपनिषदों में लिखा भी है कि ब्रह्म ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से तप किया और इसी तप के द्वारा ब्रह्म ने रयि और प्राण नामक जोड़े को उत्पन्न किया, जिससे आगामी सृष्टि उत्पन्न हुई।[८] कश्मीर-शैव-दर्शन में भी क्रिया-शक्ति को शिव की उत्पादन-शक्ति माना गया है। अतः 'तप' क्रिया-शक्ति का द्योतक जान पड़ता है। शैवागमों में यह परम शिव की वह शक्ति है जिसके द्वारा वे सर्वाकार-योगित्व को प्राप्त होकर स्वेच्छानुसार विविध कार्य किया करते हैं।[९] प्रसाद ने इसे कर्म-लोक की प्रेरिका-शक्ति बतलाया है, जो कर्म-चक्र का प्रवर्त्तन करती हुई सबके हृदय में कोई न कोई नित्य नई एषणा जाग्रत करती रहती है, जिससे प्राणी श्रममय कोलाहल एवं पीड़नमय विकलता का शिकार बनकर यंत्र की तरह निरंतर कार्य में लगा रहता है

---

१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ १।
२. **जिससे जाना जाता सब यह। —एक घूँट**, पृष्ठ ८।
३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६०। ४. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ५-६।
५. **वही**, पृष्ठ ६४।
६. **कामायनी**, पृष्ठ १७१।
७. **शक्ति ऑर डिवाइन पॉवर**, पृष्ठ ५०-५१।
८. **प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपो तप्यत, स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चैत्यतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥**

—प्रश्नोपनिषद् १।४
९. **सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। —तन्त्रसार**, पृष्ठ ६।

और क्षणभर भी विश्राम नहीं करता।[1] प्रसाद ने इस क्रिया-शक्ति को नील लोहित ज्वाला बतलाया है, जो नित्य-प्रति जलाकर और गलाकर ऐसी धातु ढालती रहती है, जो सभी प्रकार की चोट सहन कर सकती है और जिसको मृत्यु भी कभी पीड़ा नहीं पहुँचाती अर्थात् यह क्रिया-शक्ति निरन्तर कर्मशील बनाकर प्राणी को इतना सहनशील एवं सुदृढ़ बना देती है कि उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं सालता।[2] इसी क्रिया-शक्ति के कारण परम शिव या ब्रह्म प्रत्येक अणु के अन्तर्गत उसके स्वभावानुसार गति-विधि का निर्धारण करता है और नित्य-नवल-सम्बन्ध-सूत्रों को अद्‌भुत ढंग से स्थापित किया करता है।[3] इसी क्रिया-शक्ति के फलस्वरूप वह अनेक रूप धारण करता है।[4] इसी क्रिया-शक्ति के आधार पर वह अनेक खेल खेलता है[5], वह सूक्ष्म होकर भी वसुधा को धारण करता है, भानु में अपने ओज को प्रकाशित करता है, चन्द्रमा में अपनी क्रान्ति का प्रसार करता है तथा मलयानिल में अपनी सुगन्धि को भर देता है।[6] इसी क्रिया-शक्ति के फलस्वरूप वह भूतनाथ विश्वम्भर बनकर अपने जनों का नित्य भरण-पोषण किया करता है।[7] इतना ही नहीं, अपनी इसी क्रिया-शक्ति के द्वारा वह भूतल पर दुःख का पारावार उमड़ता हुआ देखकर, बाड़व लेलिहान जिह्‌वा का विस्तार देखकर, प्रलय-पयोधरों को रक्त-अश्रु की धारा बरसाते हुए देखकर तथा मानवता में राक्षसत्व का पूर्ण प्रचार देखकर भू-भार को उतारने के लिए अवतार लिया करता है।[8] उसकी यही क्रिया-शक्ति जड़ प्रकृति को भी सचेतन बना देती है, जिससे प्रकृति उस नर्तन में निरत कान्ति-सिन्धु में घुलमिल कर अपना सुंदर स्वरूप धारण करती है और उसमें जो भीषणता है, वह भी कमनीय बन जाती है।[9] इसी क्रिया-शक्ति के सहारे शिव अपना आनंदपूर्ण सुन्दर तांडव नृत्य किया करते हैं।[10] यह है शिव की क्रिया-शक्ति का कृतित्व, जिसके परिणामस्वरूप वह

---

१. **कर्म चक्र सा घूम रहा है यह गोलक, बन नियति प्रेरणा,**
सब के पीछे लगी हुई है कोई व्याकुल नई एषणा।
श्रममय कोलाहल, पीड़नमय विकल, प्रवर्त्तन महायन्त्र का,
क्षण भर भी विश्राम नहीं है प्राण-दास है क्रिया-तन्त्र का।
—**कामायनी**, पृष्ठ २६६।

२. **यहाँ नील लोहित ज्वाला कुछ जला गला कर नित्य ढालती,**
चोट सहन कर सकने वाली धातु, न जिसको मृत्यु सालती।
—**कामायनी**, पृष्ठ २६८।

३. **अणु-अणु में जो स्वभाव-वश गति-विधि निर्धारक,**
नित्य नवल सम्बन्ध-सूत्र का अद्‌भुत कारक। —**कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।

४. **यों ही अनेक-रूपी बनकर कभी पुजाया।** —**कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६।

५. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ १०-११। ६. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३।

७. **चित्राधार**, पृष्ठ ७३। ८. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४१।

९. **कामायनी**, पृष्ठ २५४। १०. **कामायनी**, पृष्ठ २५३।

विश्व के विकास, स्थिति एवं प्रलय की शक्ति उपलब्ध करके सब कुछ कार्य करने की क्षमता एवं योग्यता ग्रहण करता है, सर्व-कर्म-समर्थ बनता है और सर्वाकार-योगित्व को प्राप्त होता है।

अंत में यह बात और ध्यान देने योग्य है कि शिव की उक्त पाँचों शक्तियाँ शिव से तनिक भी पृथक् नहीं हैं। ये सभी शक्तियाँ शिव के साथ उसी प्रकार अभेद एवं अभिन्न रूप में विद्यमान रहती हैं, जिस प्रकार उष्णता अग्नि से, आलोक सूर्य से और समुद्र की लहरें समुद्र से एकाकार होकर विद्यमान रहती हैं। इन्हीं शक्तियों से युक्त होकर शिव शक्तिमान कहलाते हैं और स्वेच्छा से आनंदपूर्वक विविध लीलाओं में लीन होते हैं। शिव और शक्ति दोनों सदैव एक रूप होकर साथ-साथ रहते हैं, न शिव कभी शक्ति-रहित होते हैं और न शक्ति कभी शिव से पृथक् रहती है। केवल व्यवहार के लिए दोनों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया जाता है, वैसे दोनों एक हैं, शुद्ध चेतन स्वरूप हैं और सदैव एक रहकर ही अखंड आनंद से परिपूर्ण रहते हैं।

तृतीय प्रकरण

जीव

- जीव का स्वरूप
- जीव की तीन स्थितियाँ—
- जीव की भेदपूर्ण स्थिति
- जीव की भेदाभेदपूर्ण स्थिति
- जीव की अभेदपूर्ण स्थिति
- जीव की पाँच अवस्थाएँ—
- जाग्रत अवस्था
- स्वप्नावस्था
- सुषुप्ति-अवस्था
- तुरीयावस्था
- तुर्यातीत अवस्था
- जीव के त्रिविध शरीर—
- कारण शरीर
- सूक्ष्म शरीर—अन्तःकरण, इन्द्रियाँ और प्राण
- स्थूल शरीर
- त्रिपुर
- कर्त्ता और भोक्ता जीव
- नियतिवाद और पुरुषार्थवाद
- नियतिवाद
- जीवों के विविध प्रकार
- बन्धन और बद्ध जीव
- मुक्ति और मुक्त जीव

तृतीय प्रकरण

जीव

आद्य अविद्या कर्म हुआ क्यों, जीव स्ववश तब कैसा था ?
महाशून्य के पट में पहला, चित्रकार क्यों आता है ?[१]
इस जीवन को भिन्न मानकर क्षण-क्षण का विभाग करता।
लीला से तू दुःखी बन गया, लीला से सुख पाता है॥
तू स्वामी है, तू केवल है, स्वच्छ सदा तू निर्मल है॥
जो कुछ आवे, करता चल तू, कहीं न आता जाता है॥[२]

जीव का स्वरूप

भारतीय तत्व-चिन्तकों ने विविध प्रकार से जीव के स्वरूप का निरूपण किया है। आत्मवादी जैन-दार्शनिक जीव के द्रव्य-जीव और भाव-जीव नामक दो भेद करके उसे शाश्वत, चिरन्तन, स्वयंभूत, अखण्ड, अभेद्य, विज्ञ, कर्त्ता, अविनाशी आदि मानते हैं।[3] अनात्मवादी बौद्ध दार्शनिक 'सर्वं अनात्मकम्' कहकर आत्मा की सत्ता तो स्वीकार नहीं करते, किन्तु रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पंचस्कन्ध के समुच्चय को 'जीव' संज्ञा से अभिहित करते हैं।[४] अद्वैतवादी शंकर उपनिषदों के आधार पर 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' कहते हुए जीव को ब्रह्म से पृथक् नहीं मानते, अपितु ऐसा मानते हैं कि ब्रह्म या नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव चिन्मय आत्मा ही शरीर की उपाधि ग्रहण करने के कारण 'जीव' कहलाता है।'[५] इसके विपरीत विशिष्टाद्वैतवादी जीव को ब्रह्म का अंश मानकर भी उसे ब्रह्म से सर्वथा पृथक् मानते हैं और जीव को अल्पज्ञ, स्वल्प, अशुद्ध, अज्ञानी आदि बताते हैं।[६] इससे भिन्न द्वैताद्वैतवादी जीव का ब्रह्म से स्वाभा-

---

१. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४७।
२. **वही**, पृष्ठ ४८।
३. **नव पदार्थ—प्रणेता आचार्य भिक्षु**, पृष्ठ १–४६।
४. **बौद्ध-दर्शन—बलदेव उपाध्याय**, पृष्ठ ९९, १०४, १७३।
५. **वेदान्तसार**, पृष्ठ ११–१२।
६. **ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन**, पृष्ठ ३४–३५।

विक भेद भी मानते हैं और अभेद भी घोषित करते हैं।[१] इसके ठीक विपरीत द्वैतवादी ब्रह्म और जीव में पूर्णतया भेद मानते हैं और बतलाते हैं कि वह ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण चेतन तो है, किन्तु वह कभी ब्रह्म के समान नहीं हो सकता। वह अल्पज्ञ और अल्पशक्ति-सम्पन्न है।[२] इससे सर्वथा भिन्न शुद्धाद्वैतवादी ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप मानते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि में स्वेच्छा से ब्रह्म ही जीव-भाव को प्राप्त होता है, अविद्या या उपाधि के कारण ब्रह्म जीव-भाव ग्रहण नहीं करता। अतएव जीव में सत् और चित् गुण स्वभावतः रहते हैं, किन्तु ब्रह्म के अनुग्रह से वह आनंद गुण को प्राप्त करके सच्चिदानन्द स्वरूप हो सकता है। इस तरह ब्रह्म अपने जिस अंश में आनन्द का तिरोभाव कर देता है, वही अंश जीव नाम से अभिहित किया जाता है।[३] इन सबके ठीक विपरीत शैव दार्शनिक जीव और ब्रह्म में कोई भेद स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि परम शिव ही आणवादि मलों से आवृत होकर देश-काल आदि से अविच्छिन्न होने पर तथा दृक्, क्रिया, रूप आदि से संकुचित होने पर पशु, पुरुष अथवा जीव संज्ञा को प्राप्त होता है।[४]

प्रसाद के दार्शनिक चिंतन पर सर्वाधिक प्रभाव कश्मीर-शैव-दर्शन का पड़ा है। इसी कारण प्रसाद ने जीव को 'पुरुष' कहकर उसे सर्वथा निर्लिप्त एवं स्वतन्त्र माना है और बताया है कि प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा किया करती है'[५] और वह आणवादि मलों से आवृत होकर चित् शक्ति के संकुचित होते ही संसारी बन जाता है।[६] वैसे जीव शुद्ध चेतन ब्रह्मरूप है, वह स्वामी है, केवल है, स्वच्छ है, निर्मल है, नियामक है और न कहीं से आता है तथा न कहीं जाता है।[७] वह परम-तन्त्र-स्वतन्त्र है।[८] उसके पास असीम करुणा का कोश है, जिसका वह सतत दान करता रहता है, वह विश्व-वेदना का सुखपूर्वक आह्वान करता है और तिनके से लेकर तैंतीस करोड़ मानवों तक में समान रूप से एक ही सत्ता का दर्शन करता है।[९] यह जीव स्वयं सतत आराध्य है, सम्पूर्ण शक्तियों का केन्द्र है, आनंद-उच्छलित-शक्ति का स्रोत है और सभी प्रकार के निर्माण में सशक्त एवं सक्षम

---

१. **ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन**, पृष्ठ ३५।
२. **वही**, पृष्ठ ३६।
३ **वही**, पृष्ठ ३४-३५।
४. **तत्र पुंसो तदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ।**
स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतावरणात्मकम्॥
संकोचिदृक् क्रियारूपं तत्पशोरविकल्पितम्। —तन्त्रालोक, १।३७-३८
५. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ २९।
६. **चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, पृष्ठ २१।
७. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४८। ८. **एक घूँट**, पृष्ठ १४।
९. **विशाख**, पृष्ठ ६३।

है।[1] कारण यह है कि जीव चेतना का ही विकसित आकार है, उसी चेतन रूप परम शिव का स्वरूप है और अपने आवरणों में एक विश्व को बनाए हुए है।[2] यह परम ब्रह्म स्वरूप परम शिव अपार जलराशिपूर्ण चेतन-समुद्र है और यह चेतन जीव उस विशाल महोदधि में सतत उठने वाली अनंत लहर के रूप में स्थित है। जैसे लहर समुद्र से कभी पृथक् नहीं होती, वैसे ही जीव भी ब्रह्म से किसी प्रकार पृथक् नहीं है। वह जब तक जीव रूप में रहता है, तब तक उसकी पृथक् एवं व्यक्तिगत सत्ता रहती है, किन्तु अंत में मुक्त होकर जीव उसी तरह शिव के साथ अभेद रूप से घुल-मिल जाता है, जिस तरह लहर समुद्र में घुल-मिल कर समुद्र रूप हो जाती है।[3] जीव प्रमाता है।[4] वह प्रकृति से सतत संयुक्त होकर पुलकायमान रहता है, वह चेतन पुरुष पुरातन है और अपनी शक्ति से तरंगायित आनंद-अम्बु-निधि है।[5] इस तरह शुद्ध चेतन स्वरूप होने के कारण जीव चित् है। उसकी सत्ता कभी लुप्त नहीं होती। अतएव वह अविनाशी एवं सत् है।[6] वह ब्रह्म की ही भाँति अखंड आनंदघन होने के कारण शिव एवं आनंद-स्वरूप है।[7]

इस तरह प्रसाद की दृष्टि में जीव सच्चिदानंद स्वरूप है, क्योंकि सत्, चित् आनंद स्वरूप विश्व-चेतना की आकार ग्रहण करने की चेष्टा का नाम ही जीव है और इसके मूल में भी आनंद है।[8] वह विश्व-चेतना या शुद्ध चेतन-स्वरूप ब्रह्म जब क्रीड़ा करने की अभिलाषा करता है, तभी जीव-रूप ग्रहण करता है।[9] जीवों की संख्या अनंत है, किन्तु सभी जीवों में एक ही सत्ता विद्यमान है।[10] जीव और ब्रह्म एक हैं, अभिन्न हैं और एक होकर ही क्रीड़ा करते हैं, खेल खेलते हैं। जहाँ जीव अपने को परमात्मा से अलग समझ कर खेल खेलता है वहीं वह रुदन, दुःख और निराशा का सामना करता है और जहाँ वह एक होकर खेलता है वहाँ स्मित, आनंद और आशा में लीन रहता है।[11] इस प्रकार जीव ब्रह्म से चिर मिलित, सहज स्नेही और चिर परिचित है। जीव पूर्णतः शुद्ध-बुद्ध है[12], सत्य है[13], अमृत संतान है[14], विधाता की कल्याणमयी सृष्टि को सफल बनाने वाला है और मानवता का प्रसार करके उसे विजयिनी बनाता है।[15] वह परम सौंदर्यशाली है और चेतना का उज्ज्वल वरदान है।[16]

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २६१।
२. **कामायनी**, पृष्ठ १६२।
३. **वही**, पृष्ठ २८८।
४. **कंकाल**, पृष्ठ १८; **झरना**, पृष्ठ ६१।
५. **कामायनी**, पृष्ठ २८६।
६. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२-१३।
७. **इरावती**, पृष्ठ १०४।
८. **एक घूँट**, पृष्ठ १५।
९. **कामना**, पृष्ठ ११; **कंकाल**, पृष्ठ २८१।
१०. **कामना**, पृष्ठ २२।
११. **कामना**, पृष्ठ १००।
१२. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ६४।
१३. **कामायनी**, पृष्ठ ५५।
१४. **कामायनी**, पृष्ठ ५८।
१५. **वही**, पृष्ठ ५६।
१६. **उज्ज्वल वरदान चेतना का**। —**कामायनी**, पृष्ठ १०२।

जीव अनेक होकर भी एक है और भिन्न होकर भी अभिन्न है, क्योंकि समस्त जीवों में एक ही शक्ति विद्यमान है।[1] जीव केवल क्रीड़ा करने के लिए ही जगत् में रूप ग्रहण करता है और जिस दिन इसकी क्रीड़ा समाप्त हो जाती है, उसी दिन वह ब्रह्म में लीन हो जाता है।[2] जीव को ब्रह्म या शिव का स्वरूप मानने के कारण ही विभु, नित्य और विश्वाकृति कहा जाता है। विभु होने के कारण वह सर्वत्र गमनशील है, नित्य होने के कारण अनादि और अनंत है और विश्वाकृति होने के कारण उसे चित्-अचित्-वैचित्र्य का प्रकाशक माना गया है।[3] प्रसाद भी इसी कारण 'जीवन अनंत है, इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है' कहकर जीव के जीवन को अनंत एवं अछेद्य मानते हैं[4] और उसकी जीवन-धारा के सुन्दर प्रवाह को सत्, सतत प्रकाश रूप, सुखद और अथाह घोषित करते हैं।[5] इससे जीव की नित्यता, अखंडता एवं अविनश्वरता सिद्ध होती है। वैसे भी देह के सम्बन्ध होने को जीव का जन्म और देह के वियोग होने को जीव का मरण कहा जाता है।[6] यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो शरीर या देह ही जन्म लेता और मरता है, देही या जीव तो न कहीं से आता है और न कहीं जाता है।[7] इस प्रकार प्रसाद की दृष्टि में जीव शुद्ध-बुद्ध सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप शिव है। शिव के समस्त धर्म ही जीव के धर्म है और शिव की सम्पूर्ण विशेषताएँ ही जीव की विशेषताएँ हैं।

जीव की तीन स्थितियाँ

जीव वस्तुतः परमेश्वर है[8], किन्तु आणव, मायीय एवं कार्म मलों तथा माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक षट्कंचुकों से आवृत होकर यह जीव संसारी हो जाता है, स्वयं को शिव से भिन्न समझने लगता है और नाना प्रकार के विकारों एवं संकटों में ग्रस्त होकर विविध दुःख भोग करता है। जब इसे कुछ अपने स्वरूप का ज्ञान होने लगता है और यह विश्वास होने लगता है कि मुझमें वही शक्ति विद्यमान है, तब अपने को शिव से कुछ भिन्न एवं कुछ अभिन्न मानने लगता है; किन्तु जब इस जीव के समस्त मल एवं कंचुक हट जाते हैं और इसे अपने वास्तविक रूप का बोध हो जाता है, तब यह अपने में तथा शिव में पूर्ण अभेद मानता हुआ 'मैं शिव

---

१. **कामना**, पृष्ठ ५। २. **कामना**, पृष्ठ १२।

३. **नियता नेति स विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः शिवः।**
विभुत्वात्सर्वगो नित्यभावादाद्यन्तवर्जितः॥
विश्वाकृतित्वाच्चिदचित्तद्वैचित्र्यावभासकः॥ —**तन्त्रालोक**, १।६१-६२

४. **लहर**, पृष्ठ ७०। ५. **कामायनी**, पृष्ठ २४१।

६. **जन्मदेहसम्बन्धो, मरणं देहवियोगः।** —**तत्वत्रय**, पृष्ठ १०।

७. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४८।

८. **तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः।** —**तन्त्रालोक** १।५५

हूँ' की स्थिति में पहुँच जाता है। इस तरह जीव की तीन स्थितियाँ मानी गई हैं—शिव से भेदपूर्ण स्थिति, शिव से भेदाभेदपूर्ण स्थिति और शिव से अभेदपूर्ण स्थिति।

(१) **जीव की भेदपूर्ण स्थिति**—यह जीव की 'अधम' स्थिति है। इसमें माया के कारण जीव की शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं। वह इच्छा-शक्ति के संकुचित हो जाने से अपूर्ण-मन्यतारूप आणव मल से, ज्ञान-शक्ति के संकुचित हो जाने से भिन्न-वेद्यप्रथा-रूप मायीय मल से तथा क्रिया-शक्ति के संकुचित हो जाने से [illegible] कार्म मल से आवृत हो जाता है। उसमें से सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व की समस्त शक्तियों का संकोच होने के कारण वह कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक षट् कंचुकों से ढक जाता है, जिससे वह सदैव अपने को सम्पूर्ण शक्तियों से रहित सांसारिक जीव समझने लगता है[1] और अपने को शिव से भिन्न समझकर संसार में नाना प्रकार के आचरण करने लगता है। जीव की इस भेदपूर्ण स्थिति को उत्पन्न करने वाली शिव की माया-शक्ति है। यह माया-शक्ति ही शिव रूप जीव को विविध पाशों से आबद्ध करके 'पशु' बनाती है और इसी के फल-स्वरूप जीव की समस्त शक्तियों का तिरोधान हो जाता है।[2] इस माया से विमोहित होकर ही प्रमाता जीव सांसारिक कर्मों के बन्धन में पड़ता है।[3] इसी माया के पाशों में आबद्ध होकर जीव अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि नाना प्रकार के क्लेशों में लीन होता है, धर्म-अधर्म सम्बन्धी विविध कर्मों के बन्धन में बँध जाता है, विविध वासनाओं में फँस जाता है तथा अनेक प्रकार के कलुषों में लिप्त हो जाता है।[4] उसे माया के तीनों गुण—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण चारों ओर से बाँध लेते हैं।[5]

---

१. **तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति : संकुचिता सती अपूर्णंमन्यतारूपम् आणवं मलम्; ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्; क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूप-संकोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम्। तथा सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्तयः संकोच गृह्णाना यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियति-रूपतया भान्ति। तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० २१-२२।**

२. **तस्यैश्वर्यस्वभावस्य पशुभावे प्रकाशिका।**
विद्याशक्तिः तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः। —ई० प्र० ३।१।७

३. **एषप्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबंधनः। —ई० प्र० ३।२।३**

४. **स्वांगरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः।**
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः॥ —ई० प्र० ३।२।३

५. **माया तृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः॥ —ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ४।१।४**

वह माया-जन्य अज्ञान से विमोहित होकर बंध और मोक्ष के चक्कर में पड़ जाता है।[1] माया में लिप्त रहने से ही उसकी विश्वात्मकता तिरोहित हो जाती है और वह 'अज्ञ' हो जाता है। स्वातन्त्र्य रहित हो जाने के कारण वह क्रियागुण रहित अनीश्वर बन जाता है, संसार में अनुरक्त हो जाने के कारण संसार के विविध भोगों की चिन्ता में लीन रहता है और सतत माया से आवृत रहने के कारण माया के उदर में ही स्थित हो जाता है।[2]

प्रसाद भी जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं मानते, क्योंकि जीव उसी का है और वह जीवात्मा का है।[3] किन्तु जैसे ही जीव माया के आवरण से आवृत होकर अपने को उस परमात्मा या शिव से पृथक् मानने लगता है, वैसे ही वह जगत् के नाना क्लेशों में पड़कर दुःखी होने लगता है।[4] माया के कारागार में बन्दी होते ही इस परम स्वतन्त्र जीव का स्वास्थ्य, सौन्दर्य एवं सरलता नष्ट हो जाती है।[5] वह कादम्ब, कांचन और कामिनी के लोभ में फँसकर छीना-झपटी, नोंच-खसोट आदि में प्रवृत होता है, रक्त-पिपासु, क्रूरकर्मा, कृतघ्नता की कीच का कीड़ा बन जाता है[6] और छल, कपट, विश्वासघात, कृतघ्नता आदि साधनों को अपनाने लगता है।[7] उसे अदृष्ट भी छलने लगता है, क्योंकि जैसे ही जीव वर्तमान जीवन के सुख से अपना सम्बन्ध जोड़ता है, वैसे ही अदृष्ट तुरन्त अभाव बनकर उसके सम्मुख आ उपस्थित होता है।[8] इतना ही नहीं, भेदपूर्ण स्थिति में रहने के कारण जीव द्वैत में विश्वास करने लगता है, अपने समाज को विविध वर्णों में बाँट डालता है और अनजाने अनेक समस्यायें उत्पन्न करके अपने विनाश की तैयारी करने लगता है। इस भेदभाव के कारण एकता नष्ट हो जाती है और कोलाहल तथा कलह अनन्त काल तक चलते रहते हैं। फिर उसकी अभिलाषाओं की पूर्ति होना तो दूर रहा, प्रत्युत उसे सदैव अनिच्छित एवं दुःखद खेद प्राप्त होता है। स्वार्थ के कारण जीवों के हृदय पर आवरण पड़ जाता है, वे परस्पर एक-दूसरे को नहीं पहँचान पाते और सब कुछ पास धरा होकर भी सदैव असन्तुष्ट बने रहते हैं। इस तरह जीव की यह संकुचित दृष्टि उसे सदैव दुःख देती है।[9] इसी संकुचित दृष्टि के कारण यह जीव पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा में से किसी न किसी एक एषणा

---

१. **सैवाषा सा च संसारो बंधमोक्षावतः स्थितौ ॥** —**शिवदृष्टि** ३।६९

२. **विश्वात्मतात्यागेनाज्ञः, अस्वातन्त्र्यात् क्रियागुणरहितोऽनीश्वरश्च, वेद्यपुर्यष्टकात्मनि भिन्न इव रागितया भोगोपायविचिन्तको, मायाकृतत्वात् मायोदरान्तःस्थः ।** —**शिवदृष्टि**, पृष्ठ ३१ ।

३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३२ । ४. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४८ ।

५. **एक घूँट**, पृष्ठ १४ । ६. **स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य**, पृष्ठ ५०, ६४ ।

७. **स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य**, पृष्ठ ८८ ।

८. **कामायनी**, पृष्ठ १३१ । ९. **कामायनी**, पृष्ठ १६४ ।

में सदैव व्याकुल रहा आता है। रात-दिन वह परिश्रम, पीड़ा और बेचैनी के साथ कार्य में रत रहता है, क्षण भर भी विश्राम करना नहीं चाहता और उसके प्राण क्रिया-तन्त्र के दास बन जाते हैं।[1] इस प्रकार भेद या द्वैत-भाव के कारण जीव अणु-अणु एवं कण-कण में व्याप्त उस ब्रह्म की सत्ता को भूल जाता है और अपने को सबसे पृथक् मानने लगता है।[2]

(२) **जीव की भेदाभेदपूर्ण स्थिति**—यह जीव की मध्यम स्थिति है। इसमें एक ओर तो जीव माया से आवृत होकर अपने को शिव से भिन्न समझता रहता है और संकुचित शक्ति एवं संकुचित ज्ञान वाला होकर सांसारिक बन्धन में पड़ा रहता है।[3] साथ ही दूसरी ओर सचेत होने के कारण उसमें विकल्प या विचारशक्ति भी उत्पन्न हो जाती है[4] और वह यह सोचने लगता है कि बुद्धि, प्राण, देह आदि अपारमार्थिक अथवा जड़ हैं, किन्तु इन में ही चित् स्वरूप परमार्थ या शिव का प्रकाश होता है। अतएव ये जड़ और चेतन दोनों गुणों से युक्त है।[5] इस प्रकार वह शिव की शक्ति ही समस्त जीवों में जड़ और चेतन रूप से स्थित है।[6] वह चेतन-शक्ति या चिति पूर्ण स्वतन्त्र है, उसके प्रसार से जगत् का उन्मेष या प्रसार होता है तथा उसके संकोच से जगत् का निमेष या विलय होता है।[7]

प्रसाद ने जीव की इस आत्मचिंतन-प्रधान भेदाभेदपूर्ण स्थिति का भी बड़ी तत्परता एवं तन्मयता के साथ निरूपण किया है; जैसे, माया के प्रपंच में लीन जीव पुकारता हुआ परमात्मा से कह रहा है कि हमारी मति इतनी नीच और मूढ़ क्यों

---

१. कामायनी, पृष्ठ २६६। २. कामायनी, पृष्ठ २८९।

३. यः परमेश्वरेण स्वस्वातन्त्र्यशक्त्याभासितस्वरूपगोपनारूपया महामायाशक्त्या स्वात्मन्याकाशकल्पेऽनाश्रितान्प्रभृति मायाप्रमात्रन्तं संकोचोऽवभासितः स एव शिवाभेदाख्यात्मात्मकाज्ञानस्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलसतत्व संकुचित ज्ञानात्मा बन्धः। —शिवसूत्रविमर्शिनी, पृष्ठ १२।

४. विकल्पोनाम चिन्मात्रस्वभावो। —तन्त्रालोक ५।५

५. तत्र बुद्धौ तथा प्राणे देहे चापि प्रमातरि।
अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन् परमार्थः प्रकाशते ॥७॥
यतः प्रकाशाच्चिन्मात्रात् प्राणाद्यव्यतिरेकवत्।
तस्यैव तु स्वतन्त्रत्वाद्द्विगुणं जडचिद्वपुः ॥८॥ —तन्त्रालोक, पृष्ठ ३१५-१६ (भाग ३)

६. जीवः शक्तिः शिवस्यैव सर्वत्रैव स्थितापि सा॥ —तन्त्रालोक ५।९

७. पराशक्तिरूपा 'चितिः' एव भगवती 'स्वतन्त्रा'........। अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।
—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ २।

कर दी है कि वह आपके चरण-कमल को बार-बार भूल जाती है। हमारे मन की गति ऐसी क्यों बना दी है कि वह काम और क्रोध के सागर में दौड़ कर घुस जाता है। हम न जाने क्यों संसार के झूठे लोगों से तो दौड़कर स्नेह करते हैं, किन्तु साँचे सच्चिदानन्द से प्रेम नहीं करते। हे दीनबन्धु, हमें आप अत्यन्त व्याकुल देख रहे हो, किन्तु फिर भी हमारे हृदय की पीड़ा को दूर नहीं करते। यह तो बताओ आपने अपनी दीनबन्धुता को क्यों भुला दिया है?[१] ऐसे ही जीव भेद-बुद्धि के कारण अपने को परमात्मा से पृथक् मानने लगता है, स्वयं को दीप-शिखा समझता है तथा ईश्वर को हृदय-रंजन प्रभात जानता है[२] और इस जगत् को अपरिचित कुंज तथा अपने को एक भूली हुई बुलबुल समझता है, जो कुछ क्षण यहाँ रजनी में विश्राम करके प्रभात होते ही उड़ जाती है।[३] वह सदैव जगत् की प्रपंचमयी विडम्बना एवं विभीषिका से क्षुब्ध एवं व्यथित रहता है और संकुचित शक्ति एवं संकुचित ज्ञान वाला होकर जगत् के बंधनों में लिप्त रहा आता है, किन्तु धीरे-धीरे विचार करने पर जब उसे अपनी एवं जगत् की स्थिति का कुछ-कुछ ज्ञान होता है तब उसे इस माया के प्रपंच से परिपूर्ण जगत् पर क्षोभ होने लगता है और भयंकर अन्धकार से भरे हुए इस जगत् से कहीं दूर चलने की इच्छा होती है।[४] उसे जगत् के बाह्य पदार्थों से विरक्ति हो जाती है, वह बाह्यावलम्बन छोड़ कर आत्म-चिंतन में लीन हो जाता है और समझने लगता है कि अब तक आत्मतत्व या अपनी सत्ता को खोकर ही वह शून्य बना घूम रहा है, वह महान् है, किन्तु उसके हृदय में प्रतिहिंसा, प्रतिशोध एवं प्राचीन बैर-भाव का प्रवेश हो जाने से वह लघु बन गया है।[५]

जीव में जब आत्म-चिंतन की प्रधानता हो जाती है, तब धीरे-धीरे उसकी भेद-बुद्धि का विनाश होने लगता है और उसे सर्वत्र 'नर्तित नटेश' का आनन्द-पूर्ण सुन्दर नृत्य दिखाई देते लगता है।[६] 'नर्तित नटेश' के दर्शन होने पर भी अभी तक जीव के हृदय में विकल्प बना रहता है और अपनी इस विकल्पात्मक अवस्था में वह एक ओर तो जगत् की विभीषिकाओं से दूर होकर जगत् के सम्पूर्ण स्नेह-सम्बन्धों का परित्याग करना चाहता है, परन्तु दूसरी ओर उसका हृदय जगत् के झूठे सम्बन्धों में पुनः लिप्त होने के लिए लालायित रहता है, क्योंकि उसका मन कितना ही ब्रह्म की ओर अग्रसर हो गया हो, फिर भी उसे पूर्णतया अपने रूप का ज्ञान नहीं होता और इसी कारण वह जगत् के मिथ्या सम्बन्धों को भूल नहीं पाता।[७] जीव की यही चितन-प्रधान एवं विकल्पात्मक भेदाभेदपूर्ण स्थिति है, जिसमें वह माया-जन्य प्रपंच को भली

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १७६। २. **आँधी**, पृष्ठ ५०।
३. **आकाशदीप**, पृष्ठ ३१-३२। ४. **कामायनी**, पृष्ठ २१८।
५. **कामायनी**, पृष्ठ २५०। ६. **वही**, पृष्ठ २५३।
७. **मेरे हाँ वे सब मेरे हैं, जिनसे रूठ चला आया हूँ।**
वे नीचे छूटे सुदूर, पर भूल नहीं उनको पाया हूँ।
—**कामायनी**, पृष्ठ २५६।

प्रकार समझने लगता है और इससे दूर होने एवं विराट् सत्ता से मिलने की कामना तो करता है, किन्तु अभी तक उस विराट् सत्ता को अपने से पृथक् ही जानता है।

(३) **जीव की अभेदपूर्ण स्थिति**—जीव की यह सर्वोत्तम स्थिति है। इस स्थिति में पहुँचने वाले जीव की ब्रह्म या शिव से एकरूपता एवं अभिन्नता स्थापित हो जाती है। जैसे कोई व्यक्ति बार-बार दर्पण में अपने मुख को देखते हुए बिम्बरूप मुख तथा दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख में तादात्म्य स्थापित कर लेता है और यह जान जाता है कि दर्पण में दिखाई देने वाला मुख भी मेरा ही मुख है और मेरे मुख तथा इस प्रतिबिम्बित मुख में अभेद है, वैसे ही सतत ध्यान, पूजा, अर्चना आदि के द्वारा जब जीव अपने विकल्प रूपी दर्पण में बार-बार स्वात्मस्वरूप शिव या ब्रह्म का दर्शन करता है, तब वह शीघ्र ही तन्मयीभाव को प्राप्त होकर अभेद की स्थिति में पहुँच जाता है।[1] इस स्थिति को जीव की अनुत्तरावस्था कहा गया है, क्योंकि जीव की यही पूर्णत्व की स्थिति है, यही उसकी पराकाष्ठा है और इसको प्राप्त होते ही फिर जीव को कुछ और पाना शेष नहीं रहता, क्योंकि तन्मयीभाव सम्बन्धी अभेद स्थिति में पहुँचते ही जीव की समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति हो जाती है।[2] इस स्थिति में पहुँचने वाला जीव सर्वत्र बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव से बाहर और भीतर उसी एक शिव का साक्षात्कार करने लगता है।[3] इसे जीव की 'शांभव स्थिति' भी कहा गया है, क्योंकि इससे पूर्व जीव विकल्पात्मक स्थिति में रहता है, किन्तु जैसे-जैसे जीव सतत अभ्यास के बल से आत्म-साक्षात्कार करने लगता है, उसकी विकल्पात्मक स्थिति समाप्त होने लगती है और वह निर्विकल्पक शांभव स्थिति में पहुँच जाता है।[4]

प्रसाद ने जीव की इस अभेदपूर्ण स्थिति का निरूपण करते हुए स्पष्ट संकेत किया है कि जीव को संसार से विरक्त होने की आवश्यकता नहीं, अपितु इसी संसार में अभेद रूप से उस विराट् सत्ता का दर्शन करते हुए आनन्द को उपलब्ध करना है। ऐसा वैराग्य व्यर्थ है जो शंकाओं से, निषेधों से हमें जकड़ कर काल्पनिक उच्च-आदर्शों के लिए वामन की तरह उचकते रहने की हास्यजनक स्थिति में डाल

---

१. यथा पुरःस्थे मुकुरे निजं वक्त्रं विभावयन् ।
भूयो भूयस्तदेकात्म वक्त्रं वेत्ति निजात्मनः ।।
तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि ।
आत्मानं भैरवं पश्यन्नचिरात्तन्मयीभवेत् ।। —तन्त्रालोक ४।२०७, २०८

२. तन्मयीभवनं नाम प्राप्तिः सानुत्तरात्मनि ।
पूर्णत्वस्य परा काष्ठा सेत्यत्र न फलान्तरम् ।। —तन्त्रालोक ४।२०९

३. स्वच्छायादर्शवत्पश्येद्बहिरन्तर्गतं शिवम् । —तन्त्रालोक १३।१८२

४. तेषां विकल्पानाम् अभ्यासबलेन यथायथं सातिशयविकल्पजननात् अन्ते स्फुटतमार्थसाक्षात्कारात्मा निर्विकल्पकः शाम्भवः समावेशः स्यात् ।
—तन्त्रालोक, भाग १, पृष्ठ २३८ ।

दे ।[1] विरक्ति के स्थान पर हमें तो अभेद की स्थिति प्राप्त करनी है। इस स्थिति में जीव संसार से अलग न होकर संकुचित भेद-भाव से दूर उन्मुक्त नील आकाश की तरह विस्तृत सबको अवकाश देने के लिए प्रस्तुत रहता है। वह अपने चारों ओर फैले हुए आनन्द की सीमा में प्रसन्न रहता है और उसकी प्रसन्नता प्रत्येक अवस्था में रहने वाले प्राणियों के विरुद्ध नहीं होती। उसे चारों ओर उज्ज्वल प्रकाश दिखाई देता है, जिसमें त्याग और ग्रहण अपनी स्वतन्त्र सत्ता अलग बनाकर लड़ते नहीं। उसे विश्व का उज्ज्वल पक्ष अंधकार की भूमिका पर नृत्य करता-सा जान पड़ता है और आत्मा का आनन्द सबको आलिंगित करके स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश दिखाई देता है।[2] इसका कारण यह है कि इस अभेदपूर्ण स्थिति में पहुँच कर जीव को सर्वत्र शिव ही शिव और आनन्द ही आनन्द दृष्टिगोचर होता है, कहीं अशिव एवं अमंगल के दर्शन नहीं होते।[3] इस स्थिति में पहुँचते ही जीव को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ब्रह्म उसमें है और वह स्वयं ब्रह्म है।[4] उस जीव को फिर अपनी समस्त क्रीड़ायें उसी ब्रह्म की क्रीड़ायें प्रतीत होने लगती हैं।[5] उसे विराट् विश्व एवं विश्वात्मा में, पिता और पुत्र में, ईश्वर और सृष्टि में, राजा और प्रजा में, शासित और शासक में सर्वत्र अभिन्नत्व एवं अभेद दिखाई देने लगता है और सभी प्राणी स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करते हुए जान पड़ते हैं।[6] वह सर्वात्मा के स्वर में अपने विशिष्ट स्वर को मिलाकर एक मनोहर संगीत सुनता है।[7] आत्मा के आलोक में फिर उसे सभी स्वच्छ एवं निर्मल दिखाई देते है और कहीं अन्धकार दिखाई नहीं देता।[8] उसे सम्पूर्ण जीव अपने ही दिखाई देने लगते है, कोई पराया नहीं जान पड़ता और सभी प्राणी सब तरह से अपने ही अवयव प्रतीत होने लगते हैं, जिनमें कहीं कोई कमी नहीं दिखाई देती। इस अभेदपूर्ण स्थिति में पहुँचे हुए जीव को समस्त जीवन-वसुधा समतल दिखाई देती है, न कोई वहाँ शापित दिखाई देता है और न कोई तापित पापी, अपितु सभी समरस प्रतीत होते हैं।[9] इस समय उसे जड़ और चेतन में भी सर्वत्र समरसता की प्रतीति होती है, सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दृष्टिगोचर होती है और अखंड एवं घने आनन्द की उपलब्धि हो जाती है।[10]

जीव की पाँच अवस्थायें

माया के द्वारा उत्पन्न आणवादि मलों एवं विद्या, राग, कला आदि कंचुकों से आवृत आत्मा का संकुचित स्वरूप यह चेतन जीव इस जगत् में विविध प्रकार की

---

१. **इरावती**, पृष्ठ १०३। २. **इरावती**, पृष्ठ १०४।
३. **वही**, पृष्ठ १०४।
४. **फिर वह हमारा हम उसी के, वह हमीं हम वह हुए।—का० कु०**, पृष्ठ ३२।
५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०६। ६. **कामना**, पृष्ठ ९८।
७. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ ७१। ८. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ७१।
९. **कामायनी**, पृष्ठ २८७-२८८। १०. **कामायनी**, पृष्ठ २९४।

क्रीड़ाओं में निमग्न रहता है, किन्तु जैसे ही यह जीव ध्यान, पूजा, अर्चना आदि के द्वारा स्वात्मस्वरूप को जानने का प्रयत्न करने लगता है, वैसे ही इसे विविध अवस्थाओं में होकर निकलना पड़ता है। जीव की इन अवस्थाओं के बारे में भारतीय तत्त्व-चिन्तक एकमत नहीं हैं। वेदान्त-दर्शन में जीव की इन अवस्थाओं की संख्या चार मानी गई है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था।[1] किन्तु शैवदार्शनिक इन चार अवस्थाओं के अतिरिक्त एक पाँचवीं तुर्यातीत अवस्था और मानते हैं। इस तरह जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत नामक पाँच अवस्थायें मानी गई हैं।[2]

(१) **जाग्रत अवस्था**—वेदान्त की दृष्टि से जीव की जाग्रत अवस्था वह है, जिसमें वह अपने स्थूल शरीर के द्वारा जगत् के विविध भोगों को भोगता है। इस समय उसकी समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में तल्लीन रहती हैं और उसका स्थूल शरीर भोगायतन बना रहता है।[3] शैवागम भी जीव की जाग्रत अवस्था उसी को मानते है, जिसमें वह बाह्येन्द्रियों से उत्पन्न लौकिक ज्ञान में ही लीन रहता है और उसका यह ज्ञान सर्वसाधारण पदार्थों के विषयों तक ही सीमित रहता है[4], क्योंकि इस अवस्था में जीव को केवल इतनी ही जानकारी रहती है कि यह सारा विश्व प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा इन चारों से अधिष्ठित है[5] और इसका कोई अधिष्ठाता संभवतः नहीं है।[6] इस तरह जीव को इस जगत् के अन्तर्गत विविध विषयों का बाह्येन्द्रियों द्वारा अन्योन्यापेक्षित ज्ञान-वैचित्र्य का होना ही उसकी जाग्रत अवस्था है।[7] इस अवस्था में जीव जगत् के नाना भोगों में लीन रहता है, क्योंकि इस समय क्रिया-शक्ति की प्रधानता रहती है।[8] वह काम एवं लोभ से मोहित

---

१. **वेदान्त-सार**, पृष्ठ ३, ६, ७।

२. **जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यं च तदतीतकम् ॥**
इति पंच पदान्याहुरेकस्मिन्वेदके सति ॥ —तन्त्रालोक १०।२२८–२९

३. **स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूल शरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते।**
—वेदान्त-सार, पृष्ठ ७।

४. **सर्वसाधारणार्थविषयं बाह्येन्द्रियजं ज्ञानं लोकस्य जाग्रत् जागरावस्था।**
—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृष्ठ २४।

५. **प्रमातृमेयतन्मानप्रमारूपं चतुष्टयम्।**
विश्वमेतदधिष्ठेयं यदा जाग्रत्तदा स्मृतम् ॥ —तन्त्रालोक १०।२३३

६. **यदधिष्ठ्यमेवेह नाधिष्ठातृ कदाचन।**
संवेदनगतं वेद्यं तज्जाग्रत्समुदाहृतम् ॥ —तन्त्रालोक १०।२३१

७. **तत्र वेद्यस्य तद्विषयायाश्च संविदो यत् वैचित्र्यम् अन्योन्यापेक्षं सत् सा अवस्था (जाग्रदवस्था)। —तन्त्रसार**, पृष्ठ १०५।

८. **क्रियाशक्तिस्तुजाग्रतिः।—तन्त्रालोक** १०।३००

होकर जगत् के विविध विषयों का भोग करता है, एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं लेना चाहता, क्योंकि उसके हृदय में विषयों की उष्णता से उत्पन्न ग्रीष्मासन बिछा रहता है, फिर भला वह विश्व के अधिष्ठाता की ओर कैसे अपना मन लगा सकता है।[१] इस क्षण वह अनंग का आसव पीकर महादम्भ का दानव बन जाता है।[२] सौन्दर्य के जल में तैरने वाली उसकी मछली जैसी आँखें सदैव रूप की प्यासी रहकर बेचैन बनी रहती हैं[३] और वह विलासिता के नद में अवाधगति से तैरता हुआ विविध प्रकार के कष्ट एवं संताप सहन करता रहता है।[४]

(२) **स्वप्नावस्था**—वेदान्त के अनुसार जीव जाग्रत अवस्था में जिन विषयों को देखता या सुनता है, उनके द्वारा उत्पन्न वासना से निद्राकाल में जो प्रपंच प्रतीत होता है, उसे जीव की 'स्वप्नावस्था' कहते हैं।[५] शैवागमों में कहा गया है कि जो केवल मन से उत्पन्न असाधारण पदार्थों के विषय में विकल्प या विचार होते हैं वे ही स्वप्न कहलाते हैं और उन्हीं स्वप्नों को जब जीव निद्राकाल में देखता है उसी को जीव की स्वप्नावस्था कहते हैं। इसमें केवल मानसिक विकल्पों का ही प्राधान्य रहता है।[६] इस अवस्था में जीव को प्रमेयों की छाया मात्र की ही प्रतीति होती है[७] और वहाँ अन्य समस्त शक्तियों में से केवल ज्ञान-शक्ति ही विद्यमान रहती है।[८] प्रायः इस अवस्था में आते ही जीव अपने जागरण लोक अथवा जाग्रत अवस्था को भूल जाता है, स्वप्न के लोक में उसे अद्भुत चित्र दिखाई देते है और जीव का मन स्वप्नों का सुन्दर क्रीड़ागार बन जाता है। यद्यपि जीव उस समय निद्रा में डूबा रहता है, तथापि

---

१. **किन्तु तुम्हें विश्राम कहाँ है नाम को**
केवल मोहित हुए लोभ से काम को
ग्रीष्मासन है बिछा तुम्हारे हृदय में
कुसुमाकर पर ध्यान नहीं इस समय में। —कानन-कुसुम, पृष्ठ १३।

२. **यह महादम्भ का दानव, पीकर अनंग का आसव। —लहर**, पृष्ठ ४७।

३. **प्यासी मछली-सी आँखें थीं विकल रूप के जल में। —आँसू**, पृष्ठ १०।

४. **कामायनी**, पृष्ठ ७, ९।

५. **जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नः। —वेदान्तसार**, पृष्ठ ६।
जाग्रद् अवस्थायां यद्दृष्टं यच्छ्रुतं तज्जनितवासनायां निद्रासमये यः प्रपंचः प्रतीयते सा स्वप्नावस्था। —तत्वबोध, पृष्ठ ९०३।

६. **ये तु मनोमात्रजन्या असाधारणार्थविषया विकल्पाः स एव स्वप्नः स्वप्नावस्था, तस्य एवं विध विकल्प प्रधानत्वात्। —शिवसूत्रविमर्शिनी**, पृष्ठ २४, २५।

७. **तन्मुख्यतः स्वप्नो मेयच्छायावभासिनी। —तन्त्रालोक, भाग ७**, पृष्ठ १९८।

८. **ज्ञानशक्तिः स्वप्न उक्तः। —तन्त्रालोक १०।३००**

उसकी चेतना लुप्त नहीं होती, अपितु वह दुहरी सजग होकर अनोखे-अनोखे दृश्य देखा करती है और बड़ी गहन ध्वनियों को सुना करती है।[1]

(३) **सुषुप्ति अवस्था**—वेदान्त की दृष्टि से जीव की सुषुप्ति अवस्था वह है, जिसमें सोया हुआ जीव किसी भोग की कामना नहीं करता और न कोई स्वप्न देखता है, अपितु जिसमें बुद्धि की समस्त वृत्तियाँ विलीन हो जाती है, सब प्रकार की प्रमा शान्त हो जाती है , स्थूल-सूक्ष्म-प्रपंच का विलय हो जाता है और बुद्धि केवल बीज रूप में अवस्थित रहती है।[2] शैवागमों में इसे जीव की अविवेक अवस्था कहा गया है, क्योंकि यह जीव की माया रूप मोहमयी अवस्था होती है।[3] इस अवस्था में ज्ञान का छायावभास ही रहता है, यह प्रमेय की अधिष्ठानरूपा, भूतादि की अधिष्ठातृ और विश्व की बीज रूपा अवस्था मानी गई है।[4] प्रसाद ने भी लिखा है कि 'सुषुप्ति में आनन्द तो नहीं, किन्तु दुःखों का अभाव अवश्य हो जाता है'।[5]

(४) **तुरीयावस्था**—वेदान्त की दृष्टि से जीव की अन्तिम अवस्था तुरीय या चतुर्थ कहलाती है। इसमें जीव का समस्त भेदज्ञान नष्ट हो जाता है। उसे सर्वत्र शुद्धचैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता। वह उसी चैतन्य में विलीन हो जाता है, उसकी अज्ञान उपाधि नष्ट हो जाती है और वह स्वयं शुद्ध चैतन्य सच्चिदानन्द शिवस्वरूप हो जाता है।[6] शैवागमों में इसे जीव की अन्तिम अवस्था नहीं माना गया है, किन्तु कुछ उन्नत अवस्था अवश्य माना गया है, क्योंकि इस अवस्था में पहुँचे हुए जीव में प्रमा का प्राधान्य रहता है। वह पूर्ण तो नहीं होता, किन्तु पूर्णता की ओर उन्मुख अवश्य हो जाता है। उसकी तटस्थता एवं उदासीनता समाप्त हो जाती है और उसमें शक्ति का समावेश

---

१. **जागरण लोक था भूल चला स्वप्नों का सुख संचार हुआ,**
कौतुक सा बन मनु के मन का वह सुन्दर क्रीड़ागार हुआ।
था व्यक्ति सोचता आलस में चेतना सजग रहती दुहरी,
कानों के कान खोल करके सुनती थी कोई ध्वनि गहरी।
—**कामायनी**, पृष्ठ ७०।

२. **विवेकचूड़ामणि**, पृष्ठ १२२-२३; **वेदान्तसार**, पृष्ठ ३।

३. **अविवेको माया सौषुप्तम्। —शिवसूत्रविमर्शिनी** १।१०
यस्तु अविवेको विवेचनाभावो ख्यातिः, एतदेव मायारूपं मोहमयं सौषुप्तम्।
—**शिवसूत्रविमर्शिनी**, पृष्ठ २५।

४. **वेद्यच्छायोऽवभासो हि मेयेऽधिष्ठानमुच्यते।**
यस्त्वधिष्ठातृभूतादेः पूर्वोक्तस्य वपुर्ध्रुवम्॥
बीजं विश्वस्य तत्तूष्णींभूतं सौषुप्तमुच्यते। —तन्त्रालोक १०।२५७-५८

५. **आकाशदीप**, पृष्ठ ४६।

६. **यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते। —वेदान्त-सार**, पृष्ठ ३।
शिवमद्वैतम् चतुर्थम्। — मांडूक्योपनिषद्, ७

हो जाता है।[1] इसी से यहाँ तुरीयावस्था को आनन्द-शक्ति रूपा माना गया है।[2] इस अवस्था में पहुँचा हुआ जीव जगत् की वस्तुस्थिति से पूर्णतया अवगत हो जाता है, वह जीवों की इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति के पृथक्-पृथक् रहने से उत्पन्न उनके जीवन की विडम्बनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है[3] और अपने जीवन में इन तीनों का पूर्ण सामंजस्य करके आनन्द-शक्ति की अग्नि को अपनी आत्मा में प्रज्वलित कर लेता है, जिसमें समस्त मलिन कर्म भस्म हो जाते है, सारी विषमताएँ समाप्त हो जाती हैं और जिसके समीप आने से समस्त पाप डरने लगते हैं।[4] इतना ही नहीं, उसकी इच्छा, ज्ञान, क्रिया के साथ-साथ उसकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थाएं भी भस्म हो जाती है और वह तन्मयी अवस्था को प्राप्त हो जाता है।[5] प्रसाद ने यह तन्मयी अवस्था ही तुरीयावस्था के रूप में स्वीकार की है।

(५) **तुर्यातीत अवस्था**—वेदान्त में तो तुर्यातीत कोई अवस्था ही नहीं है। शैवागमों में जीव की अन्तिम पाँचवीं अवस्था को तुर्यातीत कहा गया है। यह जीव की पूर्णता-प्राप्ति की अवस्था है। वेदान्त में जीव के भेद-ज्ञान नष्ट होने और चैतन्य-स्वरूप होने में कोई अन्तर नहीं किया गया है, किन्तु शैवागमों में जीव के भेद-ज्ञान नष्ट होने के उपरान्त शुद्ध चैतन्य आनन्दरूप शिव होने की अवस्था को तुर्यातीत अवस्था माना गया है। इस अवस्था में पहुँचकर जीव शुद्धचैतन्यरूप शिव का साक्षात्कार करके स्वयं को शुद्धचेतन शिव समझने लगता है और वह पूर्ण, स्वच्छ, स्वच्छंद, चिदानन्दघन शिव होकर परम पद को प्राप्त कर लेता है।[6] यही अवस्था जीव की महाप्रलय, महालय, पूर्णता एवं तद्रूपता की अवस्था भी मानी गई है और इसी को अनुत्तरावस्था भी कहा गया है।[7] इस अवस्था में पहुँचते ही जीव में चित्-शक्ति

---

१. **यत्तु प्रमात्मकं रूपं प्रमातुरुपरि स्थितम् ॥
पूर्णतागमनौन्मुख्यमौदासीन्यात्परिच्युतिः ।
तत्तुर्यमुच्यते शक्तिसमावेशा ह्यसौ मतः ॥ —तंत्रालोक** १०।२६४-६५

२. **आनन्दस्तुर्यम् । —तंत्रालोक** १०।२६६

३. **कामायनी**, पृष्ठ २७२ । ४. **इरावती**, पृष्ठ ५६ ।

५. **स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे ।**
—**कामायनी**, पृष्ठ २७३

६. **यत्तु पूर्णानवच्छिन्नवपुरानन्दनिर्भरम् ।
तुर्यातीतं तु तत्प्राहुस्तदेव परमं पदम् ॥ —तन्त्रालोक** १०।२७६

७. **प्रसंख्यानबलात्त्वेतद्रूपं पूर्णत्वयोगतः ।
अनुत्तरादिह प्रोक्तं महाप्रचयसंज्ञितम् ॥ —तन्त्रालोक** १०।२८०-२८१
यच्च सर्वान्तर्भूतं पूर्णरूपं तत् तुर्यातीतं सर्वातीतम् ।
—**तन्त्रसार**, पृष्ठ १०७ ।

का प्राधान्य हो जाता है।[१] वह जगत् के सभी जड़ और चेतन पदार्थों से समरस हो जाता है, स्वयं को साकार शिवरूप समझने लगता है, सर्वत्र एक चेतनता को विलास करती हुई देखने लगता है और अखण्ड आनन्द में लीन होकर स्वयं आनन्द-स्वरूप हो जाता है।[२] इस तरह जैसे ही जीव का जीवत्व शिवत्व में विलीन हो जाता है, वैसे ही वह शांभव अवस्था को प्राप्त होकर शुद्धचैतन्यस्वरूप हो जाता है—यही जीव की अन्तिम तुर्यातीत अवस्था है।

जीव के त्रिविध शरीर

शैवागमों में जीव को चित्-अचित्-रूपताभासी कहा गया है। चित् रूप होने के कारण जीव व्यापी, निर्गुण एवं निष्क्रिय माना गया है और अचित् रूप होने के कारण इसे नित्य भोगों का इच्छुक अथवा भोगासक्त माना गया है।[३] जीव इन्हीं भोगों के लिए किसी न किसी भोगायतन का आश्रय लेता है। इन भोगायतन का नाम ही 'शरीर' है, क्योंकि जीव की चेष्टाओं, इन्द्रियों और अर्थों के आश्रय को ही शरीर कहते हैं।[४] जीवात्मा इस भोगायतन अथवा शरीर में स्थित होकर श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और नासिका नामक पाँच इन्द्रियों तथा छठे मन को आश्रय बनाकर शब्दादि विषयों का सेवन किया करता है[५] और जब वह पहले शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त करता है, तब मन सहित इन छः इन्द्रियों को भी साथ लेकर जाता है।[६] माया अथवा अविद्या के परिणामस्वरूप जीव के स्वरूपज्ञान का तिरोधान हो जाता है[७] और उसमें अज्ञता आ जाती है।[८] इसी अज्ञता के कारण जीव

---

१. एकत्रादि प्रभौ पूर्णे चित्तुर्यातीतमुच्यते। —तन्त्रालोक, पृष्ठ २०१, १०।२६९

२. समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखंड घना था। —कामायनी, पृष्ठ २९४।

३. चिदचिद्रूपताभासी पुद्गलः क्षेत्रवित्पशुः।
चिद्रूपत्वाच्च स व्यापी निर्गुणो निष्क्रियस्ततः॥
भोगोत्पन्नेप्सुको नित्यो मूर्तिबन्ध्यः प्रभाष्यते।
अचित्त्वादज्ञता भेदो भोग्याद्भोक्त्रन्तरादथ॥ —तन्त्रालोक, ९।१४५-४६

४. न्यायसूत्र १।१।११

५. श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ —गीता १५।९

६. शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ —गीता १५।८

७. तिरोधानकरीमायामिधा पुनः। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।१।७
आद्य अविद्या कर्म हुआ क्यों जीव स्ववश तब कैसा था। —ज०ना०, पृष्ठ ४७

८. अचित्त्वाद् अज्ञता। —तंत्रालोक ९।१६४

देहाभिमानी हो जाता है[1], इस देह को ही अपना घर समझ कर इसकी पूजा करने लगता है[2] और इसी देह से विविध भोग भोगता हुआ इस जगत् के अनन्त पथ का यात्री बनता है।[3] अतः प्रत्येक जीव को जगत् की यात्रा किसी न किसी भोगायतन या शरीर का आश्रय लेकर करनी पड़ती है और शास्त्रों में जीव के भोगायतन या शरीर तीन बतलाए गये हैं—कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर।[4]

(१) **कारण शरीर**—प्रसाद की स्पष्ट धारणा है कि चेतन जीव अविद्या या माया के वशीभूत होकर ही संसारी होता है।[5] उसी आद्य अविद्या कर्म के कारण यह स्ववश जीव परवश होकर यहाँ जन्म धारण करता है।[6] अद्वैत वेदान्त भी अविद्या माया को जीव के आगामी जन्म का हेतु मानता है।[7] शैवागमों में भी माया को जीव तथा परमेश्वर में भेद डालने वाली तथा जीव के जन्म का मूल कारण माना गया है।[8] इसी कारण माया ही जीव का 'कारण शरीर' है। इसी से जीव की उत्पत्ति होती है।[9] यही जीव को अपने एक झटके में ठग लेती है[10] और वह इसके फंदे में फँस जाता है।[11] माया ही जीव को मोह में डालकर अपनी ओर आकृष्ट करती तथा ललचाती है।[12] इतना ही नहीं, यह माया ही जीव के भावलोक का संचालन करती हुई उसे विविध भावों में लीन रखती है और इसके परिणामस्वरूप जीव सदैव अनुराग या आसक्ति की उपासना में लगे रहते हैं।[13] किन्तु जीव से सर्व-प्रथम अविद्या-कर्म क्यों हुआ, कैसे वह स्वतन्त्र एवं स्ववश से परतन्त्र एवं परवश हो

---

१. अज्ञतेति—जडे हि देहादावस्य आत्माभिमानः इति भावः।
—तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ ११४।

२. कामायनी, पृष्ठ १६१।

३. आँधी; पृष्ठ २२; इन्द्रजाल, पृष्ठ ८६।

४. श्वे० उ० ५।१२; वे०सा०, पृष्ठ ३,५,७; शिवदृष्टि १।१७, १।२७, १।२६-३३; तंत्रालोक ६।३६

५. माया राज्य! यही परिपाटी पास बिछाकर जीव फाँसना।
—कामायनी, पृष्ठ २६४।

६. जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ ४७।

७. पंचदशी १।१७

८. माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथाहि स तया कृतः॥
व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात्।
शिवशक्त्यविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम्॥
—तंत्रालोक, ६।१४६, १५०, १५२

९. चित्राधार, पृष्ठ २६।

१०. कंकाल, पृष्ठ ७०।

११. इरावती, पृष्ठ ५२।

१२. कामायनी, पृष्ठ ८३, ८६।

१३. कामायनी, पृष्ठ २६४।

गया अथवा वह शरीर-बन्धन में कब और कैसे आया[1]—इन सभी प्रश्नों के उत्तर देना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि जीवन-धारा का प्रवाह अनादि है, सत् है और सतत है।[2]

(२) **सूक्ष्म शरीर**—जीव के कारण शरीर से ही सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है, क्योंकि माया के द्वारा पहले इस सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है, जिसको 'लिङ्ग शरीर' भी कहते हैं और जिसके पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, एक बुद्धि और एक मन सब मिलाकर सत्तरह अवयव होते हैं।[3] यह जीव का छायामय रमणीय कलेवर होता है और इसमें भाव-जगत् का प्राधान्य होने के कारण इसे 'भावमयी प्रतिमा का मन्दिर' भी कह सकते हैं।[4] यहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ नित्यप्रति शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध के लिए लालायित होकर इस तरह नृत्य करती रहती हैं, जिस तरह फूलों पर रूपवती रंगीन तितलियाँ नाचा करती हैं।[5] ऐसे ही अन्य इन्द्रियों एवं प्राणों की दशा रहती है। इस भाव-प्रधान सूक्ष्म शरीर के समस्त अवयवों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(क) अन्तःकरण, (ख) इन्द्रियाँ, और (ग) प्राण।

(क) **अन्तःकरण**—पंचमहाभूतों के सात्विक अंश से जिस ज्ञानशक्ति-प्रधान अंश की उत्पत्ति होती है, उसे अन्तःकरण कहते हैं।[6] प्रसाद ने अन्तःकरण को एक नवीन स्फूर्ति का केन्द्र तथा नवीन भाव-जगत् माना है, जिसमें प्रेम, सहानुभूति, कोमलता आदि का आनन्द विद्यमान रहता है[7] और इसी अन्तःकरण में अनेक मनोवृत्तियाँ इस तरह सोती रहती हैं, जिस तरह नवीन मनोहर नीड़ में खग-कुल सोता रहता है।[8] इसे जीव की ज्ञानशक्ति-समष्टि भी कह सकते हैं।[9] इसी अन्तःकरण

---

१. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४७-४८। २. **कामायनी**, पृष्ठ २४१।

३. **सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिंगशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपंचकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रिय पंचकं वायुपंचकं चेति।**

—**वेदान्त-सार**, पृष्ठ ४।

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च प्राणादिपञ्चाभ्रमन्यानि पञ्च।
बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः।

—**विवेक-चूड़ामणि**, श्लोक सं० ९८।

४. **कामायनी**, पृष्ठ २६२।

५. **शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध की पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ,**
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों रूपवती रंगीन तितलियाँ।

—**कामायनी**, पृष्ठ २६२।

६. **एते पुनराकाशादिगतसात्विकांशकार्यत्वम्।** —**वेदान्त-सार**, पृष्ठ ५।

७. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ११३।

८. **मनोवृत्तियाँ खग-कुल सी थीं सो रहीं, अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में।**

—**झरना**, पृष्ठ ५।

में तीव्र अभिमान, राग-विराग आदि के साथ-साथ अनादि वासना निवास करती है, जो रति रूप धारण करके आकर्षण बनती है और जिसके फलस्वरूप अव्यक्त प्रकृति का उन्मीलन होता है।[१] जीव के अन्तःकरण में यह अनादि वासना जैसे ही मधुर प्राकृतिक भूख के समान जाग्रत होती है, वैसे ही वह चिर परिचित की भाँति द्वन्द्व की अभिलाषा करने लगता है, उसके हृदय से अद्वैतभाव लुप्त हो जाता है और द्वैत में ही उसे सुख का अनुमान होने लगता है।[२] जीव को ब्रह्म से पृथक् करने में अन्तःकरण का ही सबसे अधिक हाथ रहता है, क्योंकि इसी अन्तःकरण के द्वारा जीव किसी छायाचित्र, किसी काल्पनिक महत्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसन्धान करता दौड़ता है। उसकी शान्ति खो जाती है और उसका स्वरूप विस्मृत हो जाता है।[३] इसी के द्वारा जीव अतीन्द्रिय स्वप्नलोक के मधुर रहस्य में उलझ जाता है[४], उसका मन संवेदन की चोट खाकर विकल हो उठता है और इसी के फलस्वरूप संवेदन और हृदय में संघर्ष उठ खड़ा होता है, जिससे जीव सदैव अभाव और असफलताओं मे ग्रसित रहा आता है।[५] वृत्ति-भेद के अनुसार अंतःकरण के चार अंग माने गये हैं—बुद्धि, अहंकार, चित्त और मन।[६] कुछ दार्शनिक अंतःकरण के केवल दो अंग—बुद्धि और मन ही मानते है और चित्त तथा अहंकार का इन दोनों में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं।[७] शैवागमों में अन्तःकरण के तीन अंग स्वीकार किए गये हैं—बुद्धि, अहंकार और मन।[८] किन्तु प्रसाद ने अन्तः-करण की उक्त चारो वृत्तियों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करके अपने साहित्य में उनका निरूपण किया है।

बुद्धि—प्रसाद ने बुद्धि को मनीषा, मति, आशा और चिन्ता का पर्यायवाची माना है।[९] वेदान्त में अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहते है।[१०] शैवागमों में शब्दादि विषयों के अध्यवसाय को बुद्धि कहते हैं।[११] वैसे बुद्धि को जड़

---

१. स्कन्दगुप्त, पृष्ठ ५६; **कामायनी**, पृष्ठ ७२।
२. **कामायनी**, पृष्ठ ३५।	३. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २११।
४. **कामायनी**, पृष्ठ ३५।	५. **कामायनी**, पृष्ठ ३७।
६. (क) **मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम्।**
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्या लक्षणरूपया॥ —श्रीमद्भागवत पुराण ३।२६।१४
(ख) **निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधीरहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः।**
मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभि र्बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः।
—विवेक-चूड़ामणि, ९५।
७. **बुद्धिर्निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकान्तः-करण वृत्तिः। अनयोरेव चिन्ताहंकारयोरन्तर्भावः। —वेदांत-सार**, पृष्ठ ४-५।
८. **बुद्ध्यहंकृन्मनः प्राहुर्बोधसंरम्भणैषणे। —तंत्रालोक** ९।२३६
९. **बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता तेरे हैं कितने नाम।—कामायनी**, पृष्ठ ६।
१०. **बुद्धिः निश्चयात्मिकान्त करणवृत्तिः। —वेदान्तसार**, पृष्ठ ४-५।
११. **बोधः शब्दादेर्विषयस्याध्यवसायः। —तंत्रालोक, भाग** ६, पृष्ठ १८९।

माना गया है, किन्तु बुद्धि से ही विषयों का बोध होता है[1] और यही आत्मसंविद् या पुंबोध का प्रकाश मानी गई है। इसीलिए बुद्धि को बोध का ध्रुवालम्बन अथवा स्थिर प्रतिबिम्बाधार माना जाता है।[2] इस बुद्धि के द्वारा दो प्रकार से बोध होता है—प्रत्यक्ष बोध और परोक्ष बोध। आँखों के द्वारा बाह्य विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष बोध कहलाता है और उत्प्रेक्षा द्वारा या स्वप्न आदि में जो बोध आँखों से बिना देखे होता है, उसे परोक्ष बोध कह सकते हैं।[3] प्रसाद ने बुद्धि को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष बोध अथवा ज्ञान-क्षेत्र की संचालिका माना है, क्योंकि यही बुद्धि आस्तिकता और नास्तिकता को जन्म देती है, जिससे कुछ ज्ञानीजन तो ईश्वर का अस्तित्व मानते हैं, कुछ नहीं मानते और अपने-अपने मत का समर्थन करने के लिए बड़े-बड़े युक्तिपूर्ण तर्क दिया करते हैं।[4] तर्क ही बुद्धि का सम्बल है। जब कोई सिद्धान्त पहले बन जाता है और मन जब कोई अपना मत निश्चित कर लेता है, तब बुद्धि सदैव उसका समर्थन करने के लिए अनेक प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करती है और तर्क उस सिद्धान्त की सत्यता का प्रतिपादन किया करता है।[5] इस तरह बुद्धि किसी भी मत या सिद्धान्त की सत्यता का निश्चय करने वाली वृत्ति मानी गई है। प्रसाद ने इसी कारण सत्य को 'मेधा के क्रीड़ा-पंजर का पाला हुआ सुआ' कहा है[6], क्योंकि सत्य का निर्धारण बुद्धि ही अपने तर्कों के सहारे मनमाने ढंग से किया करती है। इसीलिए प्रसाद के मत से यह बुद्धि जीवों को झिड़कने वाली[7], आपत्ति के क्षणों में जीवों को बिजली के समान चमक कर मार्ग दिखाने वाली[8], संसृति के सम्पूर्ण विज्ञान और ज्ञान का बोध कराकर जीवों को जीवन-रस की प्राप्ति के लिए कर्म का कलश तथा विचार-शक्ति प्रदान करने वाली[9], सत्कर्म की प्रेरणा देने वाली[10], निर्लिप्त रहकर सदैव

---

१. **वृत्तिर्बोधो भवेद्बुद्धेः। —तंत्रालोक ६।२२६**
तत् तस्मात् आत्मसंविदभिव्यक्तिस्थानत्वात् हेतोरस्या वृत्त्यात्मा बोधो जडोऽपि असावलं, विषय प्रकाशनाय समर्थ इत्यर्थः।
—तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ १८३।

२. **सा बुद्धिरपि हि आत्मसंविदः पुंबोधस्य प्रकाशो व्यक्तिराविर्भावः, तस्य ध्रुवमालम्बनं स्थिरः प्रतिबिम्बाधार इत्यर्थः। —तंत्रालोक, भाग ६,** पृष्ठ १८३।

३. **द्विधाहि बुद्धेर्बहिर्विषयप्रतिबिम्बमक्षद्वारकमतद्द्वारकं च। तत्राद्यं प्रत्यक्षादौ, अन्यच्च उत्प्रेक्षादौ, आदिशब्दात् स्वप्नादि।**
—तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ १८३।

४. **कामायनी**, पृष्ठ २६६। ५. **कामायनी**, पृष्ठ ११०।
६. **वही**, पृष्ठ १११। ७. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ ६७।
८. **ध्रुवस्वामिनी**, पृष्ठ १७।
९. **कामायनी**, पृष्ठ १६८। १०. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ६६।

साक्षीरूप से सब दृश्य देखने वाली एवं न्याय का समर्थन करने वाली[1], विचलित मन को बरजने वाली[2], मन का पथ आलोकित करती हुई विपद-नदी में नौका का कार्य करने वाली[3], शासन-सूत्र का संचालन करने के लिए नियमन करने वाली[4], मन के विकल्पों को संकल्प रूप प्रदान करने वाली[5] तथा जीवों को शिवत्व प्रदान करके अखंड आनन्द की प्राप्ति कराने वाली भी है।[6]

अहङ्कार—अन्तःकरण की दूसरी वृत्ति को अहंकृति या अहंकार कहते हैं।[7] 'मै हूं'[8]—इस प्रकार के दम्भ का नाम ही 'अहङ्कार' है। प्रसाद ने 'अहमिति'[9], 'आत्मा'[10] और 'अहम्' तीनों को एक ही माना है। इसके साथ ही प्रसाद ने दम्भ, गर्व और अभिमान को भी अहंकार के पर्यायवाची के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि दम्भ और अहंकार से परिपूर्ण होकर जीव कर्तृत्व मद में मत्त हो जाता है।[11] यह अहङ्कार जीव के अन्तर्गत देहाभिमान उत्पन्न कर देता है, जिससे वह आत्मा को छोड़कर देह को ही 'मैं' या 'अहं' मानने लगता है[12] और इस पृथ्वी पर दम्भ का स्तूप सा बनकर घूमा करता है।[13] इसी अभिमान के कारण जीव 'मैं स्पर्श करता हूं', 'मैं रूप-दर्शन करता हूं', 'मैं रसपान करता हूँ', 'मैं गन्ध ग्रहण करता हूं' आदि अनुभव करने लगता है।[14] इसी अहंभाव की प्रबलता के कारण जीव में सुयश की लालसा जाग्रत हो जाती है, वह अनेक अपराध करने लगता है और अन्धप्रेरणा से परिचालित होकर स्वयं को ही कर्त्ता समझने लगता है।[15] इतना ही नहीं, जीव में भेद-भाव एवं भिन्नता को जन्म देने वाली यह अहं भावना अथवा 'मैं की मेरी चेत-नता' ही है, जो जीव को उन्मत्त कर देती है और जिसके फलस्वरूप उसमें अहं-मन्यता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह जगत् के सभी प्राणियों से अपना पृथक् अस्तित्व समझने लगता है।[16] यह दम्भ या अहंकार ही जीव को पतन के गर्त्त में ले जाता है।[17] यही जीव को इतना कठोर बना देता है, जिससे वह किसी का करुण-क्रन्दन नहीं सुनता।[18] यही जीव की मनोवृत्ति को ऐसा परिवर्तित कर देता है कि

---

१. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ३०।
२. **विशाख**, पृष्ठ २६।
३. **कामायनी**, पृष्ठ १८१।
४. **कामायनी**, पृष्ठ १८६।
५. **वही**, पृष्ठ १७२।
६. **चित्राधार**, पृष्ठ १३७।
७. **तन्त्रालोक, भाग** ६, पृष्ठ १८६।
८. **कामायनी**, पृष्ठ २७।
९. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०६।
१०. **का० नि०**, पृष्ठ ३३।
११. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३।
१२. **लहर**, पृष्ठ ६४।
१३. **कामायनी**, पृष्ठ १६६।
१४. **वही**, पृष्ठ ६६।
१५. **कामायनी**, पृष्ठ २६८।
१६. **वही**, पृष्ठ २८६।
१७. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ८१।
१८. **राज्यश्री**, पृष्ठ ३७।

वह देहाभिमानी हो जाता है और अपने रूप के गर्व पर इतराने लगता है।[1] इसी अभिमान के कारण एक जीव दूसरे मलिन-दीन-हीन जीव के प्रणाम का उत्तर नहीं देता, उसे अपने पास तक नहीं बैठाता और न उसकी कुछ सहायता करता है।[2] यह अहंकार ही जीव के हृदय में ईर्ष्या की जलन उत्पन्न कर देता है, जिससे उसमें ममत्व की प्रबलता हो जाती है, वह एकमात्र अपनी सुख-सुविधा की चिन्ता में निमग्न होकर स्वार्थी हो जाता है और सदैव यही कामना करने लगता है कि इस पंचभूत की रचना में मैं अकेला एक तत्व बनकर सदैव रमण करता रहूँ।[3] इस तरह यह अहङ्कार जीव में भेदभाव को जन्म देकर उसकी बुद्धि को विकृत कर देता है, जिससे वह प्राणियों में कटुता उत्पन्न करके जगत् को दैन्य से भर देता है।[4] वह पागल एवं निर्दय होकर समस्त प्राणियों से ममता तोड़ लेता है, किसी से उदारता का वर्ताव नहीं करता और सबसे प्रतिस्पर्द्धा करने के लिए तैयार हो जाता है।[5] इससे वह जिन्हें कलियाँ समझता है, वे सब उसके लिए काँटे बन जाते हैं, वह जगत् के बीहड़ पथ पर अकेला ही भटकता रहता है, उस पर उन्मुक्त शिखर हँसते हैं और वह निर्वासित-सा अशान्त होकर रोता रहता है।[6] यदि जीव के अन्तःकरण में से यह अहंकार निकल जाय, तो वह परमात्मा से अभिन्न होकर ब्रह्म रूप हो सकता है, केवल 'अहम्' या 'हम' की भावना ही उसे ब्रह्म से विलग किये रहती है।[7]

चित्त—अन्तःकरण की तीसरी वृत्ति 'चित्त' के नाम से अभिहित की जाती है। पातंजल योग-दर्शन में चित्त और मन दोनों को एक ही मान लिया गया है, क्योंकि चित्तशुद्धि के प्रसंग में वहाँ मन की शुद्धि या मन की स्थिति को बाँधने की चर्चा मिलती है और मन के स्थान पर चित्त के ही निरोध को योग कहा गया है।[8] इसके विपरीत वेदान्त-दर्शन और शैव-दर्शन में चित्त का अन्तर्भाव मन के अन्तर्गत ही कर लिया गया है और वहाँ चित्त का कोई स्वतन्त्र वर्णन नहीं मिलता। किन्तु प्रसाद ने चित्त और मन दोनों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया है।[9] प्रसाद मन को मानस के तुल्य विशाल और चित्त को मराल के समान उस मानस में विहार करने वाला

---

१. **लहर**, पृष्ठ ६७।

२. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ४५। ३. **कामायनी**, पृष्ठ १५३।

४. **कामायनी**, पृष्ठ १५७।

५. **वही**, पृष्ठ १५८। ६. **वही**, पृष्ठ १५८।

७. **इसी 'हम' को तुम ले लो नाथ, न लूटो मेरी कोई वस्तु।**
—**जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ८१।

८. **योगदर्शन** १।१, १।३५

९. **मन अकस्मात् एक मनोहर मूर्ति का एकान्त भक्त होता जा रहा है। चित्त में अलस उदासी विचित्र मादकता फैला रही है।** —**विशाख**, पृष्ठ ५०।
मन-मानिक चित चाहिकै पहिले लीन्हों छीन। —**चित्राधार**, पृष्ठ १५६।

मानते हैं।[१] दूसरे शब्दों में मन यदि समष्टि रूप है, तो चित्त व्यष्टि रूप है। इस चित्त का मुख्य धर्म अनुसन्धान या चिन्तन करना है।[२] वैसे जीव का चित्त समुद्र की भाँति शान्त रहता है[३], किन्तु विश्व के मोह-जाल में फँसकर वह अधीर हो जाता है।[४] बचपन में तो चित्त सुख में व्यस्त रहता है, किन्तु यौवन के आते ही असंतोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषायें उसे चारों ओर से घेर लेती हैं[५] और वह चंचल हो उठता है।[६] चित्त चिर चंचल माना गया है।[७] जब तक चित्त सुख भोगकर उनसे उपराम नहीं होता, तब तक इसमें वैराग्य भी उत्पन्न नहीं होता।[८] जीव जैसे-जैसे अधिक उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता जाता है वैसे ही वैसे चित्त को प्रायः चैन नहीं मिलता, वह घड़ी भर के लिए भी शान्ति का अनुभव नहीं करता।[९] जब चित्त विषाद और क्रोध से विवेक-शून्य हो जाता है, तब उसमें प्रतिहिंसा जाग्रत हो जाती है और वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है।[१०] किन्तु जब चित्त में उत्तेजना उत्पन्न होती है, तब वह जीव को कर्मण्यता की ओर भी अग्रसर करता है।[११] इस तरह चित्त के चिन्तन करना[१२], अनुसन्धान करना[१३], स्मरण करना[१४], अभिलाषा करना[१५], उत्तेजित करना[१६] आदि अनेक व्यापार हैं। योग-दर्शन में चित्त की पाँच प्रमुख वृत्तियाँ मानी गई हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।[१७] अभ्यास और वैराग्य से इन चित-वृत्तियों का निरोध होता है।[१८] इसके साथ ही चित्त के नौ विक्षेप अथवा अन्तराय माने गये हैं—व्याधि, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व[१९]। इन विक्षेपों के दूर होने पर ही चंचल चित्त स्थिर एवं शुद्ध होता है। योग-दर्शन के अनुसार ईश्वर-भक्ति, प्राणायाम, सुखीजन के साथ मित्रता, दुःखीजनों पर दया, पुण्यात्मा के साथ प्रसन्नता, पापियों की उपेक्षा करने से चित्त शुद्ध होता है।[२०] प्रसाद ने सेवा से अखिल चित्त का शुद्ध होना

---

१. **मानस ! तुम मानस सम विमल विशाल।**
खेलत जामहँ चित-मराल सुख चाहि। —चित्राधार, पृष्ठ १४३।

२. **स्वार्थानुसंधानगुणेन चित्तम्। —विवेक-चूड़ामणि ९६**

३. **वरुणालय चित्त शान्त था। —विशाख,** पृष्ठ ११।

४. **अधीर न हो चित्त विश्व-मोह-जाल में। - अजातशत्रु** पृष्ठ ९३।

५. **विशाख,** पृष्ठ १२।

६. **चित्राधार,** पृष्ठ ३४।

७. **चित्राधार,** पृष्ठ ६।

८. **विशाख,** पृष्ठ ३६।

९. **विशाख,** पृष्ठ ५०।

१०. **चित्राधार,** पृष्ठ ११५।

११. **चित्राधार,** पृष्ठ १०।

१२. **कामायनी,** पृष्ठ ६।

१३. **कामायनी,** पृष्ठ १४८।

१४. **चन्द्रगुप्त,** पृष्ठ २०८।

१५. **कामायनी,** पृष्ठ ६४।

१६. **स्कन्दगुप्त,** पृष्ठ ९७।

१७. **पातंजलि योगसूत्र** १।६

१८. **पातंजलि योगसूत्र** १।१२

१९. **वही** १।३०

२०. **वही** १।३२, ३३, ३४

स्वीकार किया है।[१] चित्त के शुद्ध होने पर ही जीव आत्म-दर्शन करता है[२], संसृति की सेवा में लीन होता है और सन्तोष तथा सुख देकर सम्पूर्ण प्राणियों की दुःख-ज्वाला को दूर करता हुआ क्लेश-मुक्त हो जाता है।[३]

मन—अन्तःकरण की चौथी वृत्ति का नाम 'मन' है। इसे अद्वैत वेदान्त में संकल्प-विकल्पात्मक[४] और विमर्शरूप[५] माना गया है। सांख्य-दर्शन में संकल्पक उभयात्मक इन्द्रिय को 'मन' कहा गया है।[६] शैव-दर्शन में मन को केवल इच्छा एवं संकल्प रूप माना गया है।[७] वहाँ भी इसकी उत्पत्ति सात्विक अहंकार से बतलाई गई है तथा इसके सर्वविषयत्व का प्रतिपादन किया गया है।[८] प्रसाद भी मन को संकल्प-विकल्पात्मक मानते हैं।[९] इसके साथ ही मन के सर्वविषयत्व का प्रतिपादन करते हुए प्रसाद ने 'मानस' कविता में मन को मानसरोवर के समान निर्मल एवं विशाल कहा है और चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, लोभ, आशा, निर्वेद आदि से उसका सम्बन्ध स्थापित किया है।[१०] यह मन मधुकर के तुल्य है और यह सृष्टि इसकी मोहिनी कारा है।[११] मन को भी चित्त की भाँति अत्यन्त चंचल माना गया है, क्योंकि यह क्षण भर भी विश्राम नहीं करता और अपनी माया से सदैव चंचल बना रहता है[१२], मरुत के सदृश अबाध गति से दौड़ता रहता है[१३] और कभी-कभी तो मधुप से भी चंचल तथा पवन से भी अधिक प्रगतिशील एवं वेगवान हो जाता है।[१४] यह

---

१. **कंकाल**, पृष्ठ १५४।
२. **वही**, पृष्ठ २८८।
३. **कामायनी**, पृष्ठ २८२।
४. **मनोनाम संकल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। —वेदान्तसार**, पृष्ठ ५।
५. **मनोविमर्शरूपंस्यात्। —पंचदशी**, १।२०
६. **सांख्यकारिका २७ पर गौडभाष्य।**
७. **मनः एषणमिच्छा संकल्पः। —तन्त्रालोक, भाग ६**, पृष्ठ १८९।
८. **ततश्च तद्विशिष्टात् सात्विकादहंकारान्मनो जायते इत्यस्य सर्वविषयत्वम्।**
—तन्त्रालोक, भाग ६, पृष्ठ १८८।
९. **कंकाल**, पृष्ठ ३९, १०८; **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ ८७; **का० नि०**, पृष्ठ ३८।
१०. **मानस (कविता) —चित्राधार**, पृष्ठ १४३।
११. **कामायनी**, पृष्ठ ६५।
१२. **मन की चंचल लीला है। —अजातशत्रु**, पृष्ठ ४८।
इस मन को है विश्राम कहाँ चंचल यह अपनी माया से।
—कामायनी, पृष्ठ ७०।
१३. **मैं तो अबाध गति मरुत सदृश हूँ चाह रहा अपने मन की।**
—कामायनी, पृष्ठ १५७।
१४. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २०६।

जाग्रत अवस्था में तो मछली के समान तैरता ही रहता है[१], किन्तु स्वप्नावस्था में भी सैकड़ों योजन की सैर किया करता है।[२] इस विश्व के मरु-मरीचिका-वन में यह चंचल मन-कुरंग ऐसा उलझ जाता है[३] कि फिर इसे छोड़ना नहीं चाहता और भ्रमवश विश्व के कुसुमित कानन में विकल एवं चंचल होकर भटकने में ही इसे आनन्द आता है तथा शान्त करने पर भी शान्त न होकर हलचल-युक्त रहना ही अधिक पसन्द करता है।[४] यद्यपि यह मन आरम्भ में स्पन्दन-हीन नवीन मुकुल की भाँति अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्द से सन्तुष्ट रहता है, तथापि पुष्प के सौरभ से परिपूर्ण मलयानिल की भाँति विश्व की सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ जब स्पर्श करके उसे गुदगुदा देती हैं, जिससे मन चंचल होकर मधुकर की भाँति गूँजता हुआ मधुर-मधुर स्वर्गीय गान गाने लगता है।[५] किन्तु मन संवेदन की चोट खाकर विकल हो जाता है[६], उसमें अनेक दुराशायें जाग उठती हैं[७], वह व्यथा एवं वेदना से भर जाता है[८], काम तथा क्रोध का शिकार बन जाता है[९] और पाखंडपूर्ण होकर चक्कर काटने लगता है।[१०] मन के अन्तर्गत सब पर अपना अधिकार जमाने की विद्रोह-भावना छिपी रहती है और वह उसी अधिकार की प्राप्ति के लिए छिपे-छिपे विद्रोह करता रहता है।[११] इस चंचल मन पर संयम करना बड़ा ही दुष्कर है, क्योंकि इस पर कठिनाई से ही निग्रह होता है।[१२] मन स्वभाव से ही वासनाग्रस्त एवं विषय-लोलुप है, क्योंकि वह मधुर मुस्कान अथवा नेत्रों के संकेत पर लुट जाता है[१३], सौरभ पर आकृष्ट हो जाता है[१४], रूप की ज्वाला पर पतंग होकर गिर पड़ता है[१५] और मधुर नूपुर की ध्वनि सुनते ही विह्वल होकर वह कुरंग की भाँति चौकड़ी भरने लगता है।[१६] मन की यह स्वाभाविक गति है कि वह काम और क्रोध के समुद्र में दौड़कर प्रवेश करता है।[१७] जीव बूढ़ा हो जाता है, परन्तु मन कभी बूढ़ा नहीं होता, उसकी तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती[१८] और उसकी प्यास कभी नहीं

---

१. **कामना**, पृष्ठ ६९।
२. **स्वप्न में सैर सैकड़ों योजन कर चुका मन।** —**विशाख**, पृष्ठ ७०।
३. **इस मरु-मरीचिका-वन में, उलझा है चंचल मन-कुरंग।** —**लहर**, पृष्ठ ४८।
४. **झरना**, पृष्ठ ३।
५. **झरना**, पृष्ठ ६।
६. **कामायनी**, पृष्ठ ३६।
७. **तितली**, पृष्ठ ७०।
८. **नितली**, पृष्ठ १४२।
९. **चित्राधार**, पृष्ठ १७८।
१०. **वही**, पृष्ठ ११३।
११. **तितली**, पृष्ठ १२०, १४८, १५४; **कामायनी**, पृष्ठ १३९।
१२. **कंकाल**, पृष्ठ १५, १८।
१३. **विशाख**, पृष्ठ ४५।
१४. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २।
१५. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १९८।
१६. **चित्राधार**, पृष्ठ १७६।
१७. **चित्राधार**, पृष्ठ १७९।
१८. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ ९१।

बुझती।[१] प्रेम की क्रीड़ा में मन बहलता है[२] और स्मृति-सौरभ में मन-मृग मस्त रहा आता है।[३]

प्रसाद ने 'मानस' और 'हृदय' को मन के पर्यायवाची के रूप में ही स्वीकार किया है[४], क्योंकि करुणा-कलित हृदय में ही असीम वेदना हाहाकार स्वरों में गरजती है[५], मानस-सागर के तट पर चंचल लहरें अपनी कल-कल ध्वनि से कुछ विस्मृत बीती बातें कहती है[६] और इस हृदय में ही नक्षत्र-लोक की भाँति स्मृतियों की एक बस्ती बस जाती है।[७] हृदय भी मन की ही भाँति अत्यन्त उतावला हो उठता है, मचलता है और रूँठता है।[८] मन की तरह वह प्रेम का लोभी होकर अपने प्रेमी को अपने अन्दर ढूँढ़ता रहता है[९] और मन की भाँति ही हृदय में रूप-ग्रहण की सामर्थ्य एवं उसकी स्थिति बताई गई है।[१०] इतना ही नहीं, इस हृदय में भी मन की ही भाँति संकल्प-विकल्प, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, दया-क्रोध आदि निवास करते हैं।[११] यद्यपि प्रसाद हृदय और मन को एक ही मानते हैं, तथापि अन्तःकरण के अन्तरंग को हृदय और ऊपरी भाग को मन स्वीकार किया है।[१२] इसी कारण प्रसाद ने हृदय को जलनिधि बताया है[१३], मानस को सागर कहा है[१४], उसे जल से परिपूर्ण निर्वात मेघ की तरह अत्यन्त सुप्त, शान्त और शीतल स्वीकार किया है, जिसकी पारदर्शक गहराई में यह चिर चंचल विश्व परछाईं बनकर इस तरह चमकता रहता है, जिस तरह निर्मल नीलमणि के दर्पण में कोई प्रतिबिम्ब चमक रहा हो।[१५] इसके साथ ही प्रसाद ने मन को ऊपर का निस्सीम गगन माना है, जिसमें

---

१. राज्यश्री, पृष्ठ १८। २. आँसू, पृष्ठ १२।
३. आँसू, पृष्ठ ७। ४. वही, पृष्ठ ६।
५. वही, पृष्ठ ७। ६. वही, पृष्ठ ८।
७. वही, पृष्ठ ६। ८. स्कन्दगुप्त, ६७।
९. हृदय तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझ में।
—स्कन्दगुप्त, पृष्ठ १३८।
१०. आँखों की प्रतिष्ठा रूप में है और रूप-ग्रहण का सामर्थ्य, उसकी स्थिति, हृदय में है। —का० नि०, पृष्ठ ३५।
११. विशाख, पृष्ठ ५२।
१२. इस वक्षस्थल में दो हृदय हैं क्या? जब अन्तरंग 'हां' करना चाहता है, तब ऊपरी मन 'न' क्यों कहला देता है? —ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३२।
१३. हृदय तू है बना जलनिधि। —स्कन्दगुप्त, पृष्ठ १३८।
१४. मानस-सागर के तट पर क्यों लोल लहर की घातें।
—आँसू, पृष्ठ ८।
१५. ओ री मानस की गहराई। —लहर, पृष्ठ ४३।

जो रूप समा जाता है[१], उसकी लकीर आन्तरिक हृदय में प्रतिबिम्ब की भाँति अंकित हो जाती है।[२] इस प्रेम की क्रीड़ा में मन बहलता है, क्योंकि उसके लिए यह क्रीड़ा बड़ी मादक और मोहमयी होती है, किन्तु जब प्रेमी बिछुड़ जाता है तब उस विरह का मन की अपेक्षा हृदय पर अधिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वही मधुर प्रेम की क्रीड़ा अब हृदय के लिए पीड़ा बनकर उसे हिला देती है[३] और उसी हृदय में असीम वेदना हाहाकार स्वरों में गर्जना किया करती है।[४] इसी कारण प्रसाद की दृष्टि में हृदय अधिक गहन एवं गम्भीर होने के कारण नीरव अभिलाषाओं का नीड़ है[५], दुरभिलाषाओं का केन्द्र है[६] और मन चंचल तथा अन्तःकरण का ऊपरी भाग होने के कारण उन अभिलाषाओं एवं दुरभिलाषाओं की पूर्ति के लिए काम, क्रोध, लोभ, ममता, घृणा, विद्रोह आदि से परिपूर्ण होकर अवाध गति से क्रीड़ा-नौकाओं की भाँति अनन्त में दौड़ लगाया करता है।[७] इस चंचल एवं अतृप्त मन की यदि कभी प्यास बुझती है, तो वह भी जगत् के बाह्य सौन्दर्य में अनुरक्त होकर उनके उपभोग से नहीं बुझती, अपितु अपने ही उस निर्मल विशाल ह्रद रूप हृदय में निमग्न होने पर बुझती है, जिसे 'मानस' कहा जाता है और जो जीव इस हृदय या अन्तःकरण के आन्तरिक भाग में अन्तर्मुखी होकर प्रवेश कर जाता है वही सुख प्राप्त करता है।[८]

जीव का मन कतिपय सहज प्रवृत्तियों का दास बना रहता है[९], ये प्रवृत्तियाँ इतनी वेगवती होकर चलती हैं कि जीव उनके वश में हो जाता है[१०] और ये उसे राज्य-शक्तियों की भाँति सदैव घेरे रहती हैं।[११] नीति-ग्रन्थों में जीव की चार सहज एवं सामान्य प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं—आहार, निद्रा, भय और मैथुन।[१२] भौतिक दृष्टि से प्रथम तीन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध जीव की आत्मरक्षा से है और अन्तिम प्रवृत्ति आत्म-विस्तार में सहायक होती है।[१३] भूख और प्यास का सम्बन्ध आहार से है[१४] और इस आहार से जीव के पेट का गढ़ा भरता है[१५], पेट की ज्वाला शान्त होती है। जीव

---

१. **पर समा गये थे, मेरे मन के निस्सीम गगन में।** —आँसू, पृष्ठ २०।
२. **थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में।** —आँसू, पृष्ठ २०।
३. **अब हृदय हिला देती है वह मधुर प्रेम की पीड़ा।** —आँसू, पृष्ठ १२।
४. **इस करुणा कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती।** —आँसू, पृष्ठ ७।
५. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ५५। ६. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १४२।
७. **कामायनी**, पृष्ठ १५६। ८. **कामायनी**, पृष्ठ २८२।
९. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७१।
१०. **चित्राधार**, पृष्ठ १५०। ११. **राज्यश्री**, पृष्ठ १५।
१२. **आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।**
—**हितोपदेश, प्रस्ताविका**, १५।
१३. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा**, पृष्ठ ११३। १४. **कामायनी**, पृष्ठ ७४।
१५. **छाया**, पृष्ठ ३९।

इसी गढ़े को भरने के लिए मार खाता है[१], असमर्थ होकर भी नौकरी करता है[२], भीख माँगता है[३], छीना-झपटी करता है[४], लाखों पर हाथ साफ करता है[५], अनाथ लड़कों को इकट्ठा करके उनसे दुष्कर्म कराता है[६] और अपने रूप तक को बेच-कर क्षुधित पेट की ज्वाला शान्त करने का प्रयत्न करता है।[७] प्रसाद ने 'निद्रा में सुख-स्वप्न देखता'[८], 'विजन जगत् की तिद्रा में तब चलता था सूना सपना'[९], 'मन जिसमें सुख सोता था'[१०], 'रोई आँखों में निद्रा बनकर सपना होता है'[११], 'निशि सो जावें जब उर में ये हृदय व्यथा आभारी'[१२] आदि कहकर जीव के मन की निद्रा नामक सहज प्रवृत्ति की ओर संकेत किये है। जीव सदैव स्नेह में लिप्त रहने के कारण भावी अनिष्ट की आशंकाओं से भयभीय रहता है[१३] और स्वयं भयभीत होने के कारण अन्य प्राणियों को भी भय देता है तथा स्वयं भी भय की उपासना में लीन रहा आता है।[१४] इस भय का मूल कारण संदेह है, क्योंकि जीव के मन में प्राय: नये-नये संदेह उठा करते हैं और वह इन संदेहों के कारण ही सदैव संतप्त एवं भय-भीत होता है।[१५] इस भय-ग्रस्त जीव को सारा संसार भयावना अंधकार प्रतीत होने लगता है और वह फिर इससे दूर भागने का विचार किया करता है[१६], क्योंकि यहाँ उसे अपने हितैषी भी शत्रु, कृतघ्न और अविश्वासी प्रतीत होने लगते हैं और प्रति-हिंसा एवं प्रतिशोध को मन में दबाकर उसे यहाँ चुपचाप कष्ट सहन करते हुए रहना पड़ता है।[१७] जीव के मन की चौथी प्रवृत्ति मैथुन के अंतर्गत 'काम' आता है। यह काम जीव की 'अनादि वासना' है, जो प्राकृतिक भूख के समान ही जीव के मन में जाग्रत होती है और जिसके जाग्रत होते ही वह अपने साथी की आवश्यकता का अनुभव करने लगता है।[१८] वैसे प्रसाद ने इस काम को मंगल से मण्डित एवं श्रेयस्कर माना है, क्योंकि विश्व का विकास इसी काम अथवा इच्छा से हुआ है। अतएव इसका तिरस्कार करने से संसार का विकास असफल हो जाता है।[१९] इसी कारण

---

१. **छाया**, पृष्ठ ३९।
२. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ १४-१५।
३. **आँधी**, पृष्ठ ७३।
४. **तितली**, पृष्ठ २२४।
५. **तितली**, पृष्ठ २२४।
६. **तितली**, पृष्ठ २२६-२२७; **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ ३२-३३।
७. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ २८-२९।
८. **कामायनी**, पृष्ठ २९।
९. **कामायनी**, पृष्ठ ३४।
१०. **वही**, पृष्ठ ४०।
११. **आँसू**, पृष्ठ ५३।
१२. **आँसू**, पृष्ठ ५४।
१३. **कामायनी**, पृष्ठ १८६।
१४. **कामायनी**, पृष्ठ १५७।
१५. **वही**, पृष्ठ १६४।
१६. **वही**, पृष्ठ २१८।
१७. **वही**, पृष्ठ २३०।
१८. **वही**, पृष्ठ ३५।
१९. **वही**, पृष्ठ ५३।

इस चतुर्थ प्रवृत्ति को आत्म-विस्तारक माना गया है। किन्तु कभी-कभी जीव दुःख के डर से अज्ञात जटिलताओं का अनुमान करता हुआ तथा भविष्य से अनजान बनकर इस प्रवृत्ति को हठात् दबाने की चेष्टा करता है और काम से झिझकता है[1], किन्तु यह जीव की सहज प्रवृत्ति है और भूख-प्यास की ही भाँति जीव के अन्तःकरण में यौवन आते ही अनायास जाग उठती है। इस प्रवृत्ति के दो अंग हैं—काम और रति।[2] इनमें से काम जीव के हृदय में तृष्णा विकसित करता है और रति उसे तृप्ति दिखाती है। इस तरह इस प्रवृत्ति द्वारा जीव आनन्द का अनुभव करता हुआ आत्म-विस्तार में लीन रहता है।[3] प्रसाद काम के आँधी सदृश वासनात्मक रूप को अच्छा नहीं मानते, किन्तु उसके सृजनात्मक एवं आत्मविस्तारक रूप को अच्छा समझते हैं।[4]

(ख) **इन्द्रियाँ**—अंतःकरण के अतिरिक्त जीव के सूक्ष्म शरीर का द्वितीय अवयव इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ दस होती हैं। इनमें से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं[5] तथा वाक्, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।[6] जीव का मन इन दस इन्द्रियों से मिलकर उसे विविध विषयों का भोग कराया करता है।[7] अतएव मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना जाता है। इसे अन्तरिंद्रिय अथवा अन्तःकरण भी कहते हैं।[8] इसी कारण मन की गणना इन्द्रियों में न करके अन्तःकरण के अन्तर्गत ही की जाती है। जीव ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों का बोध किया करता है। इसीलिए वह श्रोत्रेन्द्रिय से मधुर संगीत सुनता है[9] और उसे यह संगीतात्मक ध्वनि मादकता की लहर उठाकर आनन्द-विभोर कर देती है।[10] त्वचा से जीव मधुर स्पर्श एवं आलिंगन करता है।[11] यही इन्द्रिय जीव में आलिंगन की प्रेरणा जाग्रत करती है, जिसमें रत होकर जीव का शरीर सिहरने लगता है, पुलकायमान होता है और उसमें ब्रीड़ा एवं संकोच उत्पन्न होता है।[12] चक्षु या नेत्रेन्द्रिय के द्वारा जीव सुन्दर-सुन्दर रूप देखने के लिए लालायित रहता है और दर्शन की प्यास बुझाता है।[13] जिह्वा से जीव अच्छे-अच्छे विविध भोज्य पदार्थों का स्वाद लेता है[14] और घ्राणेन्द्रिय अथवा नासिका से वह मधुर गन्ध का सेवन करता है।[15]

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ५२। २. **कामायनी**, पृष्ठ ७४।
३. **वही**, पृष्ठ ७४। ४. **वही**, पृष्ठ ७६।
५. **ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। —वेदान्तसार**, पृष्ठ ४।
६. **कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। —वेदान्तसार**, पृष्ठ ५।
७. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ८२-८३।
८. **तत्सिद्धं करणं त्वन्तर्मनः। —तन्त्रालोक**, भाग ६, पृष्ठ १८९।
९. **चित्राधार**, पृष्ठ १८९। १०. **कामायनी**, पृष्ठ २६३।
११. **कामायनी**, पृष्ठ १०। १२. **वही**, पृष्ठ २६३।
१३. **चित्राधार**, पृष्ठ १८९; **कामायनी**, पृष्ठ १०१।
१४. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १०४। १५. **चित्राधार**, पृष्ठ १३७।

इनके अतिरिक्त कर्मेन्द्रियों में से वाक् या वाणी से जीव जो कुछ अनुभव करता है, उसे प्रकट करता है।[1] वाणी के चार रूप होते हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी। इनमें से परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहानिहित मानी गई हैं, क्योंकि परावाणी नाद-रूपा शुद्ध अहं-परामर्शमयी शक्ति मानी गई है। पश्यन्ती वाणी को वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य-प्रधान द्रष्टारूप वाली माना गया है। मध्यमा वाणी वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धि-प्रधान दर्शनस्वरूपा द्रष्टा और दृश्य के अन्तराल में रहने वाली मानी गई है। चौथी बैखरी वाणी मनुष्य बोलते हैं। यह स्थान, करण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करने वाली दृश्य-प्रधान होती है।[2] पाणि अर्थात् हाथों से जीव जगत् के विविध कार्य करता है और पाद अर्थात् पैरों से चलता-फिरता है।[3] पायु के द्वारा जीव शारीरिक मल का बहिष्कार करता है और उपस्थ अर्थात् जननेन्द्रिय के द्वारा वह मैथुन कर्म में प्रवृत्त होकर सृष्टि का विकास करता है।[4] इस तरह जीव ज्ञानेन्द्रियों से विविध बाह्य विषयों का बोध ग्रहण करके कर्मेन्द्रियों द्वारा उन बाह्य विषयों के भिन्न-भिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न रूपों में अनुभव किया करता है।

(ग) **प्राण**—सूक्ष्म शरीर का तृतीय अवयव प्राण है। प्राण को वायु भी कहा जाता है और इसके पाँच भेद माने गये हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान।[5] श्वास लेना, श्वास का प्राग्गमन, वायु का शरीर में ऊर्ध्व गमन, अधोगमन, उत्क्रमण आदि समस्त प्राण की ही क्रियायें हैं।[6] प्राण ही जीव के जड़ शरीर को गतिशील बनाकर उसमें सचेतनता उत्पन्न करता है और प्राणों की क्षमता बढ़ा लेने पर ही जीव सशक्त एवं समर्थ होता है।[7] आनन्द एवं सुख की घड़ियों में ये प्राण मादकता से भर उठते हैं[8], पुलकित होते हैं[9] और प्रेम का गान गाने लगते हैं।[10] वासना के कारण इन प्राणों में अधीरता उत्पन्न हो जाती है[11], चुम्बन से शीतल प्राणों में वासना की ज्वाला धधक उठती है[12] और मोहिनी सूरत पर ये प्राण निछावर हो जाते हैं।[13] किन्तु जब जीव के शरीर से ये प्राण निकल जाते हैं, तब वह निर्जीव एवं निश्चेष्ट हो जाता है, क्योंकि प्राण-पखेरू बेड़ी काट कर उड़ जाता

१. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ४१।
२. **वही**, पृष्ठ ४०-४१।
३. **कामायनी**, पृष्ठ १७०। ४. **कामायनी**, पृष्ठ १३६।
५. **वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। —वेदान्तसार**, पृष्ठ ५।
प्राणापानव्यानोदानसमाना भवत्यसौ प्राणः।
—विवेक-चूड़ामणि, श्लोक, सं० ९७।
६. **वेदान्तसार**, पृष्ठ ५। ७. **ध्रुवस्वामिनी**, पृष्ठ १४।
८. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २०७। ९. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २०८।
१०. **विशाख**, पृष्ठ ४५। ११. **कामायनी**, पृष्ठ ८९।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ १३६। १३. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ८१।

है।[१] इन प्राणों के कारण ही जीव का 'प्राणी' नाम सार्थक होता है और जब प्राण-प्रदीप जीव के शरीर में नहीं जलता, तब उसे रूप भी दिखाई नहीं देता।[२] इससे स्पष्ट है कि समस्त इन्द्रियों को कर्त्तृत्व-शक्ति प्रदान करने वाले प्राण ही हैं, इनके बिना शरीर के समस्त कार्य स्थगित हो जाते हैं। इसी कारण प्राणों को परमात्मा की धरोहर कहा गया है।[३] प्राणों की भीख माँगना[४], प्राणों का मूल्य होना[५], प्राणों का पण लगाना[६], प्राण-प्रिय होना[७], जीवन-प्राण होना[८], प्राणों का विनियम करना[९], प्राणों के धागों का उलझना[१०] आदि मुहावरे भी प्राणों की महत्ता के द्योतक है।

(३) **स्थूल शरीर**—जीव के स्थूल शरीर की रचना पंचतत्वों से निर्मित मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त, चर्म और त्वचा नामक सात धातुओं से होती है।[११] इसी पंचभूत निर्मित सप्त धातुओं वाले शरीर को भौतिक देह कहते हैं।[१२] वेदान्त में भौतिक शरीर के निर्माण में पंचीकरण का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है और वहाँ जरायुज, अण्डज, उद्भिज और स्वेदज नामक चार प्रकार के स्थूल शरीर माने गये हैं[१३]; किन्तु प्रसाद-साहित्य में सृष्टि के स्थूल शरीरों का विभाजन कहीं नहीं मिलता। जीव का यह स्थूल शरीर ही विविध कर्मों, आकांक्षा-तृप्ति एवं ममत्व का आश्रय होने के कारण भोगायतन कहलाता है।[१४] देवों का शरीर सत्वप्रधान, मानवों का शरीर रज-प्रधान और तिर्यक्-स्थावर आदि का शरीर तमप्रधान माना गया है[१५]; किन्तु प्रसाद ने देव और मानवों को इस एक ही सृष्टि के क्रमशः अग्रज एवं अनुज स्वीकार किया है।[१६] इसके साथ ही देवपुरुष मनु को ऊर्जस्वित, वीर्य से युक्त, सुदृढ़ मांसपेशियों एवं स्वस्थ रक्त-संयुक्त स्फीत शिराओं से सम्पन्न कहकर उनके शरीर को भी उन्हीं त्वचा, मांस, रक्त आदि सप्तधातुओं से निर्मित घोषित किया है[१७], जिनसे मानवादि

---

१. **आँधी (कहानी-संग्रह)**, पृष्ठ ७५।
२. **झरना**, पृष्ठ २३।
३. **राज्यश्री**, पृष्ठ ५६।
४. **ध्रुवस्वामिनी**, पृष्ठ १३।
५. **ध्रुवस्वामिनी**, पृष्ठ १३।
६. **वही**, पृष्ठ २६।
७. **कामायनी**, पृष्ठ २१४; **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४५।
८. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४७।
९. **कामायनी**, पृष्ठ १७८।
१०. **कामायनी**, पृष्ठ ६६।
११. **मज्जास्थिमेदः पलरक्तचर्मत्वगाह्वयैर्धातुभिरेभिरन्वितम्।**
—**विवेक-चूड़ामणि** ७४।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ २६६।
१३. **वेदान्तसार**, पृष्ठ ६।
१४. **विवेक-चूड़ामणि** ९०।
१५. **सिद्धांतबिन्दु**, पृष्ठ १७०।
१६. **कामायनी**, पृष्ठ ७।
१७. **कामायनी**, पृष्ठ ४, २६८।

के स्थूल शरीर का निर्माण होता है। इससे सिद्ध है कि प्रसाद देव-शरीर और मानव-शरीर दोनों को रज-प्रधान ही स्वीकार करते हैं। वैसे भी प्रसाद ने देव-सृष्टि को मानवों की ही भाँति विविध विलासों में संलग्न अंकित करके उन्हें सत्व-गुण-प्रधान की अपेक्षा रजोगुण-प्रधान ही अंकित किया है।[१]

भोग-भूमि की दृष्टि से जीवों की तीन श्रेणियाँ होती हैं—नभचर, जलचर और स्थलचर। आकाश में उड़ने वाले खग नभचर होते हैं[२], जल में रहने वाले जीव जलचर होते हैं[३] और इस वसुधा पर रहने वाले मनुष्य, पशु आदि समस्त प्राणी स्थलचर होते हैं।[४] ये सभी जीव अपने स्थूल शरीर से ही संसार की मृगमरीचिका में भटकते हैं[५], अनेक संताप सहते हैं[६], भ्रम-कुहेलिका में फँस जाते हैं[७], काम-क्रोध आदि षड् विकारों में लिप्त रहते हैं[८], सीमित तथा स्वार्थपूरित बन जाते हैं[९], विविध विषयों का भोग करते हैं[१०], अहंकार में लिप्त रहते हैं[११], वैभव में मदमस्त हो जाते हैं[१२], चैतन्य होकर भी अबोध, अकिंचन एवं बेसुध हो जाते हैं[१३], नाना प्रवृत्तियों में लीन रहते हैं[१४], मायाजाल में ग्रस्त रहते हैं[१५], तृष्णा-पाश में बँध जाते हैं[१६] तथा प्रकृति के अनुचर एवं नियति के दास बन जाते हैं।[१७]

त्रिपुर—प्रसाद ने जीव के त्रिविध शरीर को 'त्रिपुर' कहा है।[१८] वैसे शास्त्रों में जीव के सूक्ष्म शरीर के 'पुर्यष्टक' रूप की चर्चा मिलती है।[१९] किन्तु प्रसाद ने शैव-दर्शन से प्रभावित होकर इस अष्टपुरी के स्थान पर केवल 'त्रिपुर' का ही सांगोपांग निरूपण किया है। ये तीन पुर है—(१) इच्छा का भावलोक या भावपुर, (२) ज्ञान का ज्ञानलोक या ज्ञानपुर, और (३) क्रिया का कर्मलोक या कर्मपुर।[२०] इनमें से प्रथम भावपुर में शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध की प्रधानता है। यहाँ जीव भाव-विभोर

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ८।
२. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०७।
३. **कामायनी**, पृष्ठ १६।
४. **कामायनी**, पृष्ठ १७०।
५. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ १२।
६. **वही**, पृष्ठ १३।
७. **वही**, पृष्ठ १४; **झरना**, पृष्ठ ३।
८. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ १३, ६३।
९. **झरना**, पृष्ठ २८।
१०. **कामायनी**, पृष्ठ २६८।
११. **झरना**, पृष्ठ ६४।
१२. **लहर**, पृष्ठ ४७।
१३. **आँसू**, पृष्ठ ११।
१४. **राज्यश्री**, पृष्ठ १५।
१५. **राज्यश्री**, पृष्ठ १८।
१६. **वही**, पृष्ठ ५५।
१७. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४४।
१८. **यही त्रिपुर है देखा तुमने तीन बिन्दु ज्योतिर्मय इतने।**

—**कामायनी**, पृष्ठ २७२।

१९. **आठ पुरियाँ है—(१) अविद्या, (२) कर्म, (३) काम, (४) अन्तःकरण-चतुष्टय, (५) पंच महाभूत, (६) पंच प्राण, (७) पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, और (८) पंच कर्मेन्द्रियाँ। —विवेक-चूड़ामणि**, पृष्ठ ९८।
२०. **कामायनी**, पृष्ठ २६२।

होकर सदैव ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श आदि विविध विषयों में लीन रहने के लिए प्रेरणा ग्रहण करता है। इच्छा या भावना ही इसे प्रेरणा प्रदान करती है और वह जीवों के हृदय में लालसा एवं तृष्णा उत्पन्न करती हुई उसे विविध वासनाओं की पूर्ति के लिए उत्साहित किया करती है। भावना ही जीव के समस्त भावों के चक्र की संचालिका है। उसी की प्रेरणा से जीव मनोमय जगत् में विविध रागों में लिप्त होते हैं। वह भावना ही अपना जाल बिछाकर जीवों को फँसा लेती है, जिससे जीव वासनाओं की पूर्ति के इच्छुक होकर सदैव अतृप्त बने रहते हैं, उनकी आकांक्षायें पूर्ण नहीं होती और दुःख-सुख सहन करते हुए जीवन व्यतीत किया करते हैं।[१] इस भाव-पुर को जीव का 'कारण शरीर' कह सकते हैं, क्योंकि भावों की भूमिका-रूप यह इच्छा या भावना ही सभी प्रकार के पुण्य और पापों की जननी है, क्योंकि जिस प्राणी के हृदय में अच्छे भाव रहते हैं, वह पुण्य कर्म करता है और जिस प्राणी के हृदय में बुरे भाव रहते हैं, वह पाप कर्मों में लिप्त रहता है तथा इसी भावपुर में जीव के स्वभाव का निर्माण होता है।[२] यह इच्छा ही वसंत तुल्य यौवन की असीम उद्दाम लालसाओं को जाग्रत करने वाली है, यही पतझड़ तुल्य निराशा, उदासीनता, बेबसी आदि को जन्म देती है और यही सुख-दुःखादि द्वन्द्वों की जननी होने के कारण अमृत-तुल्य मानसिक आनन्द तथा हलाहल-तुल्य मानसिक संताप, व्यथा, वेदना आदि की उत्पादिका है।[३] अतएव इस भावपुर को जीव का 'कारण शरीर' कहना सर्वथा न्यायसंगत है।

जीव के त्रिविध शरीर रूपी त्रिपुर में से दूसरा ज्ञानपुर है। यह जीव का ज्ञानक्षेत्र है। इसमें जीव सुख-दुःख दोनों से निर्लिप्त रहते हैं, यहाँ कर्म के औचित्य एवं अनौचित्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है और सभी प्रकार का निर्णय बुद्धि द्वारा किया जाता है। यहाँ बुद्धि की प्रधानता होने के कारण जीव रात-दिन अस्ति-नास्ति की गुत्थियाँ सुलझाने में ही व्यस्त रहे आते हैं, मोक्ष-प्राप्ति के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं और संसार से मुक्त होने के लिए ही सदैव प्रयत्न किया करते हैं।[४] इसे जीव का 'सूक्ष्म शरीर' कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ बौद्धिक जगत् का प्राधान्य है और अन्तःकरण पर नियन्त्रण करके यहाँ जीव सद्-असद् का विवेक, तपश्चर्या, सिद्धिओं की प्राप्ति आदि में लीन रहते हैं, मनोवृत्तियों के आधार पर ही अपने कर्मों का निश्चय करते हैं, दम्भ एवं अहंकार में लीन रहते हैं तथा अपनी समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हुए जीवन के सांसारिक आनन्दोपभोगों से अलग रहते हैं और इनका विचार भी यही है कि जीवन का आनन्द मत लो, वरन् उसे इकट्ठा होने दो, उसके लिए तृष्णा भी उत्पन्न मत होने दो, क्योंकि यह तृष्णा ही मिथ्या

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २६२-२६५। २. **कामायनी**, पृष्ठ २६४।
३. **वही**, पृष्ठ २६५। ४. **वही**, पृष्ठ २६९-७०।

है, इससे बचने का प्रयत्न करो ।[1] इस प्रकार यहाँ केवल अन्तःकरण अथवा मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, इन्द्रियों आदि का ही प्राधान्य रहने के कारण इस ज्ञानपुर या ज्ञान-लोक को जीव का 'सूक्ष्म शरीर' कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

इस त्रिपुर का तीसरा अंग कर्मपुर है। यह जीव का कर्मलोक है। इसमें जीव नई-नई एषणाओं का शिकार बनकर विविध कर्म करता है।[2] उन कर्मों में लीन रहने के कारण इन भौतिक देहधारी जीवों के चारों ओर परिश्रम, पीड़ा और बेचैनी से भरा कोलाहलपूर्ण वातावरण छाया रहता है और वे कुछ न कुछ कार्य करते हुए भी सदैव जीवित रहना चाहते हैं। परन्तु भाव या इच्छा के पुर में विचारों का जो आनन्द है, वह इस कर्म जगत् में आते ही नष्ट हो जाता है। यहाँ आते ही सारे हवाई किले ढह जाते हैं, क्योंकि सदैव कार्यों का परिणाम मनोनुकूल नहीं निकलता। इसी कारण कर्मपुर के प्राणी प्रायः रात-दिन संघर्ष, असफलता, कोलाहल आदि में लिप्त रहते हैं और मतवाले होकर अन्धकार में दौड़ लगाते रहते हैं।[3] इस 'कर्मपुर' को जीव का 'स्थूल शरीर' कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ पंचभूत-निर्मित पाणिपादमय जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्थूल आकार ग्रहण करते हैं[4], तृष्णाजन्य ममत्व से परिपूर्ण होने के कारण प्रायः व्यक्ति-पूजा तथा वैयक्तिक सम्बन्धों में लीन रहे आते हैं, अधिक से अधिक ऐश्वर्य एवं आनन्दोपभोग की सामग्री संकलित करके संसार के क्षणिक भोगों में लिप्त रहते हैं तथा सुयश की लालसा में लिप्त होकर अन्धप्रेरणा से परिचालित ये जीव नाना प्रकार के अपराध किया करते है और स्वयं को 'कर्त्ता' समझा करते हैं।[5]

इस प्रकार प्रसाद ने 'त्रिपुर' के रूप में जीव के भावलोक को कारण-शरीर, ज्ञानलोक को सूक्ष्म-शरीर और कर्मलोक को स्थूल-शरीर बतलाते हुए स्पष्ट घोषित किया है कि जीव के हृदय में इच्छा एषणा उत्पन्न करती है, ज्ञान उसे करणीय और अकरणीय कर्मों की जानकारी उत्पन्न कराता है और कर्म उसे विविध कार्यों में लीन करता है। यदि इन तीनों में सामंजस्य रहे, तो जीव का जीवन बड़ा ही आनन्दमय व्यतीत होता है और यदि इनमें सामंजस्य न रहे, जिससे जीव की इच्छा कुछ हो, उसका ज्ञान उससे दूर रहे और उसकी क्रियाएँ बिल्कुल विपरीत हों, तो उस जीव का जीवन विविध विषमताओं एवं विडम्बनाओं का शिकार बन जाता है, उसकी अभिलाषा कभी पूर्ण नहीं होती और वह जगत् के प्रपंच में ही फँसा रहता है।[6] किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीनों में सामंजस्य हो जाय, तो जीव की जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थायें समाप्त हो जाती हैं, वह तुरीयावस्था में पहुँच

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २७०-७१। २. **कामायनी**, पृष्ठ २६६।
३. **वही**, पृष्ठ २६६-६७। ४. **वही**, पृष्ठ २६७।
५. **वही**, पृष्ठ २६७-६८।
६. **वही**, पृष्ठ २७२।

जाता है, उसके कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल तीनों शरीरों का विलय हो जाता है, वह सांसारिक प्रपंचों से दूर होकर अपने वास्तविक रूप में लीन हो जाता है और दिव्य अनाहत नाद सुनता हुआ तन्मयी अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[१]

कर्त्ता और भोक्ता जीव—प्रसाद का यह स्पष्ट मत है कि संसार में जीव अपने कर्मों का फल भोगने के लिए ही जन्म लेता है। सदैव जीव यहाँ जन्म लेकर अपने संचित कर्मों का फल भोगता है और आगामी भोगों के लिए कर्म करता है अर्थात् वह जो कुछ सुख या दुःख रूपी फल इस जीवन में भोग रहा है, वह उसके पूर्व कर्मो का फ़ल है और अब जैसे कार्य कर रहा है, उनके अच्छे-बुरे फल को वह अपने आगामी जीवन में भोगेगा।[२] ईश्वर समस्त जीवों के हृदय में प्रेरक-शक्ति के रूप में स्थित है, जो जीवों को विविध कर्मों में लगाता है। सभी जीवों के कर्म एक से नहीं होते, वे प्रायः भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु जिस जीव का जो कर्म निर्दिष्ट है, उसका कर्त्ता वह जीव ही है।[३] जीव अशांत होकर ईश्वर की प्रेरणा से समस्त कार्य इस तरह करता रहता है, जिस तरह कोई यन्त्र किसी यन्त्रकार के द्वारा चलाया जाता है।[४] जीव जगत् में आते ही प्रायः अतृप्ति का शिकार बनता है और अपनी इसी अतृप्ति पर विजय पाने के लिए वह सतत संघर्ष करता है।[५] वह बार-बार असफल और निराश होता है, श्रममय कोलाहल और पीड़नमय विकलता का आह्वान करता है, वह जितना कार्य करता है, उससे सदैव असंतुष्ट रहता है तथा जिस तरह चाबुक की मार खाकर घोड़ा आगे बढ़ता है उसी तरह जीव अज्ञात भय से प्रेरित होकर प्रतिक्षण काम में लगा रहता है।[६] वह विस्तीर्ण कर्म-मार्ग पर एक क्षण के लिए भी रुकना अच्छा नहीं समझता, अपितु अबाध गति से कर्म करते हुए आगे बढ़ना ही श्रेयस्कर समझता है।[७] वह जानता है कि कर्म करने वाले महाप्राण जीवों के ही सुयश-केतु संसार में फहराया करते हैं, कर्मयोगी को ही शुभ शान्ति की प्राप्ति होती है और कर्मयोग-रत वीर ही सदैव अपने सत्कर्मों से सिद्धि प्राप्त किया करते हैं।[८] इस तरह जीव सात्विकी, राजसी और तामसी प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर जगत् में विविध कार्य करता रहता है। वह जैसे कर्म करता है, उसे अपने उन कर्मो का फल भी अवश्यमेव भोगना पड़ता है[९], क्योंकि जीव अपने हाथों से जो विडम्बना मोल

१. **कामायनी**, पृष्ठ २७३।

२. **कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड़ का चेतन आनन्द।**
—**कामायनी**, पृष्ठ ५६।

३. **ईश प्रेरक-शक्ति है हृदयंत्र में सब जीव के। —का० कु०**, पृष्ठ ११६।

४. **ईश से विनियुक्त जीव सुयंत्र-सा अश्रांत है। —का० कु०**, पृष्ठ ११६।

५. **तितली**, पृष्ठ ६४-६५। ६. **कामायनी**, पृष्ठ २६६-२६७।

७. **करुणालय**, पृष्ठ ८। ८. **महाराणा का महत्त्व**, पृष्ठ ७-८, १८।

९. **कं०**, पृष्ठ १२२, १३८; **वि०**, पृष्ठ ६३; **अ०**, पृष्ठ ११०; **इ०**, पृष्ठ ३८; **म० म०**, पृष्ठ ८।

लेता है, उसका प्रतिफल भी उसे अवश्य भोगना पड़ता है।[१] सत्कर्मों का फल तो सदैव आनन्ददायक होता ही है, किन्तु कुकर्मो का फल चखने में अवश्य कड़वा होता है, परिणाम में वह भी मधुर होता है।[२] इस प्रकार जीव ही समस्त कर्मो का कर्त्ता है और वही संसार के सभी भले बुरे फलों का भोक्ता है।[३] ये कर्मफल जीव के पास स्वयं आते हैं और कोई भी जीव उनसे भाग कर बच नहीं पाता।[४]

नियतिवाद और पुरुषार्थवाद

(क) **नियतिवाद**—प्रसाद का यह दृढ़ विश्वास है कि जीव के समस्त कार्यों की गति-विधि का संचालन एक ऐसी नियामिका शक्ति करती है, जो कर्तृत्व मद से मत्त जीवों की कर्मशक्ति को अपनी अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है, दम्भ एवं अहंकार से पूर्ण जीवों को अपनी क्रीड़ा का कंदुक बनाती है, कृत्रिम स्वार्थसिद्धि में रुकावट उत्पन्न करती है और जीवों के उत्थान का पतन एवं पतन का उत्थान किया करती है।[५] इस नियामिका शक्ति को 'नियति' नाम से अभिहित किया जाता है। शैवागमों में इसे विविध कारण और कार्य की योजना करने वाली परमेश्वर की शक्ति माना गया है।[६] यह सृष्टि का नियमन करने वाली परमात्मा की नियामिका-शक्ति है।[७] यह शक्ति प्रत्येक जीव को अपने-अपने कार्यों में संलग्न करती है।[८] संसार में आकर जीव जो कुछ कार्य करता है, उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था नियति के हाथ में ही रहती है।[९] यह नियति जीव के जीवन में विविध परिवर्तन प्रस्तुत करने के लिए इस तरह आ उपस्थित होती है, जिस तरह गगन में तड़ित-विलास-युक्त नील मेघ-माला क्षितिज-पटी को आन्दोलित करती हुई आ उपस्थित होती है।[१०] नियति व्यंग्य-हास करती है[११], दो अभिन्न मित्रों को घोर शत्रु बना देती है[१२], अतीत को वर्तमान से जोड़ देती है और अपरिचित व्यक्तियों में से उसी एक से परिचय करा देती है, जिससे जीवन की अग्रगामिनी धारा अपना पथ निर्दिष्ट करती है।[१३] नियति ही जीव को जनस्रोत में इधर-उधर बहाती हुई कभी भँवरों में चक्कर लगवाती हुई इधर-उधर भटकाती रहती है[१४], कभी असहाय व्यक्ति के पास सहायक भेज देती

---

१. **कामना**, पृष्ठ ७३।
२. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १३४।
३. **है वही कर्त्ता वही फलभोक्ता संसार का।**—**कानन-कुसुम**, पृष्ठ ११६।
४. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४४।
५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३।
६. **नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमंडले।**—**तंत्रालोक** ९।२०२
७. **ई० प्र० वि०** (भाग २), पृष्ठ २०९; **ज० ना०**, पृष्ठ ७३; **मृ० तंत्र** १।१०।१७
८. **तंत्रसार**, पृष्ठ ८२।
९. **मालिनी-विजयोत्तर-तंत्र**, पृष्ठ ४।
१०. **लहर**, पृष्ठ ६३।
११. **लहर**, पृष्ठ ६७।
१२. **चंद्रगुप्त**, पृष्ठ २१४।
१३. **तितली**, पृष्ठ ७०।
१४. **कंकाल**, पृष्ठ ४४।

है[१] और जीव को सभी ओर से निरवलम्ब करके उस व्यक्ति के सामने झुकने के लिए बाध्य कर देती है, जिसके सम्मुख वह झुकना नहीं चाहता अथवा झुकने में संकोच और मनोवेदना का अनुभव किया करता है।[२] नियति निष्ठुर होकर मिट्टी के पुतलों जैसे जीवों के साथ क्रूर मनोविनोद किया करती है[3] और इस व्यथित विश्व-आँगन में जीवों के साथ कन्दुक-क्रीड़ा-सी करती हुई अपने अतृप्त मन को तृप्त किया करती है।[४] विश्व में इसकी क्रीड़ा बंधन-रहित होती है।[५] वह नटी की भाँति भीषण अभिनय करती है[६] और जब विकर्षणमयी होती है, तब सम्पूर्ण जीव त्रस्त हो उठते हैं।[७] इसके संकेत पर ही शूद्र राजसिंहासन से हटाते जाते हैं और सच्चे क्षत्रिय राज्य पर बैठते हैं।[८] नियति सम्राटों से भी अधिक प्रबल है, वह जिसे जीवित रखना चाहती है उसे कोई भी मार नहीं सकता।[९] इसी कारण जीव नियति का दास है[१०] और वह जीव को जिस तरह जगत् के पथ पर चलाना चाहती है उसे विवश होकर उसी तरह चलना पड़ता है।[११] जीव यहाँ नियति-चक्र का यंत्र बनकर कार्य करता है[१२], क्योंकि यहाँ नियति की प्रेरणा से ही सारा कर्म-चक्र चलता है।[१३] इस तरह नियति जीव से जो कुछ कराती है, उसे वही करना पड़ता है[१४] और जैसे वह रखना चाहती है वैसे ही रहना पड़ता है, क्योंकि जीव को विविध प्रकार के जीवन व्यतीत कराने में इस नियति का ही हाथ रहता है।[१५] नियति द्वारा नियोजित भोगों को भोगने के लिए ही जीव इस जगत् में आता है।[१६]

प्रसाद ने नियति के साथ-साथ अदृष्ट का भी वर्णन किया है। यह अदृष्ट ही भाग्य है, जिसके वश में समस्त जीव रहते हैं[१७] और जो जीव के जीवन में विविध खेल खेला करता है।[१८] अदृष्ट की लिपि ही जीव के जीवन में सब कुछ कराती है।[१९] इसी को भाग्य-चक्र कहते हैं, जिसके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े सम्राट् चक्कर खाया करते हैं, बड़े-बड़े शूरवीर भिखारी बन जाते है, दुश्चरित्र व्यक्ति सत्कर्म प्रवृत्त होने हैं और सच्चरित्र दुष्कर्म करने लगते हैं। यहाँ तक कि इसी भाग्य-चक्र के

---

१. **कंकाल**, पृष्ठ १३४। २. **कंकाल**, पृष्ठ १७२।
३. **आँधी**, पृष्ठ २९। ४. **आँसू**, पृष्ठ ५१।
५. **कामायनी**, पृष्ठ ८३। ६. **कामायनी**, पृष्ठ १५८।
७. **वही**, पृष्ठ २००। ८. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ ८०, ८१।
९. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १८८।
१०. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४४, ५६।
११. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ २७; **कामायनी**, पृष्ठ ३४।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ १६३। १३. **कामायनी**, पृष्ठ २६६, २६९।
१४. **राज्यश्री**, पृष्ठ ३०। १५. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १३६।
१६. **इरावती**, पृष्ठ ७६। १७. **चित्राधार**, पृष्ठ २५।
१८. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २२९।
१९. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४३; **करुणालय**, पृष्ठ १७।

कारण राजा रंक हो जाते हैं, ऊपर से नीचे आ जाते हैं, कभी कोई दुर्वृत्त दानव हो जाता है और कभी वह स्नेह-संवलित मानव हो जाता है, कहीं वीणा की झंकार होती है और कहीं दीनता का तिरस्कार होता है।[1]

यद्यपि नियति के कार्य भी ऐसे ही हैं जैसे अदृष्ट कार्य करता है, तथापि प्रसाद ने अदृष्ट और नियति में पर्याप्त अन्तर स्वीकार किया है, क्योंकि नियति अदृष्ट से कहीं महान् है। वह अदृष्ट का भी सृजन करने वाली शक्ति है।[2] इस अदृष्ट अथवा भाग्य में जो कुछ लिखा होता है, जीव उसी के अनुसार सुख अथवा दुःख प्राप्त किया करता है, किन्तु अदृष्ट का विधान करने वाली अथवा भाग्य की लिपि को लिखने वाली वह नियति ही है, जो अधिक हर्ष के उपरान्त अधिक दुःख और अधिक उन्नति के उपरान्त अधिक पतन की ओर तथा इसके विपरीत जीव को उन्मुख किया करती है।[3] इस दृष्टि से अदृष्ट भाग्य है, तो नियति उस भाग्य की विधाता है। अदृष्ट का सम्बन्ध केवल जीव तक ही सीमित है, क्योंकि प्रत्येक जीव का अदृष्ट या भाग्य पृथक्-पृथक् होता है, जब कि नियति परमात्मा की नियामिका शक्ति है, उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण जगत् के जीवों से है और वह अनेक न होकर एक ही है। अदृष्ट जीव के जीवन में जो कुछ कार्य करता है, उसकी प्रेरणा भी नियति से ही प्राप्त होती है। अदृष्ट जीव को अमंगल एवं अकल्याण की ओर भी ले जाता है, किन्तु नियति जीव का कभी अमंगल नहीं सोचती, अपितु वह सदैव 'सर्वभूतहित' की कामना से ही उत्थान का पतन और पतन का उत्थान करती है, दम्भ का दमन करती है तथा कृत्रिम स्वार्थ-सिद्धि में रुकावट उत्पन्न करती है।[4] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भाग्य या अदृष्ट एक जीव तक ही सीमित रहने वाली लघु परमात्म-शक्ति है, जब कि नियति विश्व के समस्त कार्य-कारणों की व्यवस्था करने वाली परमात्मा की महान् नियामिका शक्ति है। अदृष्ट का क्षेत्र चेतन जीव तक ही सीमित है और नियति का क्षेत्र सम्पूर्ण चराचर विश्व है, क्योंकि यह नियति ही व्यापकता को सीमित करती है, असीम को ससीम बनाती है, अनन्त को सान्त करती है'[5], किन्तु जैसे ही जीव इस संसार से कुछ ऊपर उठ जाता है, वह माया के षट् कंचुक एवं तीन मलों से छूटकर अपनी वास्तविकता को पहँचान लेता है, फिर उसे नियति के शासन में नहीं रहना पड़ता, क्योंकि उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।[6] किन्तु जब तक जीव जगत् के प्रपंच में लिप्त रहता है, तब तक उसे

---

१. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १३२।
२. **नियति कुछ अदृष्ट का सृजन कर रही है। —चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २१२।
३. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २१२।
४. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७४।
५. **कामायनी**, पृष्ठ १६५। ६. **कामायनी**, पृष्ठ २६०।

नियति के शासन में रहना पड़ता है। यही प्रसाद का नियतिवाद है, जिसमें प्रसाद नियति को विश्वात्मा की एक ऐसी नियामिका शक्ति मानते हैं जो, अतिवादों की रोकथाम करती हुई सम्पूर्ण विश्व का नियमन एवं जीवों का कल्याण करती है।

(ख) **पुरुषार्थवाद**—पुरुषार्थ चार माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से अर्थ और काम का सम्बन्ध लौकिक अभ्युदय से है और धर्म तथा मोक्ष का सम्बन्ध आध्यात्मिक विकास, परमार्थ एवं निःश्रेयस् से है। प्रसाद ने नियतिवादी होते हुए भी जीव के भौतिक अभ्युदय एवं आध्यात्मिक विकास के लिए पुरुषार्थ की महत्ता का निरूपण किया है। प्रसाद का यह स्पष्ट मत है कि जीव अपने पुरुषार्थ से ही महान् बनता है। अनेक महान् व्यक्ति निन्दनीय सामाजिकता की भूमि पर उत्पन्न होकर भी पुरुषार्थ के बल पर ही दैव, भाग्य-विधान एवं रूढ़ियों को बदलने में समर्थ हुए हैं।[१] पुरुषार्थ से ही जीव अपने कलंक को मिटा सकता है, पाप को पुण्य में बदल सकता है, अपनी जड़ता को दूर करके मानवता का विकास कर सकता है, सृष्टि को सफल बना सकता है तथा आनंद का सर्वत्र प्रसार कर सकता है।[२] क्योंकि पुरुषार्थी के सामने से सम्पूर्ण विघ्न दूर हो जाते हैं, जीव का आलस्य एवं उसकी अकर्मण्यता नष्ट हो जाती है और वह निर्भयतापूर्वक कर्म करता है।[३] पुरुषार्थ के बल पर ही जीव महत्त्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुण्ड में कूदकर सम्पूर्ण विरोधी शक्तियों का दमन करता है और अपने अभीष्ट को प्राप्त करता है।[४] सदैव पुरुषार्थी को ही ईप्सित वस्तु मिलती है[५], क्योंकि पुरुषार्थ के बल पर ही जीव सौभाग्य को अपने समीप खींच लाता है।[६] पुरुषार्थ से ही जीव स्वानुभूति को जाग्रत करके आसुरी वृत्तियों का विनाश करता है[७], राम और कृष्ण की भाँति अवतारी पुरुष बनता है[८], इस भयानक संसार से लड़ता हुआ इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाता है[९] और आध्यात्मिक उन्नति में समर्थ होता है।[१०]

अतएव प्रसाद नियतिवाद एवं भाग्यवाद में विश्वास करते हुए भी पुरुषार्थवाद को जीव की सर्वांगीण उन्नति के लिए अभीष्ट साधन के रूप में स्वीकार करते थे, क्योंकि वे जानते थे कि विश्वात्मा की नियामिका शक्ति—नियति तो अपना कार्य करती

---

१. **काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ११३।
२. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १३, ५६, ५७।
३. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ३८; **ज० ना०** पृष्ठ ५७।
४. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ५६।
५. **करुणालय**, पृष्ठ ८।
६. **ध्रुवस्वामिनी**, पृष्ठ ३७।
७. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ १३०।
८. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १३०।
९. **तितली**, पृष्ठ २३६; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १५८।
१०. **विशाख**, पृष्ठ ३७।

ही है, जीव को यदि कुछ होना है तो उसे हाथ पर हाथ रखकर बैठने से कोई लाभ नहीं, अपितु वह अपने पुरुषार्थ से ही मनोवांछित फल प्राप्त कर सकता है। यही प्रसाद का पुरुषार्थवाद है, जिसमें जीव को सतत अभीष्ट कर्म करने की प्रेरणा दी गई है।

जीवों के विविध प्रकार

प्रसाद ने जीवों का विविध प्रकार से विभाजन किया है। जैसे प्रवृत्ति की दृष्टि से प्रसाद ने तीन प्रकार के जीव माने हैं—इच्छा-प्रधान जीव, कर्म-प्रधान जीव और ज्ञान-प्रधान जीव। जिन जीवों में इच्छा या भावना की प्रधानता होती है और जो अपनी इच्छाओं की मधुरिमा में मस्त रहकर सदैव भावों के झूले पर झूलते हैं, वे इच्छा-प्रधान जीव कहलाते हैं।[१] जो जीव लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा के शिकार बनकर यश, स्वार्थ, लोभ आदि से प्रेरित होकर सदैव कर्म में लिप्त रहे आते हैं, वे कर्म-प्रधान जीव होते हैं।[२] जो जीव जीवन के समस्त आनन्दोपभोगों को छोड़कर निरन्तर बौद्धिक जगत् में ही विचरण करते रहते हैं, वे ज्ञान-प्रधान जीव कहलाते हैं।[३] स्वभाव की दृष्टि से भी प्रसाद ने तीन प्रकार के जीव बतलाये हैं—पशु, मनुष्य और देवता। प्रसाद ने लिखा भी है कि "मनुष्य साधारण-धर्मा पशु है, विचारशील होने से मनुष्य होता है और निःस्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है।"[४] साधना की दृष्टि से भी प्रसाद ने तीन प्रकार के जीव बतलाये हैं—विषयी, साधक, और सिद्ध। इनमें से नित्य भोग-विलास में लीन रहने वाले जीव विषयी होते हैं[५], कर्मयोग में रत जीवों को साधक कहते है[६] और शुद्ध-बुद्धि-सम्पन्न निर्लिप्त एवं तटस्थ होकर द्रष्टा या साक्षी के रूप में निवास करने वाले जीवों को सिद्ध जीव कहते है।[७] कामना की दृष्टि से प्रसाद ने दो प्रकार के जीव माने हैं—पूर्ण-काम तथा अपूर्ण-काम। जिनकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं, वे पूर्ण-काम कहलाते हैं[८] और जो विविध कामनाओं में लिप्त रहे आते हैं, उन्हें अपूर्ण-काम कहते हैं।[९] सत् एवं असत् कर्म की दृष्टि से भी प्रसाद ने दो प्रकार के जीव बतलाये हैं—संत और असंत। जो

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २६२-२६४। २. **कामायनी**, पृष्ठ २६७-२६८।
३. **वही**, पृष्ठ २६९-२७२। ४. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २२०।
५. **कामायनी**, पृष्ठ ९-१२।
६. **म० म०**, पृष्ठ ७, १८; **अ०**, पृष्ठ ५६; **वि०**, पृष्ठ ३७; **ज० ना**, पृष्ठ १३; **का०**, पृष्ठ ५८-५९।
७. **अ०** पृष्ठ ३०; **वि०**, पृष्ठ ६३; **का०**, पृष्ठ २८२।
८. **विशाख**, पृष्ठ ५५; **कामायनी**, पृष्ठ २९०।
९ **कामायनी**, पृष्ठ १६२-१६३; **कामना**, पृष्ठ ३९, ४४, ६८, ८३; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४१, ५३, ७५; **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४०, ८५; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ६०, **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ ७२, १९८, २०७; **तितली**, पृष्ठ ९४, ११०।

निरन्तर सत्कर्मों में लीन रहते हैं, वे संत या सज्जन हैं[१] और जो दुष्कर्मों में लीन रहते हैं, वे असंत या असज्जन जीव कहलाते हैं।[२] भक्ति की दृष्टि से भी प्रसाद ने दो प्रकार के ही जीव माने हैं—भक्त और अभक्त। इनमें से भक्त जीव वे हैं, जो निरन्तर भगवान् की भक्ति में लीन रहते हैं[३] और अभक्त जीव वे हैं, जो भगवान् को भूलकर भौतिक विषयों में सर्वदा लीन रहे आते हैं।[४] ज्ञान की दृष्टि से भी प्रसाद ने दो प्रकार के जीव स्वीकार किए हैं—ज्ञानी जीव एवं अज्ञानी जीव। इनमें से ज्ञानी जीव वे हैं जो ईश्वर और सृष्टि, राजा-प्रजा, शासक-शासित, मानव और विश्वात्मा में सर्वत्र अभेद का दर्शन करते हुए समरसता में लीन रहते हैं[५] और अज्ञानी वे हैं, जो सर्वत्र विषमता का दर्शन करते हुए भेद-भाव में लिप्त रहे आते हैं।[६] साथ ही मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से प्रसाद ने दो प्रकार के जीव माने हैं—बद्ध जीव और मुक्त जीव। सांसारिक बंधनों में पड़े हुए जीवों को बद्ध जीव और संसार के समस्त बन्धनों से उन्मुक्त जीवों को मुक्त जीव कहा गया है। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो सभी प्रकार के जीव इन दो ही भागों में आ जाते हैं, क्योंकि प्रवृत्ति एवं स्वभाव की दृष्टि से जो तीन-तीन प्रकार के जीव माने गये हैं, वे सभी बद्ध जीव हैं। साधना की दृष्टि से वर्गीकृत जीवों में से विषयी तथा साधक तो बद्ध जीव हैं, किन्तु सिद्ध जीवों को मुक्त कहा जा सकता है। शेष जीवों में से अपूर्णकाम, असंत, अभक्त एवं अज्ञानी तो स्पष्ट ही बद्ध जीव हैं और पूर्णकाम, संत, भक्त एवं ज्ञानीजन मुक्त जीव की कोटि में आते हैं। अतः जीवों के दो ही प्रमुख भेद हैं—बद्ध जीव एवं मुक्त जीव।

बन्धन और बद्ध जीव

शैवों के प्रत्यभिज्ञादर्शन में अज्ञान या मल को ही जीव की सांसारिकता के अंकुर का कारण अथवा जीव का बन्धन माना गया है।[७] वेदान्त-दर्शन में केवल एक माया

---

१. **कामना**, पृष्ठ १५; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ७१, ७२, १४८; **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ १६; **अजातशत्रु**, पृष्ठ ६५; **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०२, १०३।

२. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ६२, ६५; **अजातशत्रु**, पृष्ठ १४२; **राज्यश्री**, पृष्ठ ४६; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ५६; **तितली**, पृष्ठ ४७; **कंकाल**, पृष्ठ २०, ६६।

३. **चित्राधार**, पृष्ठ १८२, १८६; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ७२, ७३; **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ १७, २५; **विशाख**, पृष्ठ ३१।

४. **चि०**, पृष्ठ १७६, १८५, १८८; **क०** पृष्ठ ६; **स्कं०**, पृष्ठ ५४; **इ०**, पृष्ठ १४।

५. **ज० ना०**, पृष्ठ १२, १३, ४८, १०६; **कामना**, पृष्ठ ६८; **कं०**, पृष्ठ २६८; **का०**, पृष्ठ २८७।

६. **अ०**, पृष्ठ ११३; **चि०**, पृष्ठ १७३; **प्रे० प०**, पृष्ठ १५; **क०**, पृष्ठ २०, २१; **कामायनी**, पृष्ठ १६२।

७. **मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम्। —तन्त्रालोक १।२३**

का ही बन्धन माना गया है, जबकि शैव-दर्शन में तीन बन्धन माने गये हैं—आणव, कार्म एवं मायीय। अपूर्ण ज्ञान को आणव मल अथवा अणु सम्बन्धी बन्धन कहते हैं, कर्म-निमित्तक बन्धनों को कार्म मल या कर्म-बन्धन कहते हैं और माया से उत्पन्न बन्धनों को मायीय मल अथवा माया का बन्धन कहते हैं।[1] इनमें से अणु तथा कर्म सम्बन्धी बन्धनों की तो कोई सीमा नहीं है, किन्तु माया-जन्य बन्धन पाँच माने गये हैं—कला, विद्या, राग, काल और नियति। इन पाँचों बन्धनों के साथ माया के मिल जाने पर षट् कंचुकों का निर्माण होता है, जिनसे आवृत होकर यह शिव के समान सर्वज्ञ, स्वतन्त्र एवं प्रमेय रूप जीव अपनी अमोघ एवं असीम शक्तियों के संकुचित होते ही अल्पज्ञ, परतन्त्र एवं प्रमाता होकर 'पशु' बन जाता है[2] और सांसारिक बन्धनों में आवद्ध होकर अणु, पुद्गल, पुरुष आदि संज्ञाओं में अभिहित किया जाता है।[3] इस दृष्टि से वद्ध जीव वे हैं, जो व्यभिचारी होकर स्त्री-सौन्दर्य का कलुषित चित्र देखते हैं[3], जो मदिरा से ढुलकती हुई, वैभव के बोझ से दबी हुई, महत्त्वाकांक्षा की तृष्णा से प्यासी अभिमान की साकार मूर्ति होते हैं[5], जो कृत्रिमता के पीछे दौड़ लगाते हैं और नैसर्गिक सुख से विमुख हो जाते हैं[6], जो काल्पनिक महत्त्व के लिए दौड़ते है और अतृप्ति के कशाघात से उत्तेजित हो उठते हैं[7], जो मानवता के आवरण में राक्षसत्व का प्रचार करते हैं[8], जो एकमात्र धन से ही विद्या, सौन्दर्य, बल, पवित्रता और हृदय को नापते हैं[9], जो लोभ और लालच की पाप-शृंखला में बँध जाते हैं[10], जो पाप-पंक में लिप्त होने के कारण कुकर्मों के नागपाश में बँध जाते हैं और हिंसा, लोभ, छल, कपट, विश्वासघात, कृतघ्नता आदि से जिन्हें कभी छुट्टी नहीं मिलती।[11] जिन्हें स्वर्ण और रत्न इस तरह रँग देते हैं कि वे अपने अस्थि-चर्म के शरीर तक को देख नहीं पाते[12], जिनका हृदय ईर्ष्या से प्रलय के मध्याह्न का सूर्य हो जाता है[13], जो रमणीय प्रलोभन एवं भयानक सौन्दर्य के सामने घुटने टेक देते हैं[14], जो स्वयं संन्यासी का ढोंग करके दूसरों को गृहस्थ बनने का ही उपदेश

---

१. आणवः कार्मो मायीयश्चेति।—तन्त्रालोक, भाग ५, पृष्ठ २००।

२. माया कला रागविद्ये कालो नियतिरेव च।
कंचुकानि षडुक्तानि संविदस्तत्स्थितौ पशुः॥ —तन्त्रालोक ६।२०४

३. तन्त्रालोक, भाग ३, पृष्ठ ४०४ तथा भाग ६, पृष्ठ १२२।

४. कामना, पृष्ठ ३६। ५. कामना, पृष्ठ ४४।

६. वही, पृष्ठ ६८। ७. वही, पृष्ठ ८३।

८. स्कन्दगुप्त, पृष्ठ ४१। ९. स्कन्दगुप्त, पृष्ठ ५३।

१०. वही, पृष्ठ ७५। ११. वही, पृष्ठ ८८।

१२. अजातशत्रु, पृष्ठ ४०। १३. अजातशत्रु, पृष्ठ ८५।

१४. जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ ६०।

दिया करते हैं और उसी का समर्थन किया करते हैं[1], जिन्हें मायाविनी नारियाँ अँगड़ाई लेकर, चंचल छेड़छाड़ करके, हाथ चटका कर, भौंहें चलाकर फँसा लेती हैं[2], जिन्हें नारी का छलकता हुआ कुतूहल, सौंदर्य का उन्माद और आकर्षण सहसा अपनी ओर खींच लेता है[3], जो षट् रिपुओं के कुचक्र में सदैव पड़े रहते हैं[4], जो मायामयी सुप्ति में सोकर, अर्धक्षेम से अत्यन्त अधीर होकर अपने जीवन के निगूढ़ आनन्द को टुकड़े-टुकड़े करके फेंक देते है[5], जो अपने वक्षस्थल में अनेक अभावों को छिपाये हुए सोते-सोते स्वप्न देखा करते हैं और जिनके वे स्वप्न कभी पूरे नहीं होते[6], जिनका चंचल मन-कुरंग जगत् के मरु-मरीचिका-बन में उलझा रहता है[7], जो रूप-गर्व में मदमत्त होकर सबको तुच्छ समझा करते हैं[8], जो प्रणय के सिंधु में वाडवज्वाला से जलते रहते हैं और जिनकी मछली-सी आँखें रूप के जल में विकल रही आती हैं[9], जो मंगल-मंडित एवं श्रेयस्कर काम को तिरस्कृत करके उसके वास्तविक रूप को भूलकर संसार को असफल बनाया करते हैं[10], जो इन्द्रियों की अभिलाषा के सतत सफल होने में और हृदय की विलासिनी तृप्ति में ही जीवन का चरम सुख मानते हैं[11], जो सबको भय देते हैं और प्राणियों में कटुता फैलाते हुए जगती को अत्यधिक दीन बनाया करते हैं[12], जो किसी पर भी सदय नहीं होते, सबसे ममत्व तोड़ लेते हैं, किसी पर उदारता से नहीं रीझते, अकेले लू की तरह सबको झुलसाते फिरते हैं तथा कल्पना-लोक में निवास करके उजड़े-उजड़े स्वप्न देखा करते हैं, उनसे न तो कोई पुष्प खिलता है और न वे कभी कुसुम-हास को देख पाते है[13], जो अभिलाषा के नवज्वलन-धूम की तरह घूमते रहते हैं[14] तथा जो प्रकृति के अनुचर और नियति के दास बनकर यहाँ अपना जीवन-यापन करते हैं।[15]

मुक्ति और मुक्त जीव

शैव-दर्शन में जिस तरह अज्ञान या मल को बंधन का हेतु बताया गया है, उसी प्रकार ज्ञान को मोक्ष या मुक्ति का एकमात्र कारण कहा गया है।[16] वैसे तो जीव

---

१. **कंकाल**, पृष्ठ ६३।
२. **कंकाल**, पृष्ठ १०२।
३. **वही**, पृष्ठ १३१।
४. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६३।
५. **झरना**, पृष्ठ २४।
६. **लहर**, पृष्ठ ३१।
७. **लहर**, पृष्ठ ४८।
८. **वही**, पृष्ठ ७६।
९. **आँसू**, पृष्ठ १०।
१०. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।
११. **कामायनी**, पृष्ठ १३०।
१२. **वही**, पृष्ठ १५७।
१३. **वही**, पृष्ठ १५८।
१४. **वही**, पृष्ठ १५९।
१५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४४।
१६. **ज्ञानं मोक्षैककारणम्। —तंत्रालोक** १।२२

स्वयं शिव या ब्रह्म है, किन्तु अज्ञान के कारण वह अपने वास्तविक रूप को भूला रहता है, जब उसे अपने यथार्थ शिवरूप का ज्ञान हो जाता है, तभी उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।[1] प्रत्यभिज्ञादर्शन में जीव की अन्तिम अविकल्पक ज्ञानात्मक दशा अथवा अभेदमयी शिवरूप स्थिति ही मुक्ति या मोक्ष है, क्योंकि इस स्थिति में पहुँचते ही जीव को चिदानंद लाभ होता है,[2] उसमें प्रकाशानंद चिदाह्लादेकघन परमभट्टारक शिवरूप का आवेश होता है और इस आवेश के होते ही वह अखंड आनंदमय शिवत्व को प्राप्त हो जाता है[3] तथा यह समझने लगता है कि 'मैं शिव हूँ' और शिव मुझसे भिन्न नहीं हैं।[4] इस तरह प्रत्यभिज्ञादर्शन में केवल जीवन्मुक्ति को ही महत्त्व प्रदान किया गया है, अन्य विदेहमुक्ति अथवा नित्यमुक्ति का कोई निरूपण नहीं मिलता। इस तरह केवल जीवित अवस्था में ही जीव सकल बन्धनों से निवृत्त होकर शिवत्व को प्राप्त करके जो अखंड आनंदस्वरूप जीवन्मुक्ति-अवस्था को प्राप्त होता है वही 'मुक्त जीव' कहलाता है। प्रसाद ने इसी कारण जीवन्मुक्ति को प्राप्त जीव की मुक्ति-अवस्था पर ही विचार किया है[5] और इसी आधार पर प्रसाद के विचार से मुक्त जीव वे हैं, जिनका अज्ञान-तिमिर नष्ट हो जाता है और जिन्हें सर्वत्र उजाला ही उजाला दिखाई देता है, जिनके हृदय में त्याग और ग्रहण स्वतन्त्र सत्ता बनाकर नहीं लड़ते, जिन्हें विश्व का उज्ज्वल पक्ष अंधकार की भूमिका पर नृत्य करता-सा दिखाई देता है, जिनकी आत्मा का आनंद सबको आलिंगित करके स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहता है, जो सर्वत्र आनंद ही आनंद का दर्शन करते हैं और उसी की सीमा में प्रसन्न रहते हैं[6], जिनके हृदय में अखंड शान्ति रहती है और जो विश्वमैत्री के अनुरोध से शत्रु से भी उदासीन न होकर प्रत्युत द्वेष भी नहीं रखते,[7] जो सम्पूर्ण जगत् और जाति में उस प्रेममय सर्वेश का रूप देखते हैं, जिनका सारा संसार मित्र होता है, कोई शत्रु नहीं होता और जो सुख-दुःख को कुछ न समझ कर सर्वत्र आनंद ही आनंद के दर्शन करते हैं,[8] जिनके अंतःकरण में ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो जाती है और उसमें जिनकी जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थायें भस्म हो जाती हैं, जिनकी इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों मिलकर विलीन हो जाती हैं और जो सर्वत्र दिव्य अनाहत नाद को सुनते हुए तन्मयी अवस्था में रहे आते हैं[9], जो शिवत्व को प्राप्त होकर चिरमिलित प्रकृति से पुलकायमान होते हुए निज शक्ति से तरंगायित आनंद-

---

१. **मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।**
स्वरूपं चात्मनः संविन्नान्यत्तत्र तु याः पुनः॥ --तंत्रालोक १।१५६

२. **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, पृष्ठ ३६। ३. **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, पृष्ठ ४८।

४. **वही**, पृष्ठ ५४। ५. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३०।

६. **इरावती**, पृष्ठ १०४। ७. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ८५।

८. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३१।

९. **कामायनी**, पृष्ठ २७३।

अम्बुनिधि की भाँति सुशोभित होते हैं[१], जो यह समझते हैं कि इस जगत् में महा-चिति ही सजग होकर नित्य आनंदमयी क्रीड़ा कर रही है, उसके उन्मीलन से यह विश्व निर्मित होता है और निमीलन से प्रलय होती है[२], जो संसार के सम्पूर्ण प्राणियों को कुटुम्बीजन मानकर उन्हें अपने ऐसे अवयवों के रूप में देखते हैं, जिनमें कहीं कोई भी कमी नहीं होती[३], जिन्हें जगत् में कहीं कोई न तो शापित दिखाई देता है और न तापित पापी प्रतीत होता है, अपितु जो जीवन-वसुधा को समतल मानते हुए समस्त जीवों को समरस मानते हैं,[४] जो चेतना के विशाल समुद्र में जीवों के उत्पन्न होने और नष्ट होकर विलीन होने को ऐसा ही मानते हैं जैसे समुद्र में अनेक लहरें उत्पन्न होतीं और उसी में विलीन होती रहती हैं[५], जो समस्त जीवधारियों के अन्तर्गत उस विराट् चिति का अभेद रूप से साक्षात्कार करते हैं[६], जो अपने दुःख-सुख से पुलकित इस सचराचर मूर्त्त विश्व को उस चिति या ब्रह्म का ऐसा विराट् रूप मानते हैं, जो मंगलमय है, सत्य और सतत चिर सुंदर है[७], जो अद्वैतभाव से अणु-अणु एवं कण-कण को अपना ही मानते हुए सबकी सेवा में अत्यधिक आनंद अनुभव करते हैं[८], जो विश्वचेतना से पुलकित पूर्णकाम की ऐसी साकार प्रतिमायें होते हैं जिनकी मधुर ध्वनि से महाशून्य रागमय हो जाता है, जिनके विहँसने से अग-जग मुखरित हो उठता है, जिनके प्रभाव से विश्व-कमल के अणु-अणु सब परिवर्तित हो उठते हैं और पिंगल पराग से भरकर जिनमें से आनन्द सुधा-रस छलकने लगता है[९], जिनकी निर्मल प्रेम-ज्योति से सम्पूर्ण जीवों की आँखों में भी प्रेम का निर्मल प्रकाश भर जाता है, सभी प्राणी पारस्परिक भेदभाव को भूल जाते हैं, सब अपने अन्तर्गत एक ही प्रकाश को व्याप्त देखने लगते हैं और सब परस्पर पहँचाने से जान पड़ते हैं[१०], जो जगत् के जड़ या चेतन सभी पदार्थों को समरस देखते हैं, जिन्हें सर्वत्र एक ही सौन्दर्य साकार रूप धारण किए दिखाई देता है, जिन्हें सर्वत्र एक ही चेतनता विलास करती हुई अनुभव होती है और जो सदैव सर्वत्र अखंड एवं गहन आनन्द का साक्षात्कार करते हैं।[११]

सारांश यह है कि प्रसाद ने जीवों के स्वरूप एवं उनके धर्म की विविध विशेषताओं का उल्लेख करते हुए जीवों की विविध स्थितियों, अवस्थाओं, शरीरों आदि का विस्तृत विवेचन किया है और यह बतलाया है कि जीव आणव, कार्म या मायीय अज्ञान से आवृत होने के कारण अपने वास्तविक रूप से विस्मृत होकर इस

१. कामायनी, पृष्ठ २८६।
२. कामायनी, पृष्ठ ५३।
३. वही, पृष्ठ २८७।
४. वही, पृष्ठ २८८।
५. वही, पृष्ठ २८८।
६. वही, पृष्ठ २८८।
७. वही, पृष्ठ २८८।
८. वही, पृष्ठ २८९।
९. वही, पृष्ठ २९०, २९१।
१०. वही, पृष्ठ २९४।
११. वही, पृष्ठ २९४।

जगत् में नाना प्रकार के अकांड तांडव करता है, महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अन्य प्राणियों में भेदभाव उत्पन्न करता हुआ उन्हें दबाकर रखने तथा उन्हें पराजित करने का प्रयत्न करता है और विविध दुरभिलाषाओं की बिजलियाँ उसके हृदय में कौंधती रहती हैं, जिनके फलस्वरूप वह ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य आदि के चंगुल में फँस जाता है तथा वासनाओं का शिकार होकर काम, क्रोध, लोभादि का दास बन जाता है, किन्तु विविध साधनाओं, उपायों तथा सेवा, उपासनादि सात्विक कार्यों के कारण जैसे-जैसे उसका अन्तःकरण निर्मल होता जाता है, उसे अपने वास्तविक विस्मृत रूप का प्रत्यभिज्ञान होता जाता है और वह आत्म-दर्शन करने लगता है, वैसे ही वैसे उसे अपनी दुर्बलतायें, अपने अपराध एवं अपने दुष्कर्म ज्ञात होते जाते हैं और वह उनसे मुक्त होकर अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उस समय उसकी जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की अवस्थायें समाप्त हो जाती हैं, अविद्यादि कर्मों का विनाश हो जाता है, अज्ञानादि आवरण हट जाते हैं और वह शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप शिव की स्थिति को प्राप्त करके सर्वत्र शुद्धचेतन का साक्षात्कार करता हुआ तथा सम्पूर्ण जड़ व चेतन पदार्थों से अपने को अभिन्न मानता हुआ अखंड आनंदमयी जीवन्मुक्तावस्था में स्थित हो जाता है।

चतुर्थ प्रकरण

जगत्

- जगत् का स्वरूप
- सृष्टि-क्रम
- सृष्टि के छत्तीस तत्व—
- शिव
- शक्ति
- सदाशिव
- ईश्वर
- सद्विद्या
- माया
- कला
- विद्या
- राग
- काल
- नियति
- पुरुष
- प्रकृति
- बुद्धि
- अहंकार
- मन
- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ
- पाँच कर्मेन्द्रियाँ
- पाँच तन्मात्रायें
- पाँच महाभूत
- अपरा तथा परा प्रकृति
- प्रलय
- जगत् की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित मत
- आभासवाद
- अभेदवाद
- जगत् का सत्, चित्, आनन्द एवं सौन्दर्यपूर्ण रूप

चतुर्थ प्रकरण

जगत्

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,
वह रूप बदलता है शत शत,
कण विरह मिलन मय नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत ॥[1]

जगत् का स्वरूप

चिति या ब्रह्म तो अव्यक्त है, किन्तु जब वह व्यक्त होने की अभिलाषा करता है तब वह जड़चेतनात्मक जगत् के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसी कारण यह विराट् संसार उस विश्वेश्वर का स्वरूप माना गया है और इसके अंग-प्रत्यंग में ब्रह्म की ही अनुपम शोभा विराजमान रहती है।[2] वह ब्रह्म चेतन और जड़ दो पदार्थों के रूप में यहाँ अभिव्यक्त होता है। इनमें से चेतन जीव कहलाता है और जड़ को जगत् की संज्ञा दी जाती है। परन्तु प्रसाद के मतानुसार जड़ और चेतन में कोई भेद नहीं है, क्योंकि जिन पदार्थों की शक्ति अप्रकाशित रहती है, प्रायः उन्हें जड़ कहा जाता है; किन्तु जिन्हें हम जड़ कहते हैं, वे जब किसी विशेष मात्रा में मिलते हैं, तब उनमें एक शक्ति उत्पन्न होती है, स्पंदन होता है, जिसे जड़ता नहीं कह सकते।[3] इसलिए यहाँ जड़ के रूप में भी चेतन प्रकाशित होता है।[4] जैसे हिम और जल दोनों एक ही जल-तत्व के दो रूप होते हैं, वैसे ही जड़ और चेतन दोनों पदार्थ एक ही चेतन के दो रूप माने गये हैं।[5] वह चेतन या ब्रह्म जगत् के रूप में क्यों अभिव्यक्त होता है ? इसका उत्तर यह है कि वह लीला या क्रीड़ा करने के लिए स्वयं को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। चेतन या ब्रह्म एक महाशिशु है और यह

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २४२। २. **चित्राधार**, पृष्ठ ७२।
३. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२।
४. **वही**, पृष्ठ १३। ५. **कामायनी**, पृष्ठ ३।

संसार उसकी क्रीड़ा-भूमि है, जिसमें वह विविध प्रकार की क्रीड़ायें करने के लिए विविध रूप ग्रहण करता रहता है।[१] जब उस ब्रह्म की यहाँ क्रीड़ा करने की इच्छा होती है, तभी काम के मंगलमय स्वरूप से मंडित श्रेयस्वरूप सर्ग या सृष्टि का विकास होता है। इसी कारण यह जगत् उसकी इच्छा का परिणाम है।[२] यद्यपि वह ब्रह्म या शिव विश्वोत्तीर्ण है, तथापि जब उसके हृदय में जगत् के निर्माण की इच्छा जाग्रत होती है, तब वह विश्वोत्तीर्ण से विश्वरूप हो जाता है और उसी से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। इस तरह शिव अव्यक्त रूप में जगत् का कारण है और व्यक्त रूप में कार्य है।[3] इसीलिए यह सचराचर मूर्त्त जगत् परमात्मा का कार्यमय शरीर है[४], चिति का मंगलमय विराट् वपु है[५], ब्रह्म का स्वरूप है[६] और भूमा का मधुमय-दान है।[७] यह प्रकृति उसी परमात्मा की विभूति है; सम्पूर्ण आलोक, चैतन्य, प्राण-शक्ति आदि उसी से उत्पन्न हुई है तथा अन्त में उसी के अंदर विलीन हो जाती हैं।[८] उसके दोनों चरण सृजन एवं संहारकारी हैं।[९] जब वह सृजन करता है, तब प्रकृति गल कर उस कांति-सिंधु में घुल-मिलकर अपने भीषण रूप को सँवार कर कमनीय रूप धारण करती है[१०] और जब वह संहार करता है, तब जिधर उसका विद्युत कटाक्ष चला जाता है, उधर ही सृष्टि विकम्पित हो उठती है, अनंत चेतन परमाणु बिखर जाते हैं और क्षण भर में सब उसी में विलीन हो जाते हैं।[११] अतएव चेतन, ब्रह्म या शिव ही जगत् का स्रष्टा है और वही सृष्टि है।

सृष्टि क्रम

प्रसाद ने चिति अथवा मूलशक्ति से सृष्टि का विकसित होना स्वीकार किया है। उनका विचार है कि उस मूलशक्ति के हृदय में जब सृष्टि का निर्माण करने के लिये विक्षोभ उत्पन्न हुआ, तब वह आलस्य का परित्याग करके सृष्टि-रचना के लिए उद्यत हुई। उसके उद्यत होते ही समस्त इधर-उधर बिखरे हुए अणु-परमाणु चक्कर काटने लगे और मूलशक्ति की प्रेरणा से प्रत्येक पदार्थ के विद्युत्कण एवं अणु-परमाणु परस्पर

---

१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ १०।

२. **इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ॥**

—मांडूक्योपनिषद्, आगम प्रकरण ८

काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग, इच्छा का है परिणाम।

—कामायनी, पृष्ठ ५३।

३. **झरना**, पृष्ठ ४९।

४. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १४।

५. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।

६. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ३५।

७. **कामायनी**, पृष्ठ ५४।

८. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०३।

९. **कामायनी**, पृष्ठ २५३।

१०. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।

११. **वही**, पृष्ठ २५३।

मिलकर सृष्टि का निर्माण करने लगे। इस तरह सृष्टि के बनने से पहले प्रत्येक विनष्ट पदार्थ के अणु-परमाणु जो विद्युत्कणों के रूप में अन्तरिक्ष में बिखरे पड़े थे, वे पुनः मूलशक्ति की प्रेरणा से एकत्र होने लगे और सृष्टि का बनना आरम्भ हो गया।[1] सृष्टि-रचना सम्बन्धी उक्त विचार न्याय और वैशेषिक मत से बहुत कुछ मिलता है, क्योंकि वहाँ पर भी यही बतलाया गया है कि सबसे सूक्ष्म और नित्य प्राकृतिक तत्त्व परमाणु है। दो परमाणुओं में क्रिया के संयोग होने पर द्वयणुक उत्पन्न होता है। उस द्वयणुक के दोनों परमाणु समवायि कारण होते हैं, उनका संयोग असमवायि कारण होता है और अदृष्टादि निमित्त कारण होते हैं। उसके बाद तीन द्वयणुकों का क्रिया से संयोग होने पर त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है और चार त्र्यणुकों से चतुरणक, चतुरणकों से अन्य स्थूलतर और स्थूलतम पदार्थ उत्पन्न होते चले जाते हैं। इस प्रकार स्थूल पृथ्वी, स्थूल जल, स्थूल तेज आदि ऐसे ही अणुओं से बनते चले जाते हैं।[2] यहाँ अन्तर इतना ही है कि न्याय एवं वैशेषिक मत में तो अदृष्टादि को निमित्त कारण और परमाणुओं को समवायि कारण माना गया है[3], जबकि प्रसाद स्पष्ट रूप से मूलशक्ति को ही निमित्त कारण घोषित करते हैं, जिसकी प्रेरणा से समस्त स्थूल भूतों के परमाणु संयोग के लिए लालायित होकर क्रियाशील होते हैं तथा सृष्टि की रचना होती चली जाती है और उसी मूलशक्ति या चिति को ही सृष्टि का उपादान या समवायि कारण बताते हैं, क्योंकि समस्त परमाणु उसी चिति के बालक या अंश हैं, जो मूल-शक्ति के जाग्रत होते ही दौड़ने लगते हैं और सृष्टि रचना करने लगते हैं।[4] समस्त चेतन परमाणु उस चिति या मूलशक्ति से भिन्न और कुछ नहीं हैं, क्योंकि सर्वत्र वही एक शुद्ध चेतन है। वह लुप्त भले ही हो जाय, किन्तु उसका नाश कभी नहीं होता। जैसे गृह का रूप न रहे तो ईंटें रहेंगी, जिनके मिलने पर गृह बने थे। वह ईंट का रूप परिवर्तित हो जाय तो मिट्टी रहेगी, राख रहेगी या उसके परमाणु रहेंगे। उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कभी कहीं नहीं जाती और न उसका चेतनमय स्वभाव उससे भिन्न होता है।[5] इसीलिए प्रसाद अनी-

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ७२-७३; **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ ६६।

२. **तर्कभाषा—व्याख्याता आचार्य विश्वेश्वर**, पृष्ठ १८१।

३. **अदृष्टादि निमित्त कारणम्। —तर्कभाषा**, पृष्ठ १८१।

४. **वह मूलशक्ति उठ खड़ी हुई अपने आलस का त्याग किये,**
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े जिसका सुन्दर अनुराग लिये।
कुंकुम का चूर्ण उड़ाते से मिलने को गले ललकते से;
अन्तरिक्ष के मधु उत्सव के विद्युत्कण मिले झलकते से।
वह आकर्षण, वह मिलन हुआ प्रारम्भ माधुरी छाया में,
जिसको कहते सब सृष्टि, बनी मतवाली अपनी माया में।
—कामायनी, पृष्ठ ७२-७३।

५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२-१३।

श्वरवादी दर्शनों की तरह काल, स्वभाव, कर्म अथवा गुण से सृष्टि का विकास क्यों मानते, अपितु वे एकमात्र चिति या महाशक्ति से ही इस जगत् की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं, उसी चिति या ब्रह्म को सम्पूर्ण परमाणुओं का स्वभाव-वश गति-विधि-निर्धारक कहते हैं, उसी को नित्य-नवल-सम्बन्ध-सूत्र का अद्भुत कर्त्ता बताते हैं तथा उसी को स्वानुभूति का साक्षी और विश्व-शरीरी कहते हैं। विश्व-शरीरी होने के कारण वह परा-प्रकृति से भी परे नहीं है, अपितु उसमें हिला-मिला रहता है और चेतन की चित्कला के रूप में उसकी सत्ता सदैव उद्भासित होती रहती है।[1] उस महाशक्ति या चिति से ही सृष्टि के छत्तीस तत्त्व उत्पन्न होते हैं[2], जो क्रमशः सूक्ष्म एवं स्थूल जगत् के द्योतक हैं।

सृष्टि के छत्तीस तत्व

शैवागमों में सृष्टि के छत्तीस तत्व माने गये हैं—(१) शिव, (२) शक्ति, (३) सदाशिव, (४) ईश्वर, (५) सद्विद्या, (६) माया, (७) कला, (८) विद्या, (९) राग, (१०), काल, (११) नियति, (१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहंकार, (१६) मन, (१७-२१) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रवण, (२२-२६) पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, (२७-३१) पाँच तन्मात्रायें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, (३२-३६) पाँच स्थूल भूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी।[3]

शैवागमों के इन छत्तीस तत्वों में से पुरुष से लेकर पृथ्वी तक पच्चीस तत्व थोड़े से परिवर्तन के साथ सांख्य-दर्शन के ही हैं। इनमें अन्तर इतना ही है कि सांख्य-दर्शन में पुरुष ब्रह्म है, जबकि शैव-दर्शन में पुरुष ब्रह्म के संकुचित स्वरूप जीव का द्योतक है। इसी तरह सांख्य-दर्शन में प्रकृति विश्व का निर्माण करने वाली स्वतन्त्र शक्ति है, जबकि शैव-दर्शन में प्रकृति स्वतन्त्र नहीं, अपितु शिव की इच्छा से केवल बुद्धि, अहंकार आदि को जन्म देती है। इन पच्चीस तत्वों के अतिरिक्त माया तत्व वेदान्त दर्शन से लिया है, किन्तु वेदान्त में माया सत् और असत् से अनिर्वचनीय मानी गई है, जबकि शैव-दर्शन में माया शिव की शक्ति है जो सृष्टि के विकास में सहायक होती है और जिससे काल, नियति आदि पाँच तत्व उत्पन्न होते हैं। शिव से लेकर राग तक दस तत्व शैवों के अपने तत्व हैं, जो शैव दार्शनिकों के स्वतंत्र चिंतन एवं मौलिक अन्वेषण के द्योतक हैं। इनमें से शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध-विद्या नामक पाँच तत्व परम शिव के ही पाँच रूप हैं, जो विशिष्ट शक्ति का प्राधान्य होने के कारण पृथक्-पृथक् कहलाते हैं; जैसे, चित् शक्ति का प्राधान्य होने के कारण शिव तत्व, आनन्द-शक्ति का प्राधान्य होने के कारण शक्तितत्व, इच्छा-शक्ति का प्राधान्य होने के कारण सदाशिव तत्व, ज्ञान-शक्ति का प्राधान्य होने के कारण ईश्वर तत्व और

---

१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।

२. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ४२।

३. **काश्मीर शैविज़्म**, अध्याय २; **तंत्रालोक**, भाग ६-७

क्रियाशील का प्राधान्य होने के कारण सद्विद्या तत्व नाम दिया गया है।[1] इस तरह एक ही परम शिव तत्व अपनी पाँच प्रमुख शक्तियों की प्रधानता के कारण पाँच रूपों अथवा पाँच तत्वों के नाम से अभिहित किया जाता है। शेष काल, नियति, कला, विद्या और राग नामक पाँच तत्व जीव को आवृत करने वाले कंचुक हैं, जो परम स्वतन्त्र, सच्चिदानंद एवं ज्ञानस्वरूप जीव को परतन्त्र, दुःखी एवं अज्ञानी बना देते हैं और जिनके परिणामस्वरूप जीव अपने वास्तविक रूप को भूल कर तथा अपनी शक्तियों से व्यामोहित होकर संसारी बन जाता है।[2] इस प्रकार शैवागमों में छत्तीस तत्वों का निरूपण मिलता है, जिनकी ओर प्रसाद ने भी संकेत किया है।[3] परन्तु प्रसाद-साहित्य में इन तत्वों का कहीं भी सांगोपांग निरूपण नहीं मिलता। इतना अवश्य है कि प्रसाद ने यथास्थान इन तत्वों की ओर संकेत किये हैं। सृष्टि के इन छत्तीस तत्वों का विवेचन इस प्रकार मिलता है—

(१) **शिव**—सृष्टि-क्रम में यह सर्वप्रथम तत्व है। इस शिव तत्व में चित्-शक्ति की प्रधानता रहती है।[4] इसी कारण इसे महाचिति, चिति अथवा चित्सत्ता के नाम से अभिहित किया गया है।[5] यह शुद्धचेतन स्वरूप है[6] और स्वेच्छा से विश्व के रूप में स्वयं को प्रकट करता है।[7] यह स्वयं प्रकाशरूप है और प्रकाशमान होने के कारण सृष्टि में अभेद रूप से प्रकाशित होता है।[8] यह तत्व अनन्योन्मुख,

१. **चित्प्राधान्ये शिवतत्वम्, आनन्दप्राधान्ये शक्तितत्वम्, इच्छाशक्तिप्राधान्ये सदाशिवतत्वम्, ज्ञानशक्तिप्राधान्ये ईश्वरतत्वम्, क्रियाशक्तिप्राधान्ये विद्यातत्वम् इति।—तंत्रसार**, पृष्ठ ७४।

२. **तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।—प्र० हृ०**, १२

३. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ४२।

४. **चित्प्राधान्ये शिवतत्वम्।—तंत्रसार**, पृष्ठ ७४।

५. **कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।—का०** पृष्ठ ५३।
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत।—कामायनी, पृष्ठ २४२।
थी शून्य भेदिनी सत्ता चित्।—कामायनी, पृष्ठ २५२।

६. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२।

७. **तस्मात् चिद्रूप एव परमेश्वरः स्वेच्छावशात् इयद्विश्वम् अवभासयति।**
—तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ १०।
वह और कुछ नहीं विशाल विश्वरूप है।—विशाख, पृष्ठ ३१।
जय हो उसकी जिसने अपना विश्वरूप विस्तार किया।
—ज० ना०, पृष्ठ १०६।

८. **प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति।—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, पृष्ठ ६।
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन! आलोक पुरुष! मंगल चेतन!
केवल प्रकाश का था कलोल, मधु किरणों की थी लहर लोल।
—कामायनी, पृष्ठ २५२।

स्वात्मप्रकाशपूर्ण एवं शुद्ध आद्य विमर्श है। अतएव इसका अनुभव केवल 'अहमिति' के द्वारा किया जाता है[1], क्योंकि इसके साथ 'अस्मि' लगाने से किसी प्रकार की उपाधि या किसी तरह के सम्बन्ध की सम्भावना हो सकती है, जबकि यह सम्पूर्ण उपाधियों एवं सम्बन्धों से रहित शुद्ध आत्म-स्वरूप है, स्वतन्त्र है और विश्व-सिद्धि का कारण है।[2] यही तत्व अपनी लीला से जल, थल, नभ आदि बन जाता है, यही निराधार ब्रह्माण्ड को आधार प्रदान करता है, यही हम सबके अन्दर अत्यन्त सुन्दर परछाईं की तरह खेल कर रहा है, यही तत्व हमारे अन्तर्गत आकर आप छिप गया है और फिर हम सबको आकार प्रदान करता है।[3] इसीलिए इस शिव-तत्व को सृष्टि के समस्त पदार्थों का कर्त्ता और स्वामी कहा गया है।[4] इसका विस्तृत उल्लेख पहले ही द्वितीय प्रकरण में 'परम तत्व' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

(२) **शक्ति**—सृष्टि-क्रम में यह दूसरा तत्त्व माना गया है। इस तत्त्व में आनन्द का प्राधान्य माना गया है।[5] यह तत्त्व शिव के अन्तर्गत अभेद रूप से विद्यमान रहता है। जैसे हिम में शीतलता और अग्नि में उष्णता अभिन्न रूप से रहती है, वैसे ही शिवतत्व के अन्तर्गत शक्ति-तत्व की स्थिति स्वीकार की गई है।[6] इस शक्ति-तत्व के बिना शिव की कोई पृथक् सत्ता नहीं है, क्योंकि व्यवहार के लिए शिव और शक्ति दो पृथक् तत्त्व माने जाते है, किन्तु न शिव शक्ति-रहित हैं और न शक्ति शिव-रहित है।[7] इस शक्ति को परमेश्वर का ही स्वरूप माना गया है, जो कभी ब्रह्मा, कभी विष्णु अथवा कभी रुद्र रूप धारण करके जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय सम्बन्धी कार्य किया करती है।[8] इसी कारण इस शक्ति को विश्वधारिणी, विश्वपालिनी, विश्वेश्वरी आदि नामों से अभिहित किया गया है।[9] निराकार शिव अपनी शक्ति के द्वारा ही बिना किसी

वह प्रभापुंज चितिमय प्रसाद।—**कामायनी**, पृष्ठ २५३।

१. **अनन्योन्मुखः अहंप्रत्ययः।**—**ई० प्र० वि०** ३।१।३
पूर्णानुभव कराता है जो 'अहमिति' से निज सत्ता का।
—**जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०६।

२. **चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।**—**प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र १**

३. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०६।

४. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६४; **विशाख**, पृष्ठ ३१।

५. **आनन्दप्राधान्ये शक्तितत्वम्।**—**तन्त्रसार**, पृष्ठ ७४।

६. **न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत्।**—**शिवदृष्टि**, ३।७

७. **न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।**—**शिवदृष्टि**, ३।२

८. **सर्गस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।**
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥—**विष्णुपुराण** १।२।६६

९. **विश्वधारिणि विश्वपालिनि जयतिजय विश्वेशि॥**—**चित्राधार**, पृष्ठ १५४।

प्रयोजन के नाना प्रकार के अनेक रूपों को धारण किया करता है।[१] शिव पूर्ण चेतन-स्वरूप, प्रकाश-रूप अथवा चित् हैं, जिनका अनुभव 'अहं' अथवा 'मैं' से किया जाता है, जबकि शक्ति-तत्व का अनुभव 'अहं' के साथ 'अस्मि' अथवा 'मैं' के साथ 'हूँ' लगाकर किया जाता है। 'मैं हूँ' वाक्य में 'मैं' शिव का द्योतक है और 'हूँ' शक्ति का वाचक है।[२] शिव और शक्ति दोनों शाश्वत तत्व हैं। प्रलय में भी इनका कहीं विलय नहीं होता, अपितु ये परम शिव में सृष्टि-बीज के रूप में विद्यमान रहते हैं। इनमें से यदि शिव सृष्टि-बीज का प्राण है, तो शक्ति-तत्व उन अनंत रूपों की वह शक्ति है, जिनमें वह प्राण विश्व के अन्तर्गत अभिव्यक्त होता है।[३] शक्ति का और विस्तृत विवेचन द्वितीय प्रकरण में "शिव की शक्ति का स्वरूप" शीर्षक के अन्तर्गत पहले ही किया जा चुका है।

(३) **सदाशिव**—सृष्टि-क्रम से सदाशिव तीसरा तत्व है। इसका विकास शिव-शक्ति से हुआ है। यह नाद-रूप है, क्योंकि अदृष्ट शिव की मूर्ति से जो स्फोट ध्वनि संसार में व्याप्त होकर फैल रही है, उसे 'नाद' कहते हैं और यह नाद ही सदाशिव है।[४] यह तत्व सृष्टि के निमेष अथवा प्रलय का द्योतक है[५], क्योंकि अभी सृष्टि का प्रारम्भ नहीं होता, अपितु इस स्थिति में मनःकल्पित जगत् का विचार या अनुभव ही विद्यमान रहता है।[६] इस सदाशिव तत्व में इच्छा-शक्ति का प्राधान्य माना गया है।[७] इसकी तुलना उन अस्पष्ट रेखाओं से की जाती है, जिन्हें एक चित्रकार चित्र बनाने से पूर्व चित्र-फलक पर अंकित कर लेता है। इस तत्व का अनुभव 'अहं' या 'मैं' के साथ 'इदम्' या 'यह' का संयोग करने पर 'अहमिदम्' द्वारा होता है। इस वाक्य में 'अहं' या 'मैं' शिव का द्योतक है और 'इदम्' या 'यह' मन से कल्पित धुँधले अथवा अस्पष्ट विश्व का द्योतक है। जिसका अभिप्राय यह है कि मन से कल्पित विश्व अभी अपनी सचेतनता में विकसित होने वाला है।[८] प्रसाद ने भी इस सदाशिव तत्व को शुद्ध नाद स्वरूप बतलाकर बड़ा ही सुरीला कहा है, जिसमें कोई विकृति नहीं होती, किन्तु सृष्टि का आगामी विकास होते ही इसमें विकृति आ जाती है।[९]

---

१. य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
—श्वे० उ० ४।१

२. काश्मीर शैविज़्म, भाग १, पृष्ठ ६४। ३. काश्मीर शैविज़्म, भाग १, पृष्ठ ६५।

४. नेत्रतंत्र, भाग २, पृष्ठ २८७-२८८।

५. निमेषोऽन्तः सदाशिवः। —ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, भाग २, ३।१।३

६. काश्मीर शैविज़्म, भाग १, पृष्ठ ६७।

७. इच्छाप्राधान्ये सदाशिवतत्वम्। —तंत्रसार, पृष्ठ ७४।

८. इच्छाप्रधानं सदाशिवतत्वम्—अहमिदमिति। —तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ ५०।

९. शुद्ध नाद था बड़ा सुरीला कोई विकृति न थी उसमें।
कौन कल्पना करके उसमें मीड़ लगाकर गाता है॥
—जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ ४८।

(४) **ईश्वर**—सृष्टि-क्रम में चौथा तत्व ईश्वर माना गया है। यह तत्व भी शिव और शक्ति से विकसित हुआ है। इसमें ज्ञान-शक्ति की प्रधानता रहती है।[1] ज्ञान-शक्ति की प्रधानता रहने के कारण इस स्थिति तक आते-आते मन से कल्पित विश्व का अस्पष्ट एवं धुँधला विचार अथवा अनुभव अपना रूप ग्रहण करने लगता है और विचार एवं अनुभव में स्पष्टता आने लगती है। इसी कारण इस तत्व का अनुभव 'इदं' या 'यह' द्वारा होना है। इससे पूर्व सदाशिव-तत्व में 'अहमिदम्' के अन्तर्गत 'अहं' प्रमुख है और 'इदं' गौण है, जबकि ईश्वर-तत्व सम्बन्धी अनुभव में 'इदमहम्' के अन्तर्गत 'इदम्' या 'यह' प्रमुख हो जाता है, अधिक स्पष्ट हो जाता है और 'अहम्' या 'मैं' गौण हो जाता है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि मन से कल्पित विश्व सम्बन्धी विचार अब स्पष्टता एवं स्फुटता को प्राप्त हो जाता है और इसी कारण विकास की दृष्टि से ईश्वर-तत्व को विश्व के उन्मेष का द्योतक कहा जाता है।[3] यहाँ आते-आने सृष्टि सम्बन्धी अस्फुट एवं अस्पष्ट विचार अपना रूप ग्रहण करने लगता है और वह विराट् नयी सृष्टि-रचना के लिए नये-नये रंग घोलने लगता है।[4]

(५) **सद्विद्या**—सृष्टि-क्रम के अनुसार पाँचवाँ तत्व सद्विद्या या शुद्ध विद्या कहलाता है। यह तत्व निमेष या प्रलय तथा उन्मेष या उदय दोनों का द्योतक है, क्योंकि यहाँ आते-आते 'अहं' और 'इदं' सम्बन्धी दोनों विचार समान रूप से अपनी-अपनी सत्ता को प्राप्त हो जाते है।[5] यद्यपि अनुभव के अन्तर्गत दोनों एक दूसरे के समान प्रतीत होते हैं, तथापि विचार के अन्तर्गत दोनों स्पष्ट रूप से पृथक् किये जा सकते हैं। जैसे 'अहं' या 'मैं' अनुभव का कर्त्ता है और 'इदम्' या 'यह' कर्म है। नित्य के जीवन में भी हम इसका अनुभव इस प्रकार कर सकते हैं, जैसे साधारणतया अपने शरीर, विचार और इच्छा के साथ हम पूर्णतया एकाकार होते हुए भी प्रायः कहा करते हैं कि 'यह मेरा विचार है', 'यह मेरी इच्छा है', 'यह हमारा शरीर है' आदि। यहाँ हम स्वयं को विचार, इच्छा या शरीर से पृथक् मानते हुए ही 'मेरा', 'मेरी' या 'हमारा' का प्रयोग किया करते हैं। वैसे विचार, इच्छा तथा शरीर 'मेरे', 'मेरी' या 'हमारे' से पृथक् नहीं हैं। इसी तरह 'अहं' या 'मैं' तथा 'इदं' या 'यह' दोनों एक ओर अभिन्न होते हुए भी इस तत्त्व के अन्तर्गत अपना पृथक् अस्तित्त्व धारण करते हुए प्रतीत होने लगते हैं।[6] इस तत्त्व के अन्तर्गत क्रिया-शक्ति का

---

१. **ज्ञानशक्तिप्राधान्ये ईश्वरतत्वम्॥ —तंत्रसार**, पृष्ठ ७४।
२. **ज्ञानशक्तिप्रधानमीश्वरतत्वम्—इदमहमिति। —तंत्रालोक, भाग** ६, पृष्ठ ५०।
३. **ईश्वरोबहिरुन्मेषो। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।१।३**
४. **वह विराट था हेम घोलता नया रंग भरने को आज।**
—**कामायनी**, पृष्ठ २४।
५. **सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियोः। —ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा ३।१।३**
६. **काश्मीर शैविज़्म**, पृष्ठ ७१।

प्राधान्य रहता है[1] और इसका अनुभव 'अहमिदमस्मि' या 'मैं यह (विश्व) हूँ' द्वारा किया जाता है, क्योंकि इस तत्त्व के अन्तर्गत समधृततुलापुटन्याय से 'अहं' और 'इदम्' दोनों की सत्ता का अनुभव पृथक्-पृथक् रूप में होता है।[2] प्रसाद ने स्वतन्त्र रूप से कहीं इस तत्त्व का विवेचन नहीं किया है।

यहाँ तक जिन पाँच तत्त्वों का निरूपण किया गया है, उन्हें शैवागम में क्रमशः शांभव, शक्तिज, मंत्रमहेश, मंत्रनायक तथा मंत्र नामक पाँच गण भी कहा गया है और ये विशुद्ध तत्त्व बतलाये गये हैं।[3] इनके अतिरिक्त जो इकत्तीस तत्त्व हैं, वे सब अशुद्धाध्वन, अशुद्ध मार्ग अथवा अशुद्ध तत्त्व कहलाते हैं[4], क्योंकि शिव से लेकर सद्-विद्या तक इन पाँच तत्त्वों का सीधा सम्बन्ध शिव से है और परम शिव की पाँच प्रमुख शक्तियाँ ही इन पाँच तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं।[5] इनके अतिरिक्त माया से लेकर पृथ्वी तक इकत्तीस तत्त्वों का सीधा सम्बन्ध माया से है, जो अपने त्रिविध मलों एवं षट् कंचुकों से आवृत किये रहती है और इसी कारण इन्हें अशुद्ध तत्त्व कहा जाता है।[6]

(६) **माया**—सृष्टि के विकास-क्रम की दृष्टि से माया छठा तत्त्व है। यह माया शिव की ही एक शक्ति है, जो तिरोधान सम्बन्धी कार्य करती है।[7] इसका प्रमुख कार्य आवृत करना अथवा असीम को ससीम बनाना है।[8] यह भेदपूर्ण सृष्टि की मूल कारण है, जो सदैव आत्मा से भिन्न भेदपूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करती है।[9] यह निर्लिप्त एवं स्वतन्त्र पुरुष पर तीनों प्रकार के मलों—आणव, कार्म और

---

१. क्रियाशक्तिप्राधान्ये विद्यातत्त्वम्। —तंत्रसार, पृष्ठ ७४।

२. भेदाद्वैतवादिनामिव ईश्वरस्य यः समधृततुलापुटन्यायेन अहमिदमिति परामर्शः, तत्क्रियाशक्तिप्रधानं विद्यातत्त्वम्। —तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ ५०।

३. शांभवाः शक्तिजा मंत्रमहेशा मंत्रनायकाः।
मंत्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पंचगणाः क्रमात्॥
—तंत्रालोक, भाग ६, ९।५३-५४

४. तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ ५५-५६। ५. तंत्रसार, पृष्ठ ७४।

६. वही, भाग ६, पृष्ठ ५६-५७।

७. तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः। —ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा ३।१।७

८. मीनास्ति हिनस्ति इति माया शक्तिरुच्यते।
—तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ ११६।

एक यवनिका हटी पवन से प्रेरित माया पट जैसी,
और आवरण मुक्त प्रकृति थी हरी भरी फिर भी वैसी।
—कामायनी, पृष्ठ २८।

९. स्वात्माभिन्नमपि भावमंडल शिवो यया मिमीते भिदा व्यवस्थापयति इति च माया। —तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ ११६।

मायीय—का आवरण डालकर उसे लिप्त एवं परतन्त्र बनाया करती है।[१] इसी कारण इसे 'विमोहिनी शक्ति' भी कहा गया है, जो पूर्ण प्रकाशित चित्शक्ति के प्रकाश को आच्छादित कर देती है।[२] यह माया ही विश्व की जननी है,[३] क्योंकि किंचित् कर्तृत्व ज्ञान वाले कला-तत्त्व से लेकर धरणी पर्यन्त समस्त तत्त्वों, स्थूल देह आदि में जो अविवेक रहता है और जिसके फलस्वरूप अभिन्नात्मा में भिन्नत्व की प्रतीति होती है वह सब माया ही है।[४] इसी से समस्त जीव समुदाय प्रकट होते हैं और प्रकट होकर इसी के फलस्वरूप सुर, असुर आदि सभी भ्रम में पड़कर चक्कर काटते रहते हैं।[५] इस माया को 'परा निशा' भी कहा गया है[६], क्योंकि इसके प्रभाव से जीव प्रसुप्तावस्था को प्राप्त होकर भेद-भाव में लीन रहता है, अर्ध क्षेम से अत्यन्त अधीर बना रहता है और उसका समस्त आनन्द टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।[७] इस माया के कंचन, कामिनी और कादम्ब तीन प्रधान उपकरण हैं[८], जिनके द्वारा यह जीवों को फँसाकर उनसे नये-नये अपराध कराया करती है[९], उन्हें ठगकर जगत् में लज्जित कराती है[१०], उन्हें पाशव-वृत्ति के वशीभूत करके उनसे अनेक प्रकार के उपद्रव कराती है और उनकी समस्त समझदारी, सारा ज्ञान, समस्त क्रमागत उच्च सिद्धान्तों को विस्मृत कराकर उनके हृदय में विषय-वासना की भयानक तरंगें उठाने लगती है।[११] यह माया सृष्टि के आलोक-विन्दु को घेरकर मुस्कराती हुई बैठी रहती है, सारे भाव-चक्र का संचालन करती है और अपना जाल फेंककर जीवों को ऐसा फँसा लेती है कि सारे प्राणी राग में लीन होकर आसक्ति-भाव की उपासना किया करते हैं।[१२] भेदरूप होने के कारण इस माया को जड़ कहा गया है और इसके समस्त कार्य भी जड़ बतलाये गये हैं।[१३] किन्तु विश्व का हेतु होने के कारण माया को व्यापक और

---

१. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ २९।
२. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी**, भाग १, पृष्ठ ३७।
३. **सा माया क्षोभसम्पन्ना विश्वं सूते समन्ततः।** —**तंत्रालोक** ९।१६४
४. **शिवसूत्रविमर्शिनी**, पृष्ठ ७६-७७।
५. **हे शिव धन्य तुम्हारी माया,**
जेहि बस भूलि भ्रमत हैं सब ही सुर अरु असुर निकाया।
—**चित्राधार**, पृष्ठ २९।
६. **गर्भीकृतानन्तभा विविभासा सा परानिशा।** —**तंत्रालोक** ९।१५१
७. **मायामयी सुप्ति में सोकर, अति अधीर हो अर्ध क्षेम से,**
टुकड़े-टुकड़े कर फेंका था जीवन का निगूढ़ आनन्द॥ —**झरना**, पृष्ठ २४।
८. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ ६२।
९. **कामना**, पृष्ठ ९७।
१०. **कंकाल**, पृष्ठ १४,१५,७०।
११. **विशाख**, पृष्ठ ८८।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ २६४।
१३. **सा जडा भेदरूपत्वात् कार्यं चास्या जडं यतः।** —**तंत्रालोक** ९।१५१
जड़ता की सब माया थी चैतन्य समझकर मुझमें। —**आँसू**, पृष्ठ २५।

सूक्ष्म माना गया है।[१] इसीलिए सम्पूर्ण सृष्टि में जड़-चेतन सभी पदार्थों के अन्तर्गत इस माया का खेल चलता रहता है।[२]

(७) **कला**—सृष्टि-क्रम से कला को सातवाँ तत्व माना गया है। यह तत्व सीधे माया-तत्व से उत्पन्न होता है और इसे किंचित्कर्त्तृत्वलक्षणा कहा गया है।[३] यह ईश्वर की संकुचित कर्त्तृत्व शक्ति है और शक्ति-संकोच के कारण इन्द्रिय-द्वार से शक्ति का जो प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित रूप बोध के लिए होता है।[४] इसीलिए इस तत्व को संकुचित कर्त्तृत्वशक्ति का अभिव्यंजक माना गया है।[५] नव-नव स्वरूप-प्रथोल्लेखशालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करने वाले तत्व का नाम कला है।[६] मृगेन्द्रतंत्र में कला को दीपक के तुल्य माना गया है। जैसे घने अंधकार में दीपक से किंचित् प्रकाश मिलता है, वैसे ही माया द्वारा प्रसारित विश्वरूप घने अंधकार में कला द्वारा ज्ञान एवं क्रिया के लिए किंचित् प्रकाश प्राप्त होता है।[७] यह कला-तत्व असीम एवं अमोघ कर्त्तृत्वशक्ति को ससीम एवं संकुचित बना देता है, जिससे व्यापक एवं शाश्वत कर्त्तृत्व भी नश्वर छाया के समान सीमित एवं नश्वर बन जाता है।[८] व्यावहारिक जीवन में भी देखा जाता है कि जब कोई कलाकार किसी असीम एवं व्यापक भाव को कला के द्वारा कोई आकार या रूप देता है, तब यह कला कलाकार के हृदयस्थ व्यापक एवं असीम भाव को संकुचित बनाकर ही प्रकट करती है। इसी कारण मूर्तिकार उस व्यापक एवं असीम ब्रह्म की जो एक कमनीय मूर्ति बनाता है, वह संकुचित एवं ससीम कर्त्तृत्व की द्योतक होती है और मूर्तिकार की संकुचित अभिलाषा को ही प्रकट किया करती है।[९] इसी कारण कला-तत्व किंचित्कर्त्तृत्व अथवा संकुचित कर्त्तृत्व-शक्ति का द्योतक माना गया है।

(८) **विद्या**—सृष्टि के विकास-क्रम से विद्या आठवाँ तत्व है। यह तत्व

---

१. व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात्। —तंत्रालोक ९।१५२
२. खेलो सुख से आयु भर यह माया का खेल। —स्कंदगुप्त, पृष्ठ ५५।
३. मायातत्वात् कला जाता किंचित्कर्त्तृत्वलक्षणा। —तंत्रालोक ९।१७४
४. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ४३।
५. वही, पृष्ठ ४३।
६. कलयति स्वरूपं आवेशयति वस्तूनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला।
—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृष्ठ १४।
७. मृगेन्द्रतंत्र १।१०।४-५
८. कर्त्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया सी ललित 'कला'।
—कामायनी, पृष्ठ १६४।
९. कामना कला की विकसी कमनीय मूर्ति बन तेरी। —आँसू, पृष्ठ ३८।

ईश्वर की सर्वज्ञत्व शक्ति के संकुचित स्वरूप का द्योतक है।[१] जिस तरह कला-तत्व किंचित् कर्त्तत्व-शक्ति का द्योतक है, उसी तरह विद्या-तत्व किंचित् ज्ञातृत्व-शक्ति का बोधक है। इसका जन्म कला से हुआ है। इससे सर्वज्ञ आत्मा आवृत होकर किंचित् ज्ञान वाली बन जाती है, क्योंकि यह विद्या बुद्धि को देखती है और बुद्धिगत सुख-दुःखादि को विवेक से ग्रहण करती है। इसीलिए यह विद्या-तत्व बुद्धि में प्रतिबिम्बित समस्त भावों का ज्ञान कराया करती है[२] और यह बुद्धिगत ज्ञान सदैव अस्पष्ट, धुँधला एवं संकुचित होता है।[3] इस तरह यह विद्या-तत्व बुद्धि रूपी दर्पण में नाना पदार्थों, सुख, दुःख, मोह आदि के प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करके जीवात्मा को सुखादि प्रत्ययों से परिचित कराया करता है।[४] इससे जीवात्मा को पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता और उसकी सर्वज्ञत्व-शक्ति संकुचित हो जाती है। इसी कारण विद्या-तत्व सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश कहलाता है।[५]

(९) **राग**—सृष्टि के विकास क्रमानुसार राग नवाँ तत्व है। यह तत्व ईश्वर की पूर्णत्व शक्ति के संकुचित स्वरूप का द्योतक है।[६] यह तत्व प्रमाता के देहादि में एवं प्रमेय में गुणों का आरोपण करता है।[७] इस तत्व की उत्पत्ति भी माया-जन्य कला से मानी गई है।[८] यह तत्व जीवात्मा को संसार के नाना प्रकार के भोगों में लीन करता है, जिससे आत्मा की पूर्णता संकुचित हो जाती है और जीवात्मा अपूर्णत्व को प्राप्त हो जाता है।[९] इसी कारण राग-तत्व को किंचित् पूर्णत्व शक्ति का द्योतक माना गया है।[१०] इस तत्व को वैराग्याभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि राग तो वैराग्य के अन्तर्गत भी सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है। साथ ही धर्मादि में जो वासना रहती है, उसके अन्तर्गत भी इस राग-तत्त्व की विद्यमानता देखी जाती है।[११] इसी कारण मृगेन्द्रतंत्र में लिखा है कि रागतत्व सभी प्रकार

---

१. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ४२।
२. **तंत्रालोक** ९।२०३; **तंत्रसार**, पृष्ठ ८१।
३. **काश्मीर शैविज़्म**, पृष्ठ ८३।
४. **बुद्धिं पश्यति सा विद्या बुद्धिदर्पणचारिणः ॥**
सुखादीन् प्रत्ययात् मोहप्रभृतीन् कार्यकारणे।
कर्मजालं च तत्रस्थं विविनक्ति निजात्मना॥ —**तंत्रालोक** ९।१९२-१९३
५. **सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश 'विद्या' बनकर कुछ रचे छंद।**
—**कामायनी**, पृष्ठ १६५।
६. **काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ४२।
७. **इत्यत्रार्थेऽभिष्वंगरूपः प्रमातरि देहादौ प्रमेये च गुणारोपणमय इव रागो व्याप्रियते।**—**ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा**, पृष्ठ २०९।
८. **तंत्रालोक** ९।२०३
९. **तंत्रालोक, भाग ६**, पृष्ठ १५७।
१०. **काश्मीर शैविज्म**, पृष्ठ ८२।
११. **तंत्रालोक** ९।२००-२०१।

के भोग्य पदार्थों एवं चित्‌शक्ति आदि के लिए अभिलाषा जाग्रत किया करता है।[1] इससे जीवात्मा की व्यापकता, अनंतता एवं पूर्णता आवृत्त हो जाती है और वह अपूर्णत्व को प्राप्त होकर अपने तुच्छ अहंकार में लीन रहा आता है तथा अपूर्ण अहंता में लीन रहने के कारण इस राग-तत्व के प्रभाव से ही वह अपनी अनंत, महान् एवं पूर्ण शक्ति को भी सान्त, तुच्छ एवं अपूर्ण समझा करता है।[2] इसी कारण राग-तत्व जीवात्मा की पूर्णत्व-शक्ति को संकुचित बनाने वाला माना गया है।

(१०) **काल**—सृष्टि-विकास की दृष्टि से काल दसवाँ तत्व है। इसकी उत्पत्ति भी कला से होती है।[3] यह ईश्वर की नित्यत्व शक्ति के संकुचित स्वरूप का द्योतक है।[4] यह तत्व असीम एवं अपरिमित प्रमाता को ससीम एवं परिमित बना देता है। इस तत्व से अविच्छिन्न जीवात्मा 'घट-क्रिया' अथवा 'पट-क्रिया' की भाँति समय से सीमित कर्तृत्व को प्राप्त हो जाता है, जिससे उसे यह प्रतीति होने लगती है कि 'मैं यह कार्य करता हूँ', 'इस कार्य को मैं करता था' और 'इस कार्य को मैं करूँगा।'[5] यह तत्व अवधि या समय-क्रम का सूचक है, क्योंकि इसी के द्वारा यह जाना जाता है कि 'मै स्थूल हो गया हूं', 'पहले मै कृश हो गया था' और 'मैं स्थूलतर हो जाऊँगा'।[6] अतएव इस काल-तत्व से भूत, भविष्य एवं वर्तमान का ज्ञान होता है[7], नित्यत्व किंचित् अवधि में विभाजित हो जाता है और इसी से निमेष, मुहूर्त्त, घड़ी, पल आदि का ज्ञान होता है।[8]

(११) **नियति**—सृष्टि के विकास-क्रम मे नियति ग्यारहवाँ तत्व है। यह नियति-तत्व किंचित् व्यापकत्व का द्योतक है।[9] यह तत्व भी विद्या, राग और काल की भाँति माया-जन्य कला से उत्पन्न हुआ है।[10] नियति-तत्व प्रत्येक कारण और कार्य की योजना किया करता है। 'इस कारण से ही यह कार्य होगा'—इसकी योजना

---

१. **मृगेन्द्रतंत्र** १।१०।१४
२. **या कभी अपूर्ण अहंता में हो 'रागमयी' सी महाशक्ति।**
—**कामायनी**, पृष्ठ १६५।
३. **तंत्रालोक** ९।२०३
४. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ४२।
५. **तंत्रसार**, पृष्ठ ८२।
६. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, भाग २, पृष्ठ २०८।
७. **मृगेन्द्रतंत्र** १।१०।१४
८. **नित्यता विभाजित हो पल पल में 'काल' निरन्तर चले ढला।**
—**कामायनी**, पृष्ठ १६५।
९. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ४२।
१०. **विद्या रागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्चतुष्टयम् कलाकार्यम**।

नियति-तत्व के ही आधीन मानी गई है।[१] इसे ईश्वर की नियामिका शक्ति माना गया है।[२] यह नियति-तत्व आत्मा को परिमित एवं उसके व्यापकत्व को संकुचित करके उसे स्वभावानुकूल विविध कार्यों में नियोजित करता रहता है।[३] इसका विस्तृत विवेचन पहले ही जीव-प्रकरण में 'नियतिवाद' के अन्तर्गत किया जा चुका है।

इस प्रकार माया से लेकर नियति तक उक्त ६ तत्व षट् कंचुक कहलाते हैं, जो स्वतन्त्र, व्यापक एवं अनन्त आत्मा को अपने आवरण से आवृत्त करके परतन्त्र, एकदेशीय एवं सान्त या सीमित 'पशु' बना देते है।[४]

(१२) **पुरुष** [illegible] से पुरुष बारहवाँ तत्त्व है। प्रसाद के मतानुसार पुरुष सर्वथा निर्लिप्त एवं स्वतन्त्र होता है, किन्तु माया उसे जैसे ही अपने आवरण में लाने की चेष्टा करती है, वैसे ही यह लिप्त एवं परतंत्र बन जाता है[५], देहाभिमानी होकर बन्दीगृह में पड़ जाता है[६] और षट् कंचुक एवं त्रिविध मलों से युक्त होकर पशु, अणु, पुद्गल, पुमान्, पुरुष या जीव आदि नामों से अभिहित किया जाता है।[७] इसी कारण विश्व-चेतना के आकार धारण करने को पुरुष कहते हैं।[८] यह पुरुष ईश्वर की प्रेरणा-शक्ति से ही विविध कर्मों में लीन होता है। इसीलिए यही कर्त्ता और सुख-दुःखादि विविध फलों का भोक्ता है।[९] वैसे यह पुरुष भी शिव की भाँति कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्ति से परिपूर्ण है, परन्तु कला-तत्व इसे अपना आवरण डालकर तथा इसकी सर्वकर्तृत्व शक्ति को संकुचित करके किंचित् कर्तृत्व वाला बना देता है, विद्या-तत्व इसकी सर्वज्ञता को संकुचित करके किंचित् ज्ञान वाला बना देता है, राग-तत्व इसकी पूर्णता को संकुचित करके किंचित् पूर्ण अथवा अपूर्ण बना देता है, कला-तत्त्व इसकी नित्यता को संकुचित करके इसे अनित्य बना देता है और नियति-तत्व इसको

---

१. **नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले। —तन्त्रालोक ९।२०२**
'अस्मदेव कारणात् इदमेव कार्यं भवेत्' इति नियममादध्यादित्युक्तम्।
—तन्त्रालोक, भाग ६, पृष्ठ १६०।

२. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २,** पृष्ठ २०९।

३. **व्यापकता 'नियति' प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बन्द।**
—कामायनी, पृष्ठ १६५।

४. **माया कला रागविद्ये कालो नियतिरेव च।**
कंचुकानि षडुक्तानि संविदस्तत्स्थितौ पशुः॥ —तन्त्रालोक ९।२०४

५. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,** पृष्ठ २९।

६. **एक घूंट,** पृष्ठ १४।

७. **तन्त्रालोक, भाग ६,** पृष्ठ १६४-६५।

८. **एक घूंट,** पृष्ठ १५।

९. **कानन-कुसुम,** पृष्ठ ११६; **तन्त्रालोक,** भाग ६, पृष्ठ १६८-६९।

व्यापकता को संकुचित करके इसे परिमित एवं ससीम बना देता है।[1] किन्तु गुरु-कृपा एवं साधना से जब इस पाश-बद्ध पुरुष को यह प्रत्यभिज्ञान हो जाता है कि 'मैं शिव हूँ', उस समय यह समस्त पाशों, कंचुकों एवं मलों से मुक्त होकर अपनी स्वरूप-स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इस स्वरूप-स्थिति की प्राप्ति में 'शक्तिपात' का बड़ा महत्व माना गया है। शैवों का यह शक्तिपात वैष्णवों के अनुग्रह से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, क्योंकि शुद्ध चेतन या चित्ति का अनुग्रह करना ही 'शक्तिपात' कहलाता है और यह अनुग्रह चिति या शिव के नित्य पंच कृत्यो में से एक कृत्य है, जिसे शिव प्रायः जीवों पर किया करते है।[2] प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का यह पुरुष-तत्व सम्बन्धी विवेचन बहुत-कुछ सांख्य-दर्शन के समान है, क्योंकि जैसे सांख्य में असंख्य पुरुष माने गये हैं[3], वैसे ही यहाँ पर भी असंख्य पुरुष माने गये हैं। परन्तु दोनों में इतना अन्तर है कि सांख्य में पुरुषों की स्वतंत्र सत्ता मानी गई है[4], जबकि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में इन्हें एकमात्र शुद्ध चेतन का ही प्रस्फुरण बताया गया है। दूसरे, सांख्यदर्शन में पुरुष को अकर्त्ता माना गया है[5], जबकि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पुरुप को भी कर्त्ता मानता है। तीसरे, सांख्य-दर्शन में पुरुष पूर्णतया चेतन है और अप्रभावित रहता है[6], जबकि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में पुरुष चेतन होकर भी अप्रभावित नहीं रहता। चौथे, सांख्य-दर्शन में केवल प्रकृति का ही पुरुष के साथ संयोग होता है, जिससे वह भोक्ता या जीव बनता है[7], जबकि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में माया, कला, रागादि छः कंचुकों तथा आणव, कार्म और मायीय तीन मलों या पाशों से बद्ध पुरुष जीव या अणु संज्ञा को प्राप्त होता है और उक्त कंचुकों एवं मलों का वर्णन अपनी एक विशेषता रखता है। इस प्रकार पुरुष तत्व उस स्वतंत्र एवं निर्लिप्त आत्मा के संकुचित एवं परिमित स्वरूप का ही द्योतक है। इसका विस्तृत विवेचन जीव वाले तृतीय प्रकरण में किया जा चुका है।

(१३) **प्रकृति**—सृष्टि के विकास-क्रम से प्रकृति तेरहवाँ तत्व है। सांख्य-दर्शन की भाँति प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में भी प्रकृति को सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था कहा गया है, क्योंकि सुख को प्रकाशित करने के कारण इसमें सत्वगुण रहता है, दुःख से युक्त होने के कारण इसमें रजोगुण रहता है और मोह की विद्य-मानता के कारण इसमें तमोगुण रहता है।[8] सांख्य की भाँति यहाँ भी इसे 'प्रकृति' के अतिरिक्त 'प्रधान' भी कहा गया है।[9] सांख्य की ही भाँति यह प्रकृति पुरुष के

---

१. **का०**, पृष्ठ १६५; **का० नि०**, पृष्ठ ४२-४३; **तंत्रालोक, भाग ६**, पृष्ठ १६६-७२।

२. **तन्त्रसार**, पृष्ठ ११६-२०।

३. **सांख्य-तत्व-कौमुदी-प्रभा**, पृष्ठ १२१।

४. **वही**, पृष्ठ १२५।   ५. **सांख्य-तत्त्व-कौमुदी-प्रभा**, पृष्ठ १२५।

६. **वही**, पृष्ठ ११६।   ७. **वही**, पृष्ठ १२६-१३१।

८. **तंत्रालोक** ६।२२१-२२२

९. **तदेवं सत्वरजस्तमसां साम्यात्मकमक्षुब्धं रूपं प्रधानमित्युक्तम्।**
—**तंत्रालोक, भाग ६**, पृष्ठ १७८।

हृदय में भोगेच्छा उत्पन्न करती है, किन्तु अन्तर इतना ही है कि सांख्य-दर्शन में तो प्रकृति एक है और वह स्वयं पुरुषों के साथ संयोग करती है[१], जबकि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जैसे पुरुष अनेक हैं, वैसे ही प्रकृतियाँ भी अनेक हैं[२] और वे ईश्वर की इच्छा से यह कार्य करती हैं।[३] साथ ही यहाँ प्रकृति-पुरुष के संयोग से बुद्धि अथवा महदादि तत्वों की जो उत्पत्ति होती है, उसमें भी ईश्वर की इच्छा की ही प्रधानता मानी गई है।[४] प्रसाद ने प्रकृति को शिव की परा-शक्ति माना है, जो सदैव उनकी गोद में शोभा देती रहती है।[५] इस प्रकृति के दो भेद हैं—बाह्य प्रकृति और आन्तरिक प्रकृति।[६] इनमें से बाह्य प्रकृति के अन्तर्गत द्वीप, महाद्वीप, समुद्र, नदी, पर्वत, वन आदि आते हैं[७] और आन्तरिक प्रकृति के अन्तर्गत अन्तःकरण, मनोवृत्तियाँ आदि आती हैं।[८] प्रसाद की दृष्टि में भी प्रकृति पुरुष को प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करने वाली है।[९] वैसे प्रसाद प्रकृति को पुरुष का शरीर मानते हैं[१०] और अपने इस मत की पुष्टि सौन्दर्य-लहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' से करते हैं।[११] यह प्रकृति सतत क्रियाशील रहती है[१२]; प्रतिक्षण चंचल रहती है और बड़ी परिवर्तनशील है।[१३] जैसे उपनिषद् में प्रकृति को अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करने वाली लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्णा माना है[१४] वैसे ही प्रसाद ने प्रकृति को एक ऐसी उत्पादिका शक्ति माना है, जो संसार का नया चित्र बनाने के लिए विविध साज-सामग्री सजाया करती है[१५], अपने अदृश्य हाथों से कोमल एवं कमनीय कारीगरी किया करती है[१६] और अपने

१. सांख्य-तत्त्व कौमुदी-प्रभा, पृष्ठ १३० ।

२. तच्च (प्रधानं) भिन्नं प्रतिपुं नियतत्वाद् अनेकम् इतियावत् ।
—तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ १७२ ।

३. ईश्वरेच्छावशक्षुब्धलोकिकं पुरुषं प्रति ।
भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेद् भृशम् ॥ —तंत्रालोक ९।२२५

४. तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ १८१ ।

५. पराशक्ति वह प्रकृति, अंक महँ अति छवि पावत । —चित्राधार, पृष्ठ ७२ ।

६. बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही । —कानन-कुसुम, पृष्ठ १५ ।

७. चित्राधार, पृष्ठ १२५ । ८. कानन-कुसुम, पृष्ठ १५ ।

९. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ २९ ।

१०. वही, पृष्ठ ३६ ।

११. वही, पृष्ठ ६९ ।

१२. स्कंदगुप्त, पृष्ठ २६; कामायनी, पृष्ठ ३३ ।

१३. अजातशत्रु, पृष्ठ ४८; कामायनी, पृष्ठ २५, ११९ ।

१४. अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः
—श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।५

१५. कंकाल, पृष्ठ ८७ । १६. प्रतिध्वनि, पृष्ठ २० ।

निर्माण एवं विनाश में हँसा और रोया करती है।[1] इस प्रकृति पर कोई अपना अधिकार नहीं कर सकता, क्योंकि यह सदैव दुर्जेय है।[2] यह प्रकृति परम रमणीय है और अखिल ऐश्वर्य से परिपूर्ण है।[3] किन्तु जब यह क्षुब्ध होकर उत्पात मचाती है, तब इसकी तांडवलीला से सारे ब्रह्मांड में हलचल मच जाती है, चारों ओर प्रलयकारी मेघ घिर आते हैं, भयंकर आँधियाँ आती हैं, करका-क्रंदन होता है और प्रालेय हला-हल नीर बरस कर अखिल धरा को डुबो देता है।[4] इस प्रकार यह प्रकृति सत्व, रज एवं तम से परिपूर्ण सृष्टि के सृजन एवं संहार में सहायक होती है, निश्चल एवं प्रसुप्त पुरुष के अन्तर्गत गतिशीलता उत्पन्न करके उसे सुख, दुःख एवं मोह में लीन करती है और इसी के द्वारा पुरुष को सृष्टि का किंचित् अनुभव होता है, क्योंकि पुरुष तो प्रसुप्त की भाँति निश्चल एवं स्थिर है और यह प्रकृति ही उसे अस्पष्ट, अनिश्चित एवं संदिग्ध सृष्टि का अनुभव कराया करती है।[5] इसी कारण प्रसाद ने पुरुष को प्रकृति का अनुचर कहा है।[6] इस प्रकृति के प्रभाव से ही पुरुष इस आकर्षण-पूर्ण विश्व को भोग्य मानता है और सतत वासना में लीन रहना ही अच्छा समझता है।[7] अतएव जैसे उपनिषद् में अजरूप पुरुष इस अजारूपी प्रकृति का सेवन करता हुआ माना गया है[8], वैसे ही प्रसाद भी पुरुष को इस प्रकृति का भोग करने वाला मानते हैं।[9]

(१४) **बुद्धि**—सृष्टि-विकास क्रम से बुद्धि चौदहवाँ तत्त्व है। इसकी उत्पत्ति प्रकृति से होती है। इसे सर्वतः निर्मल बताया गया है और अपनी निर्मलता के कारण ही यह तत्त्व पुरुष को सभी प्रकार के ज्ञान का प्रकाशक तथा विषयों का बोधक है। इस बुद्धि के द्वारा पुरुष को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों प्रकार का ज्ञान होता है। यद्यपि बुद्धि जड़ होती है, तथापि पुरुष के ज्ञानालोक का ध्रुवालम्बन कहलाती है और सभी प्रकार के विषयों के प्रकाशन में सर्वथा समर्थ होती है।[10] इसका विस्तृत वर्णन जीव वाले प्रकरण में पहले ही किया जा चुका है।

---

१. **इन्द्रजाल**, पृष्ठ ८३।
२. **प्रकृति रही दुर्जेय। —कामायनी**, पृष्ठ ७।
३. **यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी**.........। **—का०**, पृ० १७१।
४. **कामायनी**, पृष्ठ १३, १४, १५, १८६, १८९।
५. **काश्मीर शैविज़्म**, पृष्ठ ९२।
६. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४४।
७. **कामायनी**, पृष्ठ १२८।
८. **अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते। —श्वेताश्वतर उपनिषद्** ४।५
९. **इस पंचभूत की रचना में मैं रमण करूँ बन एक तत्व।**
—कामायनी, पृष्ठ १५३।
१०. **तन्त्रालोक** ९।२२७-२९

(१५) **अहंकार**—सृष्टि-विकास-क्रम में अहंकार पंद्रहवाँ तत्व है। इसकी उत्पत्ति बुद्धि से होती है। इसके उत्पन्न होते ही पुरुष में यह आत्माभिमान उत्पन्न होता है कि 'मैं यह करता हूँ', 'मैं यह जानता हूँ' आदि।[1] यह अहंकार व्यक्तिगत अनुभवों की स्मृति को एकत्र करता रहता है और उनका सम्बन्ध आत्मा से स्थापित करके जीव के अन्तर्गत आत्माभिमान उत्पन्न किया करता है, जिससे आत्मा एक व्यक्ति तक सीमित होकर उसकी स्मृति तथा उसके व्यक्तिगत अनुभवों का योग बन जाती है।[2] इसका विस्तृत विवेचन जीव के प्रकरण में पहले ही किया जा चुका है।

(१६) **मन**—विकास-क्रम में मन सोलहवाँ तत्त्व है। सात्विक अहंकार से इस मन की उत्पत्ति होती है और यह सर्वविषयी होता है।[3] इसका भी विस्तृत विवेचन जीव वाले प्रकरण में पहले ही किया जा चुका है।

(१७-२१) **पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ**—जिन इन्द्रियों के द्वारा पुरुष विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है वे ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती है। श्रवण, त्वक्, चक्षु, नासिका और जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं[4], जिनकी उत्पत्ति सात्विक अहंकार से होती है।[5] इनका भी विस्तृत विवेचन जीव-प्रकरण में 'इन्द्रियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत पहले ही किया जा चुका है।

(२२-२६) **पाँच कर्मेन्द्रियाँ**—जिन इन्द्रियों के द्वारा पुरुष शरीराभिमानी होकर विविध प्रकार के कर्म करता है, उन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं। कर्मेन्द्रियाँ पाँच हैं—वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ।[6] इन कर्मेन्द्रियों का विकास रजोगुण-प्रधान अहंकार से होता है।[7] इनका भी विवेचन पहले ही जीव-प्रकरण में 'इन्द्रियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

---

१. **तन्त्रालोक** ९।२३०

२. **काश्मीर शैविज़्म**, पृष्ठ १००।

३. **ततश्च तद्विशिष्टात् सात्विक अहंकारान्मनो जायते इत्यस्य सर्वविषयत्वम्।**
—**तन्त्रालोक, भाग** ६, पृष्ठ १२८।

४. **बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि घ्राणं च जिह्वा विषयावबोधनात्।**
—**विवेक-चूड़ामणि. श्लोक सं०** ९४

५. **सत्वप्रधानाहंकाराद्भोक्त्र्यंशस्पर्शिनः स्फुटम्।**
मनोबुद्ध्यक्षषट्कं तु जातं भेदस्तु कथ्यते॥ —**तन्त्रालोक** ९।२३४

६. **वाक्पाणिपादं गुदमप्युपस्थः कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु।**
—**विवेक-चूड़ामणि, श्लोक सं०** ९४

७. **उक्त इन्द्रियवर्गोऽयमहंकारात् तु राजसात्।** —**तन्त्रालोक**, ९।२७१

(२७-३१) **पाँच तन्मात्रायें**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध नामक पाँच तन्मात्राएँ होती है।[१] इन पाँचों तन्मात्राओं का जन्म तामस अहंकार से होता है।[२] इनमें से शब्द से तात्पर्य उस संगीतात्मक ध्वनि से है, जो कोमलता के साथ जब अँगड़ाई लेती है, तब मादकता की लहर उठाकर अपने अधिष्ठान आकाश को आप्लावित कर देती है।[3] इस शब्द तन्मात्रा का सम्बन्ध कर्णेन्द्रिय से है, क्योंकि कान के द्वारा ही शब्द अंतःकरण में पहुंच कर अपने सुधामय संगीत से पुलकायमान करता हुआ रोम-रोम को सरस बना देता है।[४] इसीलिए मधुर संगीत के समान सुन्दर शब्द हृत्तन्त्री को झनझना देते हैं।[५] यह शब्द प्रणव के समान सम्पूर्ण आकाश में गूँजा करता है।[६] दूसरी स्पर्श तन्मात्रा से तात्पर्य उस आलिंगन के समान मधुर प्रेरणा से है, जो किसी शरीर को जब छू लेती है, तब तुरन्त सिहरन बन जाती है और उस सिहरन अथवा फुरहरी के कारण शरीर में एक ऐसी सिकुड़न अथवा संकोच की भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे शरीर की दशा छुईमुई के पौधे के समान हो जाती है, क्योंकि जिस तरह छुईमुई का पौधा उँगली का स्पर्श होते ही तुरंत सिकुड़ जाता है, उसी तरह स्पर्श के कारण शरीर में भी सिकुड़न देखी जाती है।[७] स्पर्श से प्रायः शरीर में गुदगुदी उत्पन्न होती है[८], तन पुलकित हो उठता है[९] और रोमांच उत्पन्न हो जाता है।[१०] इसका मुख्य सम्बन्ध त्वचा से है और इसका अधिष्ठान समीर है। इसी कारण कोमल सुखद स्पर्श की उपमा प्रायः

---

१. **शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसौ गंधश्च पंचमः। —तन्त्रालोक, भाग ६**, पृष्ठ २१८।
पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा।
—कामायनी, पृष्ठ ६६।
शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ।
—कामायनी, पृष्ठ २६२।

२. **तामसात्तन्मात्रवर्गो। —तन्त्रालोक, भाग** ६, पृष्ठ २१८।

३. **वह संगीतात्मक ध्वनि इनकी कोमल अँगड़ाई है लेती;**
मादकता की लहर उठा कर अपना अम्बर तर कर देती। —का०, पृष्ठ २६३।

४. **आनन्द से पुलक कर हों रोम-रोम भीने।**
संगीत वह सुधामय अपना सुना दे मोहन। —कानन-कुसुम, पृष्ठ ७६।

५. **तितली**, पृष्ठ १७।   ६. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ७१।

७. **आलिंगन सी मधुर प्रेरणा छू लेती, फिर सिहरन बनती,**
नव अलम्बुषा की व्रीड़ा सी खुल जाती है, फिर जा मुँदती।
—कामायनी, पृष्ठ २६३।

८. **आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया मुझे। —झरना**, पृष्ठ ६।

९. **पुलकित तनु थे राम, देख जानकी की दशा,**
सुमन-स्पर्श अभिराम, सुख देता किसको नहीं। —कानन-कुसुम, पृष्ठ ९७।

१०. **तितली**, पृष्ठ १६०।

मलय पवन से दी जाती है।[१] तीसरी रूप-तन्मात्रा से तात्पर्य उस मनोहारिणी सुन्दरता से है, जो विद्यु त् कण के समान तेजोमय होती है और अपनी छायामय सुषमा में विह्वल होकर मतवाली बनी रहती है।[२] यह रूप-तन्मात्रा या सुन्दरता वह है जिसे चेतना का उज्ज्वल वरदान कहते हैं[३], जिसके सम्मुख मानवीय महत् अहम्-भाव लोटने लगता है, जिस पिच्छल भूमि पर स्खलन विवेक बनकर खड़ा होता है, जहाँ प्राण अपनी अतृप्त अभिलाषा का आनन्द-निकेतन देखकर पूर्ण वेग से धमनियों में दौड़ने लगते हैं और जिसमें पूर्ण चन्द्र के वैभव की चन्द्रिका-सी सबको नहला देने वाली उच्छृङ्खल वासना विद्यमान रहती है।[४] इस रूप-तन्मात्रा का मुख्य सम्बन्ध नेत्रेन्द्रिय से है और इसका अधिष्ठान अग्नि है। इसी कारण प्रायः रूप की समता प्रज्वलित आग या ज्वाला से की गई है, जिसमें मतवाला होकर मन पतंग की तरह जला करता है।[५] चौथी रस-तन्मात्रा से तात्पर्य उस रस की धारा से है, जो जीवन की मध्यभूमि अर्थात् यौवनावस्था को सर्वाधिक सींचती रहती है और जिसमें मधुर लालसा की लहरें उठती रहती हैं, जिनसे यह धारा स्पंदित होती रहती है।[६] इस रस का मुख्य सम्बन्ध रसना से है[७] और इसका अधिष्ठान जल है। इसी कारण प्रायः रस की समता धारा अथवा निर्झर से की गई है।[८] पाँचवीं गंध तन्मात्रा से तात्पर्य उस भीनी-भीनी गन्ध से है जो सुमन-संकलित भूमि-रन्ध्र से उठा

---

१. **मलय पवन के समान कोमल सुखद स्पर्श। —कंकाल**, पृष्ठ १३४।

२. **जिसके तट पर विद्युत कण से मनोहारिणी आकृति वाले,**
छायामय सुषमा में विह्वल विचर रहे सुन्दर मतवाले।
—**कामायनी**, पृष्ठ २६३।

३. **उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।**
—**कामायनी**, पृष्ठ १०२।

४. **कामना**, पृष्ठ ७०-७१।

५. **कैसी कड़ी रूप की ज्वाला!**
पड़ता है पतंग-सा इसमें मन होकर मतवाला। —चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १९८।
जलकर नहीं हैं हटते जो रूप की शिखा से।
हमको पतंग अपना ऐसा बना दे मोहन। —कानन-कुसुम, पृष्ठ ७९।

६. **यह जीवन की मध्य भूमि है रस धारा से सिंचित होती,**
मधुर लालसा की लहरों से यह प्रवाहिका स्पन्दित होती।
—**कामायनी**, पृष्ठ २६३।

७. **रसना पर लाने में रस नहीं है।** —**विशाख**, पृष्ठ ४२।
रस हुआ रसना में उसके बोलकर। —**कानन-कुसुम**, पृष्ठ ५१।

८. **रसधारा से सिंचित होती।** —**कामायनी**, पृष्ठ २६३।
रस के निर्झर में धँसकर मैं आनन्द शिखर के प्रति बढ़ती।
—**कामायनी**, पृष्ठ ९९।

करनी है ।[1] इसी कारण गंध का अधिष्ठान भूमि है[2] और इसका सीधा सम्बन्ध घ्राणेन्द्रिय से है ।[3] वैसे गंध का वाहक पवन है, जो प्रकृति की गोद में विकसित प्रसूनों के सौरभ को घ्राणेन्द्रिय तक ले जाता है ।[4]

(३२-३६) **पाँच महाभूत**—पाँच तन्मात्राओं से पंच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है । जैसे शब्द तन्मात्रा से आकाश, स्पर्श तन्मात्रा से वायु, रूप तन्मात्रा से अग्नि, रस तन्मात्रा से जल और गंध तन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है ।[5] इन पाँच भूतों में से आकाश तथा वायु अमूर्त एवं अपरिवर्तनशील हैं और अग्नि, जल तथा पृथ्वी मूर्त एवं परिवर्तनशील हैं ।[6] इनमें से आकाश में अखंड ब्रह्मांड विभासित रहता है । यह अनंत है, शून्य है और महा-सुनील है । यहाँ सहस्र संसार बने रहते हैं । यह असीम एवं सुव्याप्त है ।[7] शब्द तन्मात्रा से उत्पत्ति होने के कारण शब्द आकाश का गुण है ।[8] सभी प्रकार के शब्द आकाश के माध्यम से ही सुने जाते हैं, क्योंकि आकाश प्रतिध्वनि देता है और वे सभी शब्द इस सर्वग्रासी आकाश के विवर में ही विलीन हो जाते हैं ।[9]

दूसरे, पवन का विकास स्पर्श तन्मात्रा से होने के कारण इसमें स्पर्श का गुण रहता है । यह प्राणियों का प्राण है। जीवों के अन्दर पंच प्राणों—प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान के रूप में विद्यमान रहकर उनकी समस्त शारीरिक क्रियाओं में सहायता प्रदान करता है ।[10] इसके तनिक घनीभूत होते ही श्वासों की गति रुद्ध हो

---

१. **सुमन संकलित भूमि रन्ध्र से मधुर गन्ध उठती रस भीनी ।**
—**कामायनी**, पृष्ठ २६३ ।

२. **सिंचाई से मिट्टी की सोंधी महँक—और फूलों की गंध उस वातावरण में उत्तेजना भरी मादकता ढाल रही थी ।** —**तितली**, पृष्ठ १५६ ।
शैलमाला के अंचल से समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी ।
—**आँधी**, पृष्ठ ११२ ।

३. **छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ।** —**कामायनी**, पृष्ठ ८९ ।

४. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १९; **कंकाल**, पृष्ठ २२; **आँधी**, पृष्ठ ४० ।

५. **तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्योभूतानि पंच पंचभ्यः ।** —**सांख्यकारिका ३८**
भूतादिनाम्नस्तन्मात्रपंचकं भूतकारणम् । —**तंत्रालोक** ९।२७२

६. **काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ३४ ।

७. **अखंड ब्रह्मांड विभास है जहाँ, अनंत औ शून्य सुनील है महा ।**
सहस्र संसार जहाँ बने रहें, असीम आकाश सुव्याप्त ह्वै रहै ।।
—**चित्राधार**, पृष्ठ १३९ ।

८. **आँधी**, पृष्ठ ११२ । ९. **कामना**, पृष्ठ ४६; **अजातशत्रु**, पृष्ठ ९१ ।

१०. **सुप्राणधारी-गन हेतु प्रान है, समीर सौंदर्य भरी महान है ।**
—**चित्राधार**, पृष्ठ १४० ।

जाती है, चेतना नष्ट होने लगती हैं, आँखों से भी कुछ दृष्टि नहीं आता और प्राणी निर्जीव हो जाता है।[१] बाह्य रूप से यह कभी प्रभंजन बनकर धूल उड़ाता है[२], कभी झंझा बनकर भयंकर झटके मारता है और सभी को विक्षुब्ध बना देता है[३], कभी मलयानिल बनकर दौड़-दौड़ कर सुमन-सुरभि लेता हुआ अपनी सुगन्धि तथा अपने शीतल स्पर्श से सबको मदमत्त बनाया करता है[४] और कलिका को खिलाकर तथा उसका मकरंद हठात् लेकर इधर-उधर फैला देता है।[५]

तीसरे, अग्नि महाभूत की उत्पत्ति रूप तन्मात्रा से होने के कारण इसमें तेज या रूप का गुण विद्यमान रहता है। यह सूर्य के रूप में आकाश के अन्तर्गत[६], ज्वाला के रूप में पृथ्वी पर[७], बड़वानल के रूप में जल में[८] और जठराग्नि के रूप में प्राणियों के शरीर के अन्तर्गत विद्यमान रहता है।[९] सूर्य के रूप में यह आलोक प्रदान करके संसार के सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है[१०], ज्वाला के रूप में यह पृथ्वी पर अपनी अर्चियों से पदार्थों को जलाने, भोजन बनाने[११], होम या यज्ञ करने आदि के काम में आता है।[१२] बड़वानल के रूप में यह सिंधु के तल में विद्यमान रहकर समस्त पदार्थों को गला-सड़ा कर विनष्ट कर डालता है।[१३] जठराग्नि या पेट की ज्वाला के रूप में यह विविध प्रकार के भोजनों को पचाकर उन्हें रस रूप में परिणत करता है।[१४]

चौथे, जल तत्व का गुण रस है। इसे 'कीलाल' भी कहते हैं। यह प्राणियों का जीवन है और इसी से प्राणी को 'जीव' उपाधि प्राप्त हुई है। यह सिंधु में असीम तरंगों से युक्त विद्यमान रहता है।[१५] वारिदों से बरस कर यह पृथ्वी पर आता

---

१. **घनीभूत हो उठे पवन, फिर श्वासों की गति होती रुद्ध।**
—**कामायनी**, पृष्ठ १७।

२. **धूल उड़ाता प्रबल प्रभंजन उनको साथ उड़ाता है।**
—**कानन-कुसुम**, पृष्ठ २५।

३. **झंझा के चलते झटके। —कामायनी**, पृष्ठ १३।

४. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३४, १२४; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १९।

५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ २०। ६. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ २४।

७. **वही**, पृष्ठ १३। ८. **कामायनी**, पृष्ठ १६।

९. **वही**, पृष्ठ ३२।

१०. **कंकाल**, पृष्ठ ४।

११. **कामायनी**, पृष्ठ ३१, ३२; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १५।

१२. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १३९; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ६३; **चित्राधार**, पृष्ठ १३९।

१३. **आँसू**, पृष्ठ १०; **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ६८।

१४. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ३२, ३३।

१५. **चित्राधार**, पृष्ठ १३९।

है और स्रोतस्विनी एवं झरनों के रूप में यहाँ प्रवाहित रहता है।[१] इसके बिना सभी पदार्थ नीरस एवं शुष्क रहते है। वर्षा के रूप में आते ही यह शुष्क वन, भू, नदी आदि सभी को सरस, हरा-भरा एवं प्रसन्न बना देता है और सर्वत्र आनन्द के अंकुर उगा देता है।[२]

पाँचवें, पृथ्वी-तत्व का उदय गन्ध-तन्मात्रा मे होने के कारण इसका गन्ध ही गुण है। पृथ्वी को इसी कारण गंधवती कहते हैं। यह सुरम्य शस्यावलि से परिपूर्ण होकर अपने अन्न से सम्पूर्ण जगत् का पालन करती है।[3] वर्षाकाल में यह पुलकित होकर अत्यन्त आनन्दित रूप धारण कर लेती है[४], क्योंकि वर्षा से पूर्व यह धरित्री ग्रीष्मकाल में खूब जलती रहती है[५]; किन्तु हरी-भरी होकर यह सुजला, सुफला, शस्य-श्यामला उर्वरा भूमि अत्यन्त सुखद हो जाती है।[६] विविध प्रकार के रत्नों एवं मणि-माणिक्यों को अपने गर्भ में धारण करने के कारण यह 'वसुन्धरा' भी कहलाती है और इसे बड़ा उदार एवं सहनशील माना गया है।[७]

अपरा तथा परा प्रकृति

गीता में प्रकृति के दो रूप स्वीकार किये गये हैं—अपरा और परा। इनमें से अपरा को अष्टधा स्वीकार किया गया है। उसके आठ रूप इस प्रकार हैं—पृथ्वी-तन्मात्रा, जल-तन्मात्रा, अग्नि-तन्मात्रा, वायु-तन्मात्रा, आकाश-तन्मात्रा, मन का कारणभूत अहंकार, अहंकार का कारणभूत महत्तत्व और अविद्यायुक्त अव्यक्त।[८] यह सारा विश्व-प्रपंच इसी प्रकृति का कार्य है। यह प्रकृति जड़, अनृत, दुःखात्मक एवं संसार-बंधन-रूपा होने के कारण ही अपरा अथवा निकृष्ट कहलाती है।[९] दूसरी, परा प्रकृति से तात्पर्य क्षेत्रज्ञ जीव से है। वह शुद्ध है, अपरा प्रकृति का उपजीव्य है, सत्ता स्फूर्तिदायक है, जगत् का धारक, पोषक, रक्षक आदि है। इसी से यह परा अथवा उत्कृष्ट प्रकृति कहलाता है।[१०] प्रसाद ने भी गीता की ही भाँति प्रकृति के उक्त दोनों रूपों को स्वीकार किया है। प्रसाद अपरा प्रकृति को जड़ और सबसे अनमिल रहने वाली मानते हैं[११], जबकि परा प्रकृति को उस ब्रह्म से अभिन्न[१२] उस परम शिव को शक्ति के

---

१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ५३; **तितली**, पृष्ठ ४८।
२. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ २५, २७।   ३. **चित्राधार**, पृष्ठ १३६।
४. **चित्राधार**, पृष्ठ १५०।   ५. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ २६।
६. **राज्यश्री**, पृष्ठ १५।   ७. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ २३।
८. **गीता ७।४ तथा इस पर शंकरभाष्य।**
९. **वही ७।५**   १०. **वही ७।५**
११. **निस्तब्धता संसार की उस पूर्ण से ही मिल रही**
पर जड़ प्रकृति सब जीव में सब ओर ही अनमिल रही।
—**कानन-कुसुम**, पृष्ठ ५३।
१२. **परा प्रकृति से परे नहीं जो हिला मिला है।** —**कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।

रूप में स्वीकार करते हैं।[1] इस तरह सम्पूर्ण जड़ जगत् तथा चेतन जीव इस अपरा और परा प्रकृति के अन्तर्गत आ जाते हैं, किन्तु इन सबका विकास उसी एक चिति या परम शिव से माना गया है।

प्रलय

जिस प्रकार चिति स्वतंत्र रूप से समस्त जगत् के रूप में प्रस्फुटित होती है और उस महाचिति से ही शिव से लेकर धरणि पर्यन्त छत्तीस तत्वों का विकास होता है, उसी प्रकार वह चिति अपनी शक्ति द्वारा जिस विश्व का विकास करती है, उसमें से धरणी से लेकर सदाशिव तक समस्त विश्व को आत्मसात् भी कर लेती है अर्थात् अपने रूप में ही समस्त विश्व को विलीन कर लेती है।[2] वह चिति कालाग्नि के समान है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व विलीन हो जाता है, सम्पूर्ण तत्व जल जाते हैं और उसी के शरीर में जा मिलते हैं।[3] इस तरह वह चिति अपनी शक्ति द्वारा जिस विश्व का विकास करती है, उसका संधान करने पर अथवा यथोचित क्रम से आत्मसात् करने पर ही विश्व का संहार होता है और यही विश्व-संहार 'प्रलय' कहलाता है।[4] प्रसाद का भी यही मत है कि वह चिति जहाँ सृजन का कार्य करती है, वहाँ वह ही संहार या प्रलय का कार्य भी करती है।[5] इस प्रलय-कार्य को करने के कारण ही उस शक्ति को रुद्र और प्रलयंकर भी कहा गया है, जो अपने भयंकर उस लौह वाण से विनाश करते हैं, जिसकी पूँछ में अति प्रलयंकर ज्वाला प्रज्वलित रहती है।[6] जब वे प्रलय करने लगते हैं तब असंख्य गोल-गोल ब्रह्मांड बिखर जाते हैं, युग समाप्त हो जाते हैं[7] और अनंत चेतन परमाणु बिखर कर उसी में विलीन हो जाते हैं।[8] इतना ही नहीं, उस चिति के तीव्र प्रकाश में सम्पूर्ण शाप एवं पाप विनष्ट हो जाते हैं। यह प्रकृति भी उस कान्ति-सिन्धु में घुलकर मिल जाती है और

---

१. परा शक्ति वह प्रकृति। —चित्राधार, पृष्ठ ७२।

२ क्षित्यादि-सदाशिवान्तं 'विश्वम् आत्मसात् करोति'—स्वस्वरूपाभेदेन निर्भासयति। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ ३५।

३. यत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्वसंचयाः।
तां चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमत्विषम्॥
—शिवसूत्र-विमर्शिनी, पृष्ठ २२।

४. शक्तिचक्रसंधाने विश्वसंहारः। —शिवसूत्र-विमर्शिनी १।६

५. संहार सृजन से युगल पाद। —कामायनी, पृष्ठ २५३।

६. धूमकेतु सा चला रुद्र नाराच भयंकर। —कामायनी, पृष्ठ २०२।

७. बिखरे असंख्य ब्रह्मांडगोल, युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल।
—कामायनी, पृष्ठ २५३।

८, चेतन परमाणु अनंत बिखर, बनते विलीन होते क्षण भर।
—कामायनी, पृष्ठ २५३।

उस चिति के कमनीय रूप को धारण कर लेती है तथा समस्त भीषणतर पदार्थ भी उस चिति में मिलकर सुन्दर हो जाते है। उस समय प्रलय होते ही समस्त विश्व के पदार्थ उस प्रकाशपुंज चिति में ही विलीन हो जाते हैं और हिम जैसे धवल हास से उल्लसित वह एकमात्र महाचिति ही हीरक गिरि पर विद्युत्-विलास के समान अपने अखण्ड प्रकाश रूप में शेष रहती है।[1] इस प्रकार जब चेतन-अचेतन समस्त सृष्टि अभेद रूप मे उस अखंड चितिरूप सागर में विलीन हो जाती है, तब सबके घुलमिल जाने पर वह एक रसमय चरम भाव रूप महाचिति ही शेष रह जाती है[2], यही प्रलय है, यही महापरिवर्तन है।[3]

शास्त्रों में चार प्रकार की प्रलय मानी गई हैं—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक तथा आत्यंतिक। नित्य-प्रति प्राणियों एवं पदार्थों के विनाश को नित्य-प्रलय कहते हैं।[4] एक कल्प के अन्त में होने वाली प्रलय नैमित्तिक, दो परार्द्ध में होने वाली प्रलय 'प्राकृतिक' तथा सम्पूर्ण सृष्टि के विलय को 'आत्यंतिक' प्रलय कहते हैं।[5] इनमें से स्थान-स्थान पर जीवों के मरने एवं पदार्थों के नष्ट होने का जो वर्णन मिलता है, वही नित्य-प्रलय है।[6] कामायनी के आरम्भ में 'चिन्ता' सर्ग के अन्तर्गत देव-सृष्टि के जल-निमग्न होने का वर्णन करते हुए प्रसाद ने जिस भयंकर प्रलय का वर्णन किया है वह 'नैमत्तिक प्रलय' है।[7] इनके अतिरिक्त 'प्राकृतिक' प्रलय में स्थूल पृथ्वी से लेकर महत्तत्व पर्यन्त सम्पूर्ण विकारों का लय हो जाता है। यहाँ महत्तत्व, अहंकार तथा पंचतन्मात्रायें अपनी मूलप्रकृति में लीन हो जाती हैं और प्रकृति और पुरुष ईश्वर में लीन हो जाते हैं।[8] प्रसाद ने इस प्राकृतिक प्रलय की ओर संकेत कामायनी के रहस्य सर्ग में किया है, जहाँ श्रद्धा की स्थिति से त्रिपुर भस्म होकर उस चिति-शक्ति की प्रलय-पावक-तरंगों में विलीन हो जाता है। सारा विश्व-रंध्र ज्वाला से भर उठता है। स्वप्न, जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्थायें भस्म हो जाती है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया भी मिलकर लय हो जाती हैं और श्रद्धायुत मनु दिव्य अनाहतनाद में निमग्न हो जाते हैं।[9] यहाँ तक जिन तीनों प्रलयों का उल्लेख किया गया है, उनमें से प्रथम नित्य' प्रलय में न तो कर्म का ही उपरम होता है और न अज्ञान ही नष्ट होता है। नैमित्तिक और प्राकृतिक प्रलय में कर्म का तो उपरम हो जाता है, किन्तु अज्ञान

१. **कामायनी**, पृष्ठ २५४। २. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।
३. **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ २६।
४. **श्रीमद्भागवतपुराण** १२।४।३५; **अग्निपुराण** ३६८।१-२
५. **ब्रह्मपुराण** २३१।१; **विष्णुपुराण** ६।३।१-२
६. **कामायनी**, पृष्ठ २०१; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १५, ८६; **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ १०२, १०३।
७. **कामायनी**, पृष्ठ १३ से १५ तक।
८. **विष्णुपुराण** ६।४।१३; **श्रीमद्भागवतपुराण** १२।४।५, २२
९. **कामायनी**, पृष्ठ २७३।

बराबर बना रहता है; किन्तु चौथी आत्यन्तिक प्रलय में न कर्म ही शेष रहता है और न अज्ञान, अपितु दोनों ही लय होकर शुद्ध चेतन शेष रह जाता है। इसलिए प्रसाद ने जहाँ यह कहा है कि समस्त पाप-पुण्य जलकर निर्मल एवं पावन बन जाते हैं, अज्ञान का लेशमात्र भी नहीं रहता और समरस अखंड आनन्द-वेश चिति ही शेष रहती है, वही आत्यन्तिक प्रलय है।[१] इस प्रकार प्रसाद का प्रलय से तात्पर्य विनाश नहीं है, अपितु स्वरूप-प्राप्ति या स्वरूप में विलय हो जाना है, क्योंकि प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है—"यदि तुम कहो कि इनका तो नाश होता है और चेतन की सदैव स्फूर्ति रहती है, तो यह भी भ्रम है। सत्ता कभी लुप्त भले ही हो जाय, किन्तु उसका नाश नहीं होता।"[२]

इस तरह प्रसाद ने स्वीकार किया है कि जैसे एक महाचिति से क्रमशः समस्त तत्वों का विकास होता है, वैसे ही धरणि से लेकर शिव तक सभी तत्व उसी एक चिति में विलीन हो जाते हैं। इसका क्रम यही है कि पहले पंचमहाभूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा पंच कर्मेन्द्रियों—उपस्थ, पायु, पाद, हस्त और वाक् का क्रमशः पाँच तन्मात्राओं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द में विलय होता है। पुनः पाँच तन्मात्राओं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों—घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय और मन, अहंकार तथा बुद्धि का अपने मूल तत्व प्रकृति में विलय होता है। पुनः प्रकृति-तत्व अपने सत्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों तथा पुरुष-तत्व अपने कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक पाँच कंचुकों के सहित माया-तत्व में लीन हो जाते हैं, क्योंकि माया ही प्रकृति और पुरुष को जन्म देती है। तदुपरान्त माया का राज्य समाप्त हो जाता है और माया-तत्व शुद्ध विद्या में, शुद्ध विद्या ईश्वर-तत्व में, ईश्वर-तत्व सदाशिव-तत्व में, सदाशिव-तत्व शक्ति-तत्व में और शक्ति-तत्व अन्त में शिव-तत्व में विलीन हो जाता है।[3] प्रसाद ने इसी विलय को दिखाने हुए 'कामायनी' में पहले मनु के जीवन में धरणि से लेकर माया-तत्व तक के विलय हो जाने का वर्णन किया है, जिससे सद्विद्या के क्षेत्र में आने से पूर्व तक मनु की स्वप्न, सुषुप्ति, जागरण आदि अवस्थायें भस्म हो जाती हैं; इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिलकर विलय हो जाते हैं और मनु दिव्य अनाहत नाद में तन्मय दिखाई देते हैं। यहाँ आते-आते साधक मनु का धरणि से लेकर माया तक का समस्त-विश्व चिति की धधकती ज्ञानाग्नि में भस्म होकर विलय हो जाता है।[४]

इसके अनन्तर माया के विकराल बंधन से छूटकर साधक मनु सद्विद्या के क्षेत्र में पहुँचते हैं, जहाँ उनके 'अहम्' और 'इदम्' दोनों में एकता स्थापित हो जाती है, दोनों अलग-अलग नहीं रहते और मनु कह उठते है कि यहाँ हम में से कोई

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
२. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२-१३।
३. **काश्मीर शैविज्म**, पृष्ठ १४१-४३।
४. **कामायनी**, पृष्ठ २७३।

पराया नहीं है, कोई अन्य नहीं है, अपितु हम सब एक कुटुम्बी है और तुम सब मेरे अवयव हो, जिनमें कोई कमी नहीं है।[1] इस तरह जीव शुद्ध-विद्या के क्षेत्र में पहुँचते ही 'अहम्' और 'इदम्' में एकरूपता स्थापित कर लेता है।

तदन्तर शुद्ध-विद्या का विलय ईश्वर-तत्व में होता है। यहाँ ईश्वर-तत्व के क्षेत्र में आते ही जीव में 'अहम्' अंश गौण हो जाता है और उसमें 'इदम्' अंश का प्राधान्य हो जाता है और वह यह अनुभव करने लगता है कि 'इदम्' अर्थात् 'जगत्' मुझसे पृथक् नहीं है, अपितु मेरा अथवा चिति का ही रूप है। 'कामायनी' में साधक मनु भी जैसे ही सद्विद्या के क्षेत्र से आगे बढ़कर ईश्वर के क्षेत्र में पहुचते हैं, वैसे ही कहने लगते है कि अपने दुःख-सुख से पुलकित यह चराचर-सहित मूर्त्त विश्व चिति का मंगलमय विराट् शरीर है और यह सत्य, सतत, चिर सुन्दर है। यहाँ सबकी सेवा पराई नहीं है, वह अपनी ही सुख-संसृति है और यहाँ का कण-कण एवं अणु-अणु अपना ही है।[2] इस तरह यहाँ 'इदम्' का प्राधान्य हो गया है और शुद्ध-विद्या का ईश्वर-तत्व में विलय हो गया है।

इसके पश्चात् ईश्वर-तत्व का विलय सदाशिव-तत्व में होता है। यहाँ आते ही साधक को 'मैं हूँ' की प्रतीति होने लगती है। उसके हृदय से 'इदम्' या 'जगत्' का भाव पूर्णतया निकल जाता है और सर्वत्र अपनी चेतनता को व्याप्त देखने लगता है। 'कामायनी' में साधक मनु भी जैसे ही ईश्वर-तत्व से आगे बढ़कर सदाशिव-तत्व के क्षेत्र में पहुँचते है, वैसे ही उनका भी यही विचार बन जाता है और वे यह अनुभव करने लगते हैं कि 'मैं की मेरी चेतनता सबको ही स्पर्श किये सी'[3] अर्थात् 'मैं' के रूप में मेरी चेतनता ही सम्पूर्ण 'इदम्' या जगत् का स्पर्श किये हुए है।

तत्पश्चात् सदाशिव-तत्व का विलय शक्ति-तत्व में होता है। जैसे ही साधक सदाशिव-तत्व से शक्ति-तत्व के क्षेत्र में पहुंचता है, वैसे ही उसे उस अनन्त, पूर्ण एवं अखंड शक्ति के अतिरिक्त फिर अन्यत्र और कुछ नहीं दिखाई देता। वह शक्ति ही सर्वत्र व्याप्त होकर जगत् का उन्मेष एवं निमेष करती हुई दिखाई देती है। 'कामायनी' में साधक मनु भी सदाशिव-तत्व के शक्ति-तत्व में विलय होते ही आद्या-शक्तिरूपा कामायनी (श्रद्धा) को पुलकित विश्व-चेतना के रूप में देखते हैं, उसे वे पूर्ण काम की प्रतिमा मानते है और उसकी तुलना उस गम्भीर महाह्रद से करते हैं, जो निर्मल जल से परिपूर्ण हो। उसी आद्या-शक्ति को वे उस मुरली के तुल्य बताते हैं, जिसकी मधुर संगीतात्मक ध्वनि से यह शून्य भर जाता है। अतः वह जैसे ही विहँसती है, सारा अग-जग मुखरित हो उठता है, अर्थात् उसी आद्या-शक्ति से सारा चराचर जगत् रमणीय रूप ग्रहण करता है, गतिमय होता है और वही यहाँ सर्वत्र व्याप्त है।[4]

---

१. कामायनी, पृष्ठ २८७।
२. कामायनी, पृष्ठ २८८-२८९।
३. वही, पृष्ठ २८९।
४. वही, पृष्ठ २९०।

अन्त में शक्ति-तत्व भी परम शिव-तत्व में विलीन हो जाता है। इसके विलीन होते ही जीव की दृष्टि में जड़ और चेतन में कोई भेद नहीं रहता, उसे सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दृष्टिगोचर होती है और सर्वत्र अखंड आनन्द के दर्शन होते हैं। 'कामायनी' में साधक मनु भी शक्ति-तत्व के शिव-तत्व में विलीन होते ही समरसता को अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें जड़ या चेतन सभी समरस, सुन्दर एवं साकार जान पड़ते हैं, सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दिखाई देती है और वे घने एवं अखंड आनन्द का साक्षात्कार करते हैं।[1] इस तरह आत्यंतिक विलय में सम्पूर्ण तत्व अन्त में जाकर उसी परम शिव एवं चेतनता अथवा शुद्ध चेतन में विलीन हो जाते हैं।

जगत् की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित मत

(१) **आभासवाद**—तंत्रालोक में कहा गया है कि जिस तरह निर्मल दर्पण में भूमि, जल आदि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही पूर्ण संवित् अर्थात् पूर्णज्ञान रूप चिति में यह समस्त जगत् अभिन्न रूप से आभासित दिखाई देता है[2] अथवा इस प्रकार कह सकते हैं कि वह सकल सृष्टिकर्त्ता शिव अपने आत्मारूपी निर्मल दर्पण में सम्पूर्ण पदार्थों को आभासित करता है और वही कारण तथा कार्य है।[3] इस तरह यह जड़-चेतनमय विश्व उस चिति का आभास है[4], क्योंकि जिस तरह दर्पण में अपने मुख का प्रतिबिम्ब मुख से अतिरिक्त न होते हुए भी मुख से अतिरिक्त दिखाई देता है, उसी तरह यह विश्व उस चिति का प्रतिबिम्ब होने के कारण चिति से अतिरिक्त न होता हुआ भी उसने अतिरिक्त भासित होता है।[5] यह विश्व उस चिति का ही प्रतिबिम्ब है। इस कारण इस **आभासवाद** को **प्रतिबिम्बवाद** भी कहा

---

१. कामायनी, पृष्ठ २९४।

२. निर्मले मकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः।
अभिन्नास्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥
सदृशं भाति नयनदर्पणाम्बरवारिषु।
तथा हि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते॥ —तंत्रालोक ३।४-५

३. भावानाभासयन् कर्त्ता निर्मले स्वात्मदर्पणे।
कार्यकारणभावं च यच्चित्रं तं स्तुमः शिवम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २, पृष्ठ १३४।

४. तत्र आभासरूपा एव जडचेतनपदार्थाः। —ई० प्र० वि० ३।१।१

५. यथाहि दर्पणादौ परस्परव्यावृत्तात्मानः प्रतिबिम्बिता आकारविशेषाः
ततोऽनतिरिक्तत्वेऽपि अतिरिक्ता इव भासन्ते तद्वदिहापीति।
—तंत्रालोक, भाग २, पृष्ठ ४।

गया है ।[1] ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी में लिखा भी है कि वह चिति अपने ही दर्पण में समस्त पदार्थों को प्रतिबिम्बवत् आभासित करती है ।[2] शिवदृष्टिकार भी विश्व के सम्पूर्ण नाम-रूप-प्रकाशन को उस चिति अथवा ईश्वर का आभास मानते हैं ।[3] इसी आधार पर प्रसाद भी इस विश्व के सम्पूर्ण प्रपंच को उस चेतन का प्रतिबिम्ब या आभास मानते हैं[4], जो चिति का ही स्वरूप या उसी की छाया होने के कारण अत्यन्त कमनीय है और इसकी कमनीयता देखकर जीव उसमें भूल जाता है ।[5] इतना ही नहीं, विश्व-प्रपंच के रूप में उसी की सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ यहाँ रहस्य बनकर नाच रही है, जो अपनी कमनीयता में आँखों को उलझा लेती हैं और जीव उस वास्तविक स्वरूप या चिति को देख नहीं पाता, उसके इस आभास में ही उलझा रहता है, क्योंकि यह छाया या आभास उलझन है और इस सौन्दर्य के परदे के पीछे वह चिति या अक्षयनिधि छिपी बैठी है, जिसकी केवल प्रतिच्छाया यहाँ दिखाई दे रही है । यदि उस बिम्बरूप चिति या अक्षयनिधि का ज्ञान हो जाय, जिसका प्रति-बिम्ब अथवा जिसका आभास विश्व-प्रपंच के रूप में अथवा विश्व की सौन्दर्यमयी चंचल कृतियो के रूप में यहाँ दिखाई दे रहा है, तो प्राणों के धागो की उलझन दूर हो जाय, सारी समस्यायें हल हो जायें, क्योंकि वह चिति या अक्षयनिधि ही तो सुलझन का मान है, उसके जानते ही इस समस्त आभास या प्रतिबिम्ब का स्पष्ट पता चल सकता है और विश्व की वास्तविकता का ज्ञान हो सकता है ।[6] इस तरह वह शुद्ध चेतन ही अपनी लीला से जल, थल, नभ आदि का कुहक बन गया है, उसी ने इस प्रेम और आनंद से परिपूर्ण निराधार विश्व को आधार प्रदान किया है, वही हम सबके अन्दर अत्यन्त सुन्दर परछाईं या प्रतिबिम्ब के समान खेल रहा है ।[7] इस प्रकार यह विश्व उसी का आभास है, उसी का प्रतिबिम्ब है और उस बिम्ब या शुद्ध चेतन ने जिस रूप में अपने को प्रकट किया है, अपने को आभासित किया है, वही विश्व

---

१. अतएव चानेन विश्वस्य चित्प्रतिबिम्बत्वम्—इत्यनुजोद्देशोद्दिष्टस्य प्रतिबिम्ब-वादस्य अवकाशो दत्तः । —तंत्रालोक, भाग २, पृष्ठ ४ ।

२. 'चेतनो ही स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवत् आभासयति'—इति सिद्धान्तः ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ १५३ ।

३. तदेश्वरव्यवस्थानादवस्त्वाभासरूपतः । —शिवदृष्टि ३।७८

४. यह विश्व बना परछाईं । —लहर, पृष्ठ ४३ ।

५. देख रहा हूँ, यह कैसी कमनीयता छाया-सी कुसुमित कानन में छा रही,
अरे, तुम्हारा ही यह तो प्रतिबिम्ब है क्यों मुझको भुलवाते हो इनमें ? अजी ।
—कानन-कुसुम, पृष्ठ ८२ ।

६. कामायनी, पृष्ठ ६६ ।

७. हम सब में जो खेल कर रहा अति सुन्दर परछाईं सा ।
—जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ १०६ ।

का रूप बन गया है। इसी कारण प्रसाद जगत् या सृष्टि को उस शुद्ध चेतन का आभास मानते हैं, जो शांकर वेदान्त की भाँति विवर्त के रूप में मिथ्या नहीं, अपितु सत्य है।

(२) **अभेदवाद**—शैवागमों में लिखा हुआ है कि शिव से लेकर धरणि पर्यन्त छत्तीस तत्वों के रूप में जो कुछ नामरूपात्मक परिमित विश्व-प्रपंच दृष्टिगोचर होता है, उस अखिल विश्व के रूप में विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानंदमय, प्रकाशैकघन परम शिव ही अभेद रूप से प्रस्फुटित होते हैं। उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे ही नाना वैचित्र्य-सहस्र के रूप में यहाँ प्रकट होते हैं।[1] यद्यपि वह चिति एक है, तथापि प्रकाशरूपता और संकोचशीलता के कारण वह दो रूपों में; आणव, मायीय तथा कार्म मल के कारण तीन रूपों में; शून्य, प्राण, पुर्यण्टक और शरीर के स्वभाव से चार रूपों में तथा शिव से लेकर पृथिवी तक पैंतीस तत्वों के कारण पैंतीस रूपों में दृष्टिगोचर होती है।[2] अतएव वह एक है और अभेद रूप से यहाँ विद्यमान है। जिस तरह एक पूर्ण विकसित मयूर के समस्त अंग तथा नीलादि रंग का विकास उसके अण्डे से ही होता है और मयूर के अण्डे के रस में ही उसके अंग तथा रंग की स्थिति अभेदरूप से रहती है, उसी तरह यह समस्त विश्व-प्रपंच अथवा जगत् उस चिति के अन्तर्गत अभेदरूप से विद्यमान रहता है।[3] ऐसे ही जिस तरह बीज में ही अंकुर तथा अग्नि में ही धूप की सत्ता अभेदरूप से रहती है, उसी तरह स्वतन्त्र चिति में अभेदरूप से विश्व की सत्ता है।[4] जैसे हाथ, पैर, सिर पृथक्-पृथक् होते हुए भी अभिन्न रूप से एक ही अंग के अवयव होते हैं और समस्त अवयवों में अभिन्न रूप से एक अवयव-रूपता विद्यमान रहती है, वैसे ही जगत् के समस्त पदार्थों में अभिन्नरूप से शिव या चिति विद्यमान है।[5] इसी तरह उपनिषदों में भी भोक्ताजीव, भोग्य जगत् और प्रेरक

---

१. **श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण–विश्वात्मक–परमानन्दमय–प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि–धरण्यन्तम् अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति; न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्य-सहस्रैः स्फुरति। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, पृष्ठ ८।

२. **असौ प्रकाशरूपत्व-संकोचावभासवत्त्वाभ्यां "द्विरूपः"। आणव-मायीय-कार्म-मलावृतत्वात् "त्रिमयः"। शून्य-प्राण-पुर्यष्टक-शरीरस्वभावत्वात् "चतुरात्मा"। सप्तपंचकानि – शिवादिपृथिव्यन्तानि पंचत्रिंशतत्वानि "तत्स्वभावः"।**

—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ १५-१६।

३. **एवं देहे बाह्ये च सर्वत्र अस्य मयूराण्डरसवद् अविभक्तैव प्रतिपत्तिर्भवति।**

—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृष्ठ ३२।

४. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी**, भाग २, पृष्ठ १७२।

५. **क्व पाणिपादं क्व शिरो यथैक्यं भिन्नदेशगम्।
तद्वत्सर्वपदार्थानां जगत्यैक्ये स्थितः शिवः। —शिवदृष्टि** ४।६३–६४

ईश्वर तीनों को अभिन्न एवं अभेद रूप से पूर्ण ब्रह्म कहा गया है ।[१] इन्हीं आधारों पर प्रसाद ने भी यही कहा है कि वह शुद्ध चेतन परा प्रकृति अर्थात् जीव से परे नहीं, अपितु अभेद रूप से इसी में हिलमिल कर रह रहा है ।[२] वह शुद्ध चेतन हमारा है, हम उसी के है; अतएव हम भी वही शुद्ध चेतन हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, अपितु सब अभेदरूप से एक ही है ।[३] ऐसा कहकर प्रसाद ने जीव और शिव के अभेद का निरूपण किया है । इसके अतिरिक्त प्रसाद का मत है कि सर्वत्र एक शुद्ध चेतन है[४], जड के रूप में भी वही चेतन प्रकाशित होता है ।[५] इसीलिए जड़ और चेतन में भी कोई भेद नहीं है । जैसे हिम और जल कहने के लिए दो भिन्न रूप जान पड़ते हैं और जमने के कारण हिम को जड़ और प्रवहमान होने के कारण जल को चेतन कहा जाता है, किन्तु दोनों एक ही जल के रूप हैं, दोनों में अभेदरूप से एक जल नामक मूलतत्व विद्यमान है[६], वैसे ही जगत् और ब्रह्म भी एक ही है ।[७]

प्रसाद का स्पष्ट मत है कि जिस तरह श्रीकृष्ण ने गीता में 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्' कहकर यह घोषणा की है कि केवल कर्म के लिए अथवा चक्र-प्रवर्त्तन को नियमित रखने के लिए यह विभक्त होना है, वैसे हम सब एक हैं, अविभक्त है, अभेदरूप है उसी तरह जीव, जगत् और ब्रह्म भी अविभक्त है, एक हैं, अभेद एवं अभिन्न है ।[८] आपने समुद्र और लहर का उदाहरण देकर तथा ज्योत्स्ना-जलनिधि और तारागण का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि जैसे समुद्र में उठने वाली लहरें उससे भिन्न नहीं हैं, ज्योत्स्ना के जलनिधि में बुद्बुद् के समान चमकने वाले नक्षत्र उससे भिन्न नहीं है, उसी तरह समस्त सृष्टि एवं सम्पूर्ण प्राणी भी उस पूर्ण चेतन से भिन्न नहीं है, वे सब पूर्ण चेतन में अभेदरूप से इस तरह घुले-मिले हैं, जिस तरह सागर में विविध जल, सरिता आदि घुल-मिलकर एक हो जाते है अथवा जैसे विविध भाव मिलकर एक रस रूप में परिणत हो जाते हैं और अन्त में एक चरम भाव ही शेष रह जाता है उसी तरह समस्त सृष्टि, जीव आदि अभेदरूप से एक शुद्ध चेतन रूप ही है ।[९] यही प्रसाद का अभेदवाद है ।

---

१. **श्वे० उ० १।१२; मा० उ०, अद्वैतप्रकरण** १३; **छां० उ०** ६।२।१
२. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६४ । ३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३२ ।
४. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२ । ५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १३ ।
६. **एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन । —कामायनी**, पृष्ठ ३ ।
७ **विश्व स्वयं ही ईश्वर है । —प्रे० प०**, पृष्ठ २४।
८. **कंकाल**, पृष्ठ २८३ ।
९. **वैसे अभेद सागर में प्राणों का सृष्टि क्रम है ।**
सब में घुल मिल कर रसमय रहता यह भाव चरम है ।
—कामायनी, पृष्ठ २८८ ।

जगत् का सत्, चित्, आनन्द एवं सौन्दर्यपूर्ण रूप

अद्वैतवेदान्त में त्रिसत्तावाद के अन्तर्गत जगत् को तीन रूपों दे देखा गया है, क्योंकि वहाँ तीन दृष्टियाँ मानी गई हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। पारमार्थिक दृष्टि ज्ञानी की होती है और ज्ञानी की दृष्टि में जगत् असत् है; व्यावहारिक दृष्टि अज्ञानी की होती है और अज्ञानी की दृष्टि में जगत् सत्य है तथा प्रातिभासिक दृष्टि मुमुक्षु की होती है और वह जगत् को स्वप्न की तरह अथवा रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समान सत् और असत् से अनिवर्चनीय मानता है।[1] किन्तु प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में चिति या शुद्धचेतन को ही जगत् के रूप में स्फुरित होता हुआ माना गया है[2] तथा परम शिव को ही विश्वशरीर कहा गया है।[3] अतएव चिति रूप होने के कारण यह जगत् केवल व्यवहार में ही सत् नहीं है, अपितु चिति की ही भाँति सदैव सत् है।[4] परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि जब प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जगत् को प्रतिविम्ब अथवा आभास माना जाता है और प्रतिबिम्ब अथवा आभास कभी सत् हो नहीं सकता, फिर जगत् को सत्य कैसे माना जा सकता है ? इसका उत्तर देते हुए श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने तन्त्रालोक में लिखा है कि सारा जगत् प्रतिबिम्ब है और शिव बिम्ब हैं तथा संविति रूपी मुकुर में वह विश्वात्मा शिव अपने से अभिन्न विश्वरूप प्रतिबिम्ब को प्रकट करते हैं। जिस तरह मुख से पृथक् मुख का प्रतिबिम्ब नहीं होता, उसी प्रकार यह निखिल जगत् भी उस संवित्तात्मा परमेश्वर से पृथक् नहीं है।[5] बिम्ब का लक्षण है कि जो सजातीय और विजातीय से पृथक् स्वतन्त्र रूप-निष्ठ एवं सत् होकर मुख की भाँति दर्पण में भासमान रहता है और प्रतिबिम्ब का लक्षण है कि जो अन्य के द्वारा अर्थात् अपने अधिकरणभूत दर्पण आदि के द्वारा तादात्म्य को प्राप्त होकर उससे भिन्न न होकर परतन्त्र रूप से उसी आधार में भासित होता है—जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब। यह जगत् इसी तरह शिव का प्रतिबिम्ब है, जो शिव की ही भाँति सत्, चित् एवं आनन्द रूप में भासित

---

१. **पंचदशी**, पृष्ठ २०५-२०७।

२. **चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति।**
—**प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, पृष्ठ ३।

३. **यथा च एवं भगवान् विश्वशरीरः। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, पृष्ठ ६।

४. **व्यवहारस्य सत्यत्वे सर्वत्रासत्यतैव ते॥**
सत्यत्वे तस्य हानिः स्यात्पक्षेऽभ्युपगते किल।
तस्यापि किं शिवावाप्तिः कथमुक्ता ह्यसत्यता॥
व्यवहारतयैवास्ति सत्यत्वं न निबन्धनात्।
विकल्पादेः समुत्पत्तिः सत एव प्रजायते॥ —शिवदृष्टि ४।११,१२,१३

५. **तेन संवितिमुकुरे विश्वमात्मानमर्पयत्।**
नाथस्य वदतेऽमुष्य विमलां विश्वरूपताम्॥ —तन्त्रालोक ३।४४

होता है।[१] इसी तरह आचार्य सोमानन्द ने भी 'शिवदृष्टि' में समस्त विश्व को चिन्-रूप कहकर उसकी सत्यता सिद्ध की है।[२] 'विज्ञानभैरव' में इसी भांति जल और उसकी उर्मियाँ, अग्नि और उसकी अर्चियाँ, सूर्य और उसकी प्रभा का उदाहरण देकर शिव और विश्व के अभेद को सिद्ध किया है और विश्व को शिव का ही रूप बताया है।[3]

अतः शैव-दर्शन के आधार पर ही प्रसाद विश्व को ब्रह्म का रूप मानते हैं[४], चिति का विराट् शरीर कहते हैं[५] और लिखते हैं कि इस शुद्धचेतन ने ही विश्व के रूप में अपना विस्तार किया है।[६] अतएव विश्व और विश्वात्मा अभिन्न हैं। यहाँ सर्वत्र आनन्दघन शिव ही शिव हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जब यह विश्व शिव रूप है, तब यह शिव की ही तरह सत्, चित्, आनन्द से भी परिपूर्ण है।[७] प्रसाद ने बड़ी दृढ़ता के साथ लिखा है कि "यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा।"[८] इतना ही नहीं, प्रसाद ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहने वाले वेदान्तियों को फटकारते हुए यहाँ तक कहा है, "मैं कहता हूँ कि वह वेदान्त पिछले काल का साम्प्रदायिक वेदान्त है, जो तर्कों के आधार पर अन्य दार्शनिकों को परास्त करने के लिए बना। सच्चा वेदान्त व्यावहारिक है। वह जीवन-समुद्र आत्मा को उसकी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ समझता है।"[९] इससे स्पष्ट है कि प्रसाद आत्मा और विश्व को अभिन्न मानकर विश्व को सत्य मानते हैं और उसे सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् से ओतप्रोत स्वीकार करते हैं।[१०] यह माना कि विश्व विषमता की पीड़ा से व्यस्त है, इसी कारण सतत स्पंदित दिखाई देता है और यह विषमता ही दुःख और सुख की जननी है, परन्तु यह भूमा का मधुमय दान है।[११] इस विश्व में विविध प्रकार के परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं। अतएव यह परिवर्तनशील तो है, परन्तु

---

१. तन्त्रालोक ३।४४।५६

२. तस्मादवस्थितं सर्वं सत्वं चिद्व्यक्तियोगिता।
यत्र यत्र तत्र तत्र सत्यत्वं विश्वरूपता॥ —शिवदृष्टि ४।२६

३. जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभंग्यः प्रभारवेः।
ममैव भैवरस्यैता विश्वभंग्यो विभेदिता॥ —विज्ञान-रभैव ११०

४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३५।

५. चिति का विराट वपु मंगल। —कामायनी, पृष्ठ २८८।

६. जय हो जिसने अपना विश्व रूप विस्तार किया।
—जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ १०६।

७. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ५७-५६।

८ जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ १३।

६. तितली, पृष्ठ ६४।

१०. चित्राधार, पृष्ठ १३६।

११. कामायनी, पृष्ठ ५४।

परिवर्तनमय होकर भी यह चिर मंगल है[1] और चिति का स्वरूप होने के कारण नित्य है।[2] यह विश्व इन्द्रधनुष की तरह विविध रंग बदलता रहता है, मृत्यु-जन्म, उन्नति-अवनति में ढलता रहता है, फिर भी यह अनंत सौन्दर्यशाली है और अत्यन्त विशाल है।[3] इसी कारण प्रसाद ने 'चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्'[4] कहकर विश्व को सत् और चित् के साथ-साथ नित्य कहा है, 'यही जड़ का चेतन आनन्द'[5] अथवा 'उल्लासपूर्ण आनन्द सतत'[6] कहकर इस नित्य जगत् को आनन्दमय बताया है, 'परिवर्तनमय यह चिर मंगल'[7] कहकर इस परिवर्तनशील विश्व को मंगलमय कहा है और 'सत्य सतत चिर सुन्दर'[8] कहकर विश्व को सत्य के साथ-साथ उसी परम रमणीय सत्ता के चिर सौन्दर्य से ओतप्रोत बताया है।

---

१. परिवर्तनमय यह चिर मंगल। —**कामायनी**, पृष्ठ २३६।
२. चिति का स्वरूप यह नित्य जगत। —**कामायनी**, पृष्ठ २४२।
३. सुरधनु सा अपना रंग बदल, मृति, संसृति, नति उन्नति में ढल।
अपनी सुषमा में यह झलमल, इस पर खिलता झरता उडु दल,
अवकाश सरोवर का मराल, कितना सुन्दर कितना विशाल॥
—**कामायनी**, पृष्ठ २३५।
४. **कामायनी**, पृष्ठ २४२।
५. **कामायनी**, पृष्ठ ५६।
६. **वही**, पृष्ठ २४२।
७. **वही**, पृष्ठ २३६।
८. **वही**, पृष्ठ २८८।

पंचम प्रकरण

मोक्ष-साधन

- मोक्ष का स्वरूप
- बंध और बंध के कारण
- त्रिविध मल—आणव, मायीय और कार्म
- षट् कंचुक—माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति
- मोक्ष का उपाय—ज्ञान
- ज्ञान के तीन भेद—आणव, शाक्त और शाम्भव
- ज्ञान के आधार पर मुक्ति के तीन उपाय—
- आणव-उपाय
- शाक्त-उपाय
- शाम्भव-उपाय
- ज्ञान-प्राप्ति के साधन—
- श्रद्धा
- बुद्धि
- भक्ति
- अनासक्त कर्म
- योग
- भगवत्कृपा अथवा शक्तिपात
- मोक्ष-प्राप्ति में समरसता का महत्व
- विषमता
- विषमता के तीन रूप—वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक
- समरसता के तीन रूप—वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक
- आनन्दवाद

पंचम प्रकरण

मोक्ष-साधन

उस सौन्दर्य-सुधासागर के कण हैं हम तुम दोनों ही
मिलो उसी आनन्द-अम्बुनिधि में मन से प्रमुदित होकर
यह जो क्षणिक वियोग, वहाँ पर नहीं फटकने पावेगा
एक सिंधु में मिलकर अक्षय सम्मेलन होगा सुन्दर
फिर न बिछुड़ने का भय तुमको-मुझको होगा कहीं कभी।[1]

मोक्ष का स्वरूप

श्रुतियों के अनुसार आनन्द की सतत खोज करने वाले जीव का आनन्द-अम्बुनिधि-स्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाना ही मोक्ष है[2], क्योंकि जब तक जीव अपने को परमात्मा या ब्रह्म से भिन्न मानता है, तब तक वह ब्रह्म-चक्र में भ्रमण करता रहता है, किन्तु जब उससे अभिन्न हो जाता है तभी वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[3] इसी कारण जिस समय प्राणादि पंद्रह कलायें अपने-अपने आश्रयों में स्थित हो जाती हैं, चक्षु आदि इन्द्रियों के समस्त देवगण अपने-अपने आदित्यादि देवताओं में लीन हो जाते है तथा संचित आदि कर्म और विज्ञानमय आत्मा आदि सब के सब परम अव्यय देव में एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं, उसी को मोक्ष कहते हैं।[4] जिस तरह निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप का परित्याग करके समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी तरह नाम-रूप से रहित जीवों की ब्रह्मत्व-प्राप्ति मोक्ष कहलाती है।[5] इसके अतिरिक्त सांसारिक बन्धनों में जकड़े हुए जीव की स्वरूप-ज्ञान-प्राप्ति को भी मोक्ष कहते हैं, क्योंकि जैसे ही जीव को स्वभाव से बोध-स्वरूप और सुनिश्चित आत्मा के

---

१. **प्रेम-पथिक,** पृष्ठ २५-२६।
२. **श्वेताश्वतर उपनिषद्** १।६
३. **मुंडकोपनिषद्** ३।२।७
४. **मुंडकोपनिषद्** ३।२।७
५. **वही** ३।२।८

स्वरूप का ज्ञान होता है, वैसे ही वह ब्रह्मवेत्ता एवं ब्रह्मरूप होकर शोक एवं पाप को पार कर लेता है[१], उसके हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियों का छेदन हो जाता है[२], उसकी सम्पूर्ण कामनाएँ, जो कि उसके हृदय में आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती है और वह इसी शरीर से ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है।[३] पुराणों के मतानुसार जीव और ब्रह्म की एकता को मोक्ष कहते हैं।[४] अध्यात्म रामायण के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा की एकरूपता का ज्ञान होते ही कार्य सहित अविद्या की परमात्मा में लयावस्था को मोक्ष कहते हैं।[५] योगवाशिष्ठ के मतानुसार सम्पूर्ण आशाओं से विलग होने पर चित्त का क्षीण हो जाना तथा अज्ञानोत्पन्न अहंभाव रूप मृषा-ग्रन्थि का खुल जाना मोक्ष कहलाता है।[६] भागवतपुराण से अनुसार अज्ञान कल्पित कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनात्मभाव का परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाना मोक्ष है।[७] मीमांसक प्रपंच सम्बन्ध, त्रिविध बन्धन अथवा धर्माधर्म और देह के आत्यंतिक विनाश को मोक्ष कहते हैं।[८] नैयायिक शरीर, छः इन्द्रियाँ, छः विषय, छः ज्ञान और सुख तथा दुःख—इन इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष अथवा अपवर्ग कहते हैं।[९] योग-दर्शन के अनुसार बुद्धि का अत्यन्त निर्मल होकर अपने कारण में विलीन हो जाना तथा बुद्धि के साथ पुरुष के अज्ञानाकृत सम्बन्ध का और तज्जनित मल-विक्षेप-आवरण का अभाव होने से पुरुष का निर्मल होकर अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य या मोक्ष कहलाता है।[१०] सांख्य-दर्शन के मतानुसार धर्माधर्म के नष्ट होने तथा प्रकृति-जन्य गुणों से आत्यन्तिक वियुक्त होने पर पुरुष का अपने ज्योतिर्मय स्वरूप में केवलीभाव से अवस्थित हो जाने को मोक्ष कहते हैं।[११] इनके अतिरिक्त वैष्णवों में पर-प्रकृति के सायुज्यभाव को मोक्ष कहते हैं, ब्रह्मवादियों में आनन्दरूपता को मोक्ष कहा गया है, विज्ञानवादियों में विशुद्ध चित्तमात्र हो जाना ही मोक्ष कहलाता है, वैभाषिकों में दीपवत् संतति-क्षय को मोक्ष बताया गया है और शैवों में 'शिवरूपता' को मोक्ष कहा गया है[१२], क्योंकि वहाँ 'मैं ही निष्प्रपंच, निराभास, शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, सर्वव्यापक

---

१. **मुण्डकोपनिषद्** ३।२।६ २. **कठोपनिषद्** २।३।१५
३. **कठोपनिषद्** २।३।१४
४. **मा० पु० ३६।१, वायुपुराण** २।४२।६७
५. **अध्यात्म रामायण** ३।४।४२-४४
६. **योगवाशिष्ठ** ५।७३।३६, ६।२।२०।१७
७. **भागवतपुराण** २।१०।६
८. **भारतीय-दर्शन—ले० उमेश मिश्र**, पृष्ठ २५२-५३।
९. **तर्कभाषा**, पृष्ठ २३२। १०. **योगदर्शन सूत्र** ३।५५, ४।३४
११. **सांख्य-तत्व-कौमुदी-प्रभा**, पृष्ठ ६५-६८।
१२. **तन्त्रालोक** ४।२९-३०

परमेश्वर शिव हूं'—जीव की यह स्वरूप-ज्ञान की स्थिति ही मोक्ष कहलाती है।[1] अद्वैतवेदान्त में जीव की स्वरूप में स्थिति एवं बन्ध की निवृत्ति को मोक्ष माना गया है[2] तथा भक्ति-दर्शन में केवल निष्काम-भक्ति के द्वारा जीव के अन्तःकरण का आत्यंतिक नाश हो जाने पर ब्रह्मानंद की प्राप्ति को मोक्ष कहा गया है।[3] प्रसाद के मतानुसार अखण्ड एवं असीम आनंद की उपलब्धि ही मोक्ष है[4], क्योंकि जो जीव स्वच्छ होकर निष्काम भाव से आन्तरिक स्वर्ग में रमण करता है, विश्व को ईश्वर समझ कर विश्वात्मा के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है, विश्व-प्रेम में अपनी प्रकृति को विलीन कर देता है, सर्वत्र उस सुन्दरतम की सुन्दरता निहारता है, सम्पूर्ण पदार्थों को स्निग्ध-शान्त-गम्भीर महासौन्दर्य-सुधासागर के बिखरे हुए कण समझता है और अपनी सम्पूर्ण कामनाओं का उत्सर्ग करके उसी आनन्द-अम्बुनिधि में प्रमुदित मन होकर विलीन हो जाता है, वही अमरत्व प्राप्त करता है, अखण्ड शान्ति प्राप्त करता है और अखण्ड आनन्द प्राप्त करता है तथा जीव की यही अखंड आनन्दावस्था मोक्ष कहलाती है।[5]

साधारणतया मोक्ष या मुक्ति के दो भेद माने जाते हैं—जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति।[6] इनमें से तत्त्वज्ञान हो जाने पर जीवित अवस्था में ही ब्रह्मभाव की प्राप्ति, कामना-रहित होकर अनासक्त भाव से कर्म करते रहने की स्थिति, प्रारब्ध-कर्म के क्षय होने तक छाया के समान सदैव विद्यमान शरीर में अहंता और ममता का अभाव हो जाना ही जीवन्मुक्ति है।[7] काल-वशात् प्रारब्ध के क्षय हो जाने पर आत्मज्ञानी जीवात्मा के शरीर छोड़कर परमधाम को प्राप्त करके वास्तविक स्वरूप-सम्पन्न हो जाने तथा देह-नाश के उपरांत पुनर्जन्म के न होने को विदेह-मुक्ति कहा गया है।[8] यह विदेह-मुक्ति चार प्रकार की मानी गई है—सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार सालोक्य-मुक्ति नामभक्तों को, सारूप्य-मुक्ति सांख्ययोगी भक्तों को, सामीप्य-मुक्ति सेवाभिलाषी भक्तों को और सायुज्य-मुक्ति

---

१. विज्ञान-भैरव, १०९; तन्त्रालोक १०।२८६

२. पंचदशी १०।४

३. शांडिल्य भक्ति-सूत्र ३।२।४

४. इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत-भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।
—प्रेम-पथिक, पृष्ठ १६-१७।

५. प्रेम-पथिक, पृष्ठ २५-२६; कामायनी, पृष्ठ २८७-२८९।

६. योगवाशिष्ठ ५।४२।११

७. मुक्तिकोपनिषद् १।४२; योगवाशिष्ठ ५।४२।१२

८. योगवाशिष्ठ ५।४२।१३ मुक्तिकोपनिषद् १।४३;

अद्वैतवेदान्ती निर्गुणोपासकों को उपलब्ध होती है।[1] इसके अतिरिक्त शैवमतावलम्बी भी चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं, जिनके तीन नाम वे ही हैं किन्तु चौथा नाम कुछ भिन्न है। यथा, सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और कैवल्य। उनका मत है कि पशुमात्र को सालोक्य-मुक्ति प्राप्त होती है, दीक्षित को सामीप्य-मुक्ति मिलती है, शिवरूपता को प्राप्त करने वाले जीव को सायुज्य-मुक्ति मिलती है[2], किन्तु जिस ज्ञानी को परदेह के सम्बन्ध के समान स्वदेह सम्बन्ध बंधक नहीं, जो देह के रहने या न रहने पर भी शिव से अभिन्न विश्वाकार अथवा निराकार की स्थिति में रहता हुआ भी कुछ विशेष स्थिति अनुभव नहीं करता तथा जिसे देह के रहने पर भी भेद-संस्कार की शंका के लिए भी संभावना नहीं रहती, वह जीव देहपात के अनंतर कैवल्य-मुक्ति को प्राप्त करता है।[3]

प्रसाद ने मुक्ति या मोक्ष के ऐसे भेद-प्रभेद नहीं किये हैं। उनका तो स्पष्ट मत है कि जिस जीव को यह बोध हो जाता है कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनन्द है[4], जिसे सम्पूर्ण प्राणी अपने अवयव प्रतीत होते हैं, जिसे शापित तथा तापित प्राणियों से रहित सम्पूर्ण जीवन-वसुधा समतल एवं समरस प्रतीत होती है, जिसे समस्त प्राणियों का जीवन चेतन-समुद्र में उठने वाली लहरों के समान बिखरा हुआ प्रतीत होता है, जिसे सचराचर जगत् चिति का सत्य, सतत, चिर सुन्दर विराट् शरीर जान पड़ता है, जिसे जड़ या चेतन में समरसता के साथ सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दिखाई देती है और जिसे अपने वास्तविक रूप का ज्ञान हो जाता है, वही विश्वात्मा को अपने से अभिन्न मानता हुआ अखंड आनन्द को प्राप्त करता है।[5] अतएव प्रसाद की दृष्टि में तो अज्ञान एवं बंध की निवृत्ति के साथ-साथ स्वरूप-ज्ञान होने पर जीव की ब्रह्म या शिव से एकरूपता, विश्व से अभिन्नता तथा अखंड एवं असीम आनन्द की उपलब्धि का नाम मोक्ष है। इस स्थिति को 'शिवरूपता' कह सकते हैं और मुक्ति के विविध भेदों में से इसे कैवल्य-मुक्ति अथवा सारूप्य-मुक्ति कहा जा सकता है, क्योंकि प्रसाद के मतानुसार जीव अपने रूप को भूल जाने के कारण ही यहाँ संसार के बन्धनों में बँधता है तथा द्वयता या भेदभाव में लिप्त रहता है[6], किन्तु जैसे ही वह सम्पूर्ण भेदभाव को भूल कर जगत् के दुःख-सुख को दृश्य बनाता हुआ अपने वास्तविक रूप को जान लेता है वैसे ही वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[7] अतएव प्रसाद की दृष्टि में स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान एवं शिवरूपता की प्राप्ति के साथ-साथ अखंड आनन्द की उपलब्धि ही मोक्ष है।

बंध और बंध के कारण

प्रसाद की स्पष्ट धारणा है कि जीव अपने वास्तविक रूप को भूलने के कारण

---

१. **मुक्तिकोपनिषद्** १।१५-२५ २. **तन्त्रालोक** २८।२७३
३. **तन्त्रालोक** २८।३१७-३१९ ४. **एक घूँट**, पृष्ठ १५।
५. **कामायनी**, पृष्ठ २८६-२८९; **एक घूँट**, पृष्ठ ८।
६. **यह द्वयता ही विस्मृति है।** —**कामायनी**, पृष्ठ २८९।
७. **कामायनी**, पृष्ठ २८९।

अथवा अज्ञान से आवृत होने के कारण बन्धन में पड़ता है।[1] उसे माया अपने आवरण में आवृत करके विकृत कर देती है और वह जीव अनेक प्रकार के दोषों तथा मलों से कलुषित होकर अपनी विद्वत्ता अथवा तर्क के द्वारा जगत् को मिथ्या कहकर इससे भागने का भी प्रयत्न करता है, किन्तु वह जितना-जितना भागता है, उतना ही उतना और इस मायावी प्रपंच में लिप्त होता चला जाता है तथा इस जगत् के सहज उपलब्ध विषय-सुखों को लपककर पकड़ता जाता है।[2] इस अज्ञानावृत्त जीव की त्यागपूर्ण थोथी दार्शनिकता जब किसी ज्ञानाभास को स्वीकार कर लेती है, तब उसका धक्का सँभालना उसके वश का काम नहीं रहता।[3] आभूषणों से लदी हुई वैभवमूर्ति के सामने उसका कलुषित हृदय झुक जाता है और अपराध से लदी हुई उसकी आत्मा अपनी मुक्ति के लिए फिर कोई दूसरा उपाय नहीं देखती।[4] इससे स्पष्ट है कि प्रसाद के मतानुसार आत्म-विस्मृति अथवा स्वरूप-विस्मृति एवं उस विस्मृति का मूल कारण अज्ञान ही बंध है, क्योंकि इस अज्ञान के कारण ही जीव को स्वरूपविस्मृति होती है, वह आत्म-विस्मृत हो जाता है और भेद-भाव में पड़कर विषादनिद्रा में सोता रहता है।[5] अतः मुख्यतया अज्ञान ही बंध है, जो ज्ञान का विरोधी होकर जीवात्मा में विपरीत मति उत्पन्न कर देता है, जिससे वह वासना-तृप्ति को ही स्वर्ग समझने लगता है[6] और अपने वास्तविक रूप को भूलकर कृत्रिम रूप को दिखलाने में ही गौरव समझता है।[7]

प्रायः सभी दर्शन अज्ञान को जीव के बंधन का मूल कारण मानते हैं। शैवों के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में इस अज्ञान के दो भेद माने गये हैं—(१) पौरुष अज्ञान, तथा (२) बुद्धिगत अज्ञान।[8] इनमें से जो अज्ञान पूर्ण चिति-स्वरूप आत्मा की शिवता को आवृत करता है, उसे पौरुष अज्ञान कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है–(१) आणव, (२) मायीय और (३) कार्म। इन तीनों प्रकार के अज्ञानों को त्रिविध मल भी कहते हैं। इसी कारण त्रिविध मल को पौरुष अज्ञान कहा जाता है।[9] इसके अतिरिक्त जो अज्ञान बुद्धि को संकुचित करके अणु या सीमित आत्मा को संकुचित बना देता है तथा जिससे वह आत्मा किंचित् कर्त्तृत्व, किंचित् ज्ञातृत्व, किंचित् पूर्णत्व वाली बन जाती है, उसे बुद्धिगत अज्ञान कहते है। यह बुद्धिगत अज्ञान छः प्रकार का होता है—माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति। इन छः प्रकार के अज्ञानों को षट् कंचुक भी कहते हैं। इसी कारण षट् कंचुक को ही बुद्धिगत अज्ञान कहा जाता है।[10] इस प्रकार त्रिविध मलों को पौरुष अज्ञान तथा षट् कंचुकों को बुद्धिगत अज्ञान कहा जाता है।

१. **एक घूँट**, पृष्ठ ८।
२. **कंकाल**, पृष्ठ १८।
३. **कंकाल**, पृष्ठ १८।
४. **वही**, पृष्ठ ६३।
५. **इरावती**, पृष्ठ ५८।
६. **कामायनी**, पृष्ठ १६२।
७. **कामायनी**, पृष्ठ १६६।
८. **द्विविधं च अज्ञानं बुद्धिगतं पौरुषं च**। —तन्त्रसार, पृष्ठ २-३।
९. **तन्त्रालोक** १।३७
१०. **तंत्रालोक** १।३९-४०

त्रिविधमल—शुद्ध चेतन एवं पूर्ण चिति-स्वरूप जीवात्मा की शिवता अथवा ब्रह्मत्व को आवृत करने वाले तीन मल बड़े प्रबल माने गये है। इनमें से पहले आणव मल से तात्पर्य अणुओं के मल से है।[१] जब एक आत्मा अज्ञान के कारण अपने स्वतन्त्र एवं व्यापक स्वभाव को भूल जाती है, अपने को स्वयं अपूर्ण समझने लगती है और शरीरादि को ही अपना रूप मानने लगती है, तब आत्मा को इस तरह सीमित एवं संकुचित बनाने वाले मल को आणव मल कहते हैं।[२] इस मल के प्रभाव से आत्मा अनात्मा के अन्यथा अभिमान-सम्बन्धी स्वभाव के अपूर्ण ज्ञान से युक्त हो जाती है, उसमें अपने को विश्व से स्वतन्त्र समझने का मिथ्या ज्ञान उदय हो जाता है[3] और वह अपने को विश्वात्मा से भी भिन्न समझकर अपने स्वतन्त्र स्वरूप की कल्पना करने लगती है।[४] इस विपरीत ज्ञान के कारण वह इस विश्व को असत् मानकर अपने प्रत्येक क्षण को विलास-वासना अथवा सुख-साधन जुटाने में लगाये रखना अधिक अच्छा समझती है तथा वासना-तृप्ति में ही उसे आनन्द आता है।[५]

दूसरे, माया द्वारा उत्पन्न मल मायीय मल होता है। जो मल षट् कंचुकों के द्वारा व्याप्त होकर अपनी स्थिति से आत्म-स्वरूप को विलुप्त कर देता है और भूतों की देह में जिसकी स्थिति है, उसे मायीय मल कहते हैं।[६] इस मल के प्रभाव से आत्मा अपनी पूर्णता, स्वतन्त्रता, सर्वज्ञता, नित्यता आदि को भूल जाती है। उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि यह जीवात्मा आनंद-समुद्र में शान्त-द्वीप का अधिवासी है, चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र उसके दीप हैं, अनन्त आकाश उसका वितान है, शस्य-श्यामला-कोमला विश्वम्भरा उसकी शैया है, बौद्धिक विनोद उसका कर्म है और संतोष उसका धन है। वह सौहार्द्र के स्थान पर कुचक्र को और प्रेम के स्थान पर भय को महत्त्व देता हुआ किसी छाया-चित्र, किसी काल्पनिक महत्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसन्धान करता हुआ दौड़ता रहता है। उसकी शान्ति खो जाती है और स्वरूप विस्मृत हो जाता है।[७] उसकी समस्त असीम एवं अमोघ शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं और वे उसके

---

१. **तेषामणूनां स मलः। —तन्त्रालोक ९।१४७**

२. **गोपितस्वमहिम्नोऽस्य संमोहाद्विस्मृतात्मनः।**
यः संकोचः स एवास्य आणवो मल उच्यते॥
—**शिवसूत्रविमर्शिनी, पाद-टिप्पणी** ७०, पृष्ठ १५।

३. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १४३।

४. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ७०।

५. **कामायनी**, पृष्ठ १६२।

६. **ततः षट्कंचुक व्याप्तिविलोपितनिजस्थितेः।**
भूतदेहे स्थितिर्यासौ मायीयो मल उच्यते॥
—शिवसूत्रविमर्शिनी, **पाद-टिप्पणी** ७०, पृष्ठ १५।

७. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २१०-२११।

जीवन को बाधामय पथ पर ले जाती है।[1] इस प्रकार मायीय मल या बंध से आवद्ध जीवात्मा संकुचित दृष्टि वाला होकर सब कुछ पास होते हुए भी असंतुष्ट बना रहता है।[2]

तीसरे, कर्म के द्वारा उत्पन्न अज्ञान को कार्म मल कहा जाता है। इस मल की उत्पत्ति में अन्तःकरण, कर्मेन्द्रियाँ आदि के कार्य का अधिक हाथ रहता है।[3] यह कार्म मल ही संसार का कारण है और इसीलिए इसे संसार का अंकुर भी कहा जाता है।[4] यही कारण है कि जीव को सांसारिकता अथवा भौतिकता में लिप्त करने के लिए कार्म मल-रूप बंध सर्वाधिक कार्य किया करता है। इसी मल के कारण जीवात्मा तृष्णा-पाश में लिप्त होकर संसार को सुखद मानता है और फिर कभी इससे छुटकारा पाने का विचार नहीं करता।[5] इसी मल से लिप्त जीवात्मा को रूप की ज्वाला दग्ध कर देती है, कामना कलुषित बना देती है और सोने का रंग उसकी आँखों में कमल रोग उत्पन्न कर देता है, जिससे उसे सर्वत्र चम्पक वर्ण दिखाई देने लगता है।[6] कार्म मल से आवद्ध जीवात्मा नियति का दास बन जाता है और तब तक दास बना रहता है जब तक वह यह नहीं जानता कि कलंक को धोने के लिए सुकर्म करने पड़ेंगे।[7] इन कार्म-मलों की पंक में लिप्त जीवात्मा को कभी छुट्टी नहीं मिलती, क्योंकि कुकर्म उसे जकड़ कर अपने नागपाश में बाँध लेते हैं।[8] ऐसे जीव अँधेरे में दौड़ लगाते है और इतनी छीना-झपटी, इतने स्वार्थ-साधन में लगे रहते हैं कि उनकी सहज प्राप्य अन्तरात्मा की सुख-शान्ति भी समाप्त हो जाती है।[9] उनके नैन-मृग मोहवश चपल हो उठते हैं, काम की विपंची बजने लगती है और रूप-सुधा के दो दृग-प्याले उनकी मति को बेकाम बना देते है।[10] वे मायामयी नारी के चरणों में अपना तप तक न्यौछावर कर देते हैं[11], इन्द्रियों की तृप्ति में ही अपनी सफलता समझा करते है और इसी को सुख मानने लगते है।[12] ऐसे जीव सतत संघर्ष, विफलता एवं कोलाहल में फँसे रहने पर भी भविष्य से अनजान होकर अन्धकार में दौड़ लगाते रहते हैं और मतवाले होकर इस कर्म-चक्र में पिसते रहते हैं।[13] इस प्रकार

---

१. कामायनी, पृष्ठ १६५। २. कामायनी, पृष्ठ १६४।

३. यदन्तः करणाधीनारब्धिकर्मेन्द्रियादिभिः।
बहिर्व्याप्रियते कार्मं मलमेतस्य तन्मतम्॥
—शिवसूत्रविमर्शिनी, पाद-टिप्पणी ७०, पृष्ठ १५।

४. संसारकारणं कर्म संसारांकुर उच्यते। —तंत्रालोक ९।८८

५. विशाख, पृष्ठ १७। ६. विशाख, पृष्ठ ९१।

७. जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ ५६। ८. स्कंदगुप्त, पृष्ठ ८८।

९. अजातशत्रु, पृष्ठ ११३। १०. चन्द्रगुप्त, पृष्ठ २०७।

११. कंकाल, पृष्ठ २०। १२. कामायनी, पृष्ठ १३०।

१३. कामायनी, पृष्ठ २७१।

यह कार्म मल या कर्म सम्बन्धी बन्धन जीवात्मा को आवागमन के चक्र में डालकर सदैव सांसारिकता में लिप्त किये रहता है, जिससे जीवात्मा मोक्ष के लिए प्रयत्न नहीं कर पाता और प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगता हुआ तथा आगामी भोगों के लिये कर्म करता हुआ सदैव कर्म-चक्र में फँसा रहता है।

षट् कंचुक—षट् कंचुकों का तात्पर्य बुद्धिगत अज्ञान से है। यह अज्ञान स्वतन्त्र, शुद्ध, चेतन, विराट् एवं सर्वव्यापक आत्मा को अणु, पुद्गल एवं सीमित आत्मा के रूप में परिणत करके उसे संकुचित बना देता है, जिससे आवृत्त होकर आत्मा यह समझने लगती है कि मैं किंचित् कार्य ही कर सकती हूँ, मुझ में किंचित् पूर्णता है, मुझ में किंचित् ज्ञान है आदि।[1] इन षट् कंचुकों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति। इनमें से 'माया' नामक प्रथम कंचुक को मलयुक्त सृष्टि का प्रथम उन्मेष कहा गया है, क्योंकि यह माया ही विराट् सत्ता और जीव के अभेद में भेद उत्पन्न करती है, जिससे जीवात्मा स्वयं को सबसे भिन्न मानने लगता है।[2] यह माया स्वतन्त्र एवं स्वेच्छाचारिणी नहीं है, अपितु शिव की इच्छा इसका नियन्त्रण करती है और यह महेश्वर की पाँच शक्तियाँ—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया को तथा आत्मा को आच्छादित कर देती है। यही जगत् का कारणभूत है और इसी से कला आदि अन्य कंचुकों का जन्म होता है, जो सर्वशक्ति-सम्पन्न आत्मा को अपने आवरण से आवृत करके अल्पशक्ति-सम्पन्न बना देते हैं।[3]

दूसरे, 'कला' नामक कंचुक का प्रादुर्भाव माया से होता है। यह कंचुक आत्मा को अपने आवरण से आवृत करके उसे किंचित् कर्तृत्व वाला बना देता है, जिससे जीवात्मा अपनी अमोघ शक्ति को भूल कर यह समझने लगता है कि मेरी शक्ति सीमित है और मैं अमुक-अमुक कार्य करने में असमर्थ हूँ।[4] तीसरे, 'विद्या' नामक कंचुक का प्रादुर्भाव कला से होता है।[5] यह कंचुक जीवात्मा को अपने आवरण से आवृत करके किंचित् ज्ञान वाला बना देता है, जिससे जीवात्मा सर्वज्ञ होते हुए भी अपने को अल्पज्ञ समझने लगता है।[6] चौथे, 'राग' नामक कंचुक का प्रादुर्भाव भी कला से ही होता है। यह कंचुक आत्मा को अपने आवरण से आवृत करके उसे किंचित् पूर्णत्व वाला बना देता है, जिससे जीवात्मा सर्वथा पूर्ण होते हुए भी अपने को किंचित् पूर्ण अथवा अल्प मानने लगता है और नाना प्रकार के अभावों

---

१. तन्त्रालोक १।३९-४०   २. तन्त्रालोक ९।१४९-१५०

३. वही ९।१६४-१६५

४. मायातत्वात् कला जाता किंचित्कर्तृत्वलक्षणा॥ —तन्त्रालोक ९।१७४

५. मायापेक्षया कला कार्यं विद्यापेक्षया च कारणमिति।
—तन्त्रालोक, भाग ९, पृष्ठ १२९।

६. तन्त्रालोक ९।१९८-१९९

का अनुभव करने लगता है।[१] पाँचवें, 'काल' नामक कंचुक का प्रादुर्भाव भी कला से ही माना जाता है। यह कंचुक आत्मा को अपने आवरण से आवृत करके उसे किंचित् नित्यत्व वाला बना देता है, जिससे जीवात्मा नित्य एवं शाश्वत होते हुए भी अपने को किंचित् समय तक रहने वाला अथवा अस्थायी एवं परिमित समझने लगता है।[२] छठे, 'नियति' नामक कंचुक का प्रादुर्भाव भी कला से माना गया है। यह कंचुक आत्मा को अपने आवरण से आवृत करके उसे किंचित् व्यापकत्व-शक्ति वाला बना देता है, जिससे जीवात्मा अपनी सर्वव्यापकता को भूलकर अपने को एकदेशीय या सीमित प्रदेश में रहने वाला एवं अव्यापक समझने लगता है। इस प्रकार षट् कंचुकों से आवृत जीवात्मा अपनी अमोघ शक्ति से विस्मृत होकर अपने को परिमित क्रिया-शक्ति वाला, सीमित ज्ञान वाला, अपूर्ण, अनित्य एवं अव्यापक समझने लगता है, उसकी संकुचित दृष्टि उसे अभावों से ग्रसित करके सदैव असन्तुष्ट बनाये रखती है, वह सदैव नई-नई आपदाओं का शिकार बना रहता है, उसे सदैव बाधामय पथ पर चलना पड़ता है, उसमें भेद-भाव उत्पन्न हो जाते है, वह ईश्वर के बारे में भी नई-नई कल्पनायें करने लगता है, उसमें अहंकार की वृद्धि हो जाती है, अपने थोड़े से ज्ञान को ही वह पूर्ण ज्ञान मानने लगता है, वह छाया के समान अस्थायी एवं नश्वर रचनाओं में ही लीन रहने लगता है, उसके हृदय से जीवन और जगत् की नित्यता एवं अखंडता सम्बन्धी भावना नष्ट हो जाती है और वह विकास की ओर अग्रसर न होकर सदैव ह्रास की ओर ही उन्मुख रहा आता है।[३]

मोक्ष का उपाय

संसार के बंधनों से बेचैन जीव के मन या चित्त में भव-बंधन से मुक्त होने के लिए जो दीप्ति या द्रुति होती है और उसके अनुसार वह जो कुछ क्रियायें करता है, उन्हें मोक्ष के उपाय, साधन अथवा मार्ग कहा जाता है। शैव-दार्शनिकों ने इसे केवल 'उपाय' नाम से ही अभिहित किया है।[४] प्रसाद भी इसी आधार पर मुक्ति के साधन या मार्ग को 'उपाय' कहना ही अधिक समीचीन समझते हैं।[५] मोक्ष के इन उपायों पर विचार करने पर पता चलता है कि श्रुतियों में बहुधा ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई है[६] और अद्वैत वेदान्त में भी केवल ब्रह्मतत्व के ज्ञान

---

१. तन्त्रालोक ९।२००
२. वही ९।२०१-२०२
३. कामायनी, पृष्ठ १६५।
४. **तच्च साक्षादुपायेन तदुपायादिनापि च। —तंत्रालोक १।१४२**
५. **नियति खेल देखूँ न, सुनो अब**
इसका अन्य 'उपाय' नहीं है। —कामायनी, पृष्ठ २६०।
६. श्वे० उ० ६।६, ६।१५; मां० उप०, अलातशान्ति प्रकरण ९२; मुं० उ० २।१।१०; कठोपनिषद् १।१५ आदि।

द्वारा मुक्ति का प्राप्त होना सिद्ध किया गया है।[१] श्वेताश्वतर उपनिषद् में भक्ति के द्वारा भी मोक्ष-प्राप्ति सिद्ध की है।[२] पुराणों मे भी भक्ति को मुक्ति-प्राप्ति का उपाय घोषित किया गया है।[३] अध्यात्म रामायण में भी एकमात्र नवधा-भक्ति को ही मुक्ति का उपाय कहा गया है।[४] महाभारत में भी भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बताया गया है।[५] शांडिल्य भक्ति-सूत्र में तो स्पष्ट ही भक्ति द्वारा बुद्धि के आत्यन्तिक लय का वर्णन करते हुए ईश्वर-साक्षात्कार रूप बोध द्वारा भक्ति से ही मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई है।[६] जैमिनी आदि मीमांसक धर्मानुष्ठान रूप कर्म के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति सिद्ध करते हैं।[७] इन सभी मतों का संकलन करते हुए भागवत पुराण मे ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों उपायों द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का होना बतलाया गया है।[८]

इस प्रकार शास्त्रों में मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों उपायों का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु अब देखना यह है कि प्रसाद इन तीनों में से किसे मोक्ष के लिए उपयुक्त समझते है? प्रसाद ने कर्म के बारे में लिखा है कि 'मानव अपनी इच्छा-शक्ति से और पौरुष से ही कुछ होता है। जन्मसिद्ध तो कोई भी अधिकार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है।'[९] इसलिए यदि मानव को कुछ प्राप्त करना है तो उसे पुरुषार्थ करना पड़ेगा, कर्म करने होंगे, तभी वह पृथ्वी पर कुछ होकर जी सकता है।[१०] प्रसाद की धारणा है कि मानव कर्मों के द्वारा ही राम और कृष्ण के समान अवतारी पुरुष बन सकता है, किन्तु यह तभी सम्भव है जब मानव अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है।[११] अतएव प्रसार कर्म को महत्त्व देते है और वे कर्म को मंगलमय वृद्धि कराने वाला, सकल समृद्धि प्राप्त कराने वाला, विधाता की कल्याणी सृष्टि को भूतल पर सफल एवं पूर्ण बनाने वाला, मानवता की कीर्ति को सर्वत्र फैलाने वाला, लौकिक अभ्युदय की प्राप्ति कराने वाला

---

१. **मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा। —पंचदशी** ६।२१०
२. **श्वेताश्वतर उपनिषद्** ६।५
३. **शिवपुराण** ४।४१।१६; **वामनपुराण** ६४।३४,७५; **नारदपुराण** १।३४।४१, १।४१।११८; **विष्णुपुराण** १।११।४५-४६; ५।३०।१६; **ब्र० वै० पु०** १।१७।१७; **भा० पु०** ११।६।६, ११।१६।६, १२।४।४० **आदि।**
४. अध्यात्म **रामायण, अरण्यकांड** १०।२०-३१
५. **महाभारत, भीष्म पर्व,** ३१।२३-३०
६. **अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिलयादत्यन्तम्। —शांडिल्य-भक्ति सूत्र** ३।२।४
७. **सर्व-दर्शन-संग्रह,** पृष्ठ २१६।
८. **योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।**
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्। —भा० पु० ११।२०।६
९. **अजातशत्रु,** पृष्ठ ५६।
१०. **वही,** पृष्ठ ५६।
स्कंदगुप्त, पृष्ठ १३०।

तथा सम्पूर्ण बिखरी हुई शक्तियों का समन्वय करके मानवता को विजयिनी बनाने वाला भी मानते हैं[१], परन्तु कर्म को मोक्ष-प्रदायक नहीं कहते।

जहाँ तक प्रसाद के भक्ति-सम्बन्धी विचारों का प्रश्न है, वे भक्ति को उस सर्वशक्तिमान परमेश्वर को प्राप्त करने का सोपान कहते हैं।[२] वे भक्ति को ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम कहते हैं और इसे परीक्षा-ज्ञान बतलाते हैं।[३] भक्ति की प्रशंसा करते हुए प्रसाद ने यहाँ तक कहा है कि भक्ति मानव को निराशा में आशा प्रदान करती है, अशान्ति के क्षणों में शान्ति देती है और सम्पूर्ण कष्टों एवं संतापों का निवारण करके सुख प्रदान करती है। प्रसाद ने भक्ति का मूल श्रद्धा बताया है, श्रद्धा के पूर्ण स्वरूप को भक्ति कहा है और बताया है कि इसी श्रद्धा और विश्वास के कारण मानव भक्ति के द्वारा ईश्वर को अपने पास बुला सकता है।[४] साथ ही प्रसाद ने भक्ति को तीनों तापों से उत्पन्न ज्वाला को शान्त करने वाली[५], सम्पूर्ण दुर्गुणों को दूर करके प्रकाश की ओर अग्रसर करने वाली[६], सम्पूर्ण पापों का विनाश करके हृदय को निर्मल एवं पावन बनाने वाली[७], सांसारिक असत्य ज्ञान को मिटाने वाली और ब्रह्म की समीपता प्राप्त कराने वाली तो कहा है[८], किन्तु जीव और ब्रह्म का भेद मिटाकर उसे कैवल्य पद अथवा मोक्ष प्राप्त कराने वाली नहीं माना है, क्योंकि भक्ति के अन्तर्गत जीव और ब्रह्म में बराबर भेद विद्यमान रहता है। इसीलिए प्रसाद ने भक्ति-पक्ष का निरूपण करते हुए अपने को चकोर तथा भगवान को चन्द्र, अपने को मधुकर तथा भगवान को कमल, अपने को दामिनी तथा भगवान को घनश्याम अथवा अपने को चातक तथा भगवान को घनश्याम स्वीकार किया है।[९]

जहाँ तक प्रसाद के ज्ञान-सम्बन्धी विचारों का प्रश्न है, प्रसाद का स्पष्ट मत है कि "ज्ञान के बिना मुक्ति नही मिलती"[१०], क्योंकि ज्ञान प्राप्त होते ही मानव की बुद्धि ऐसी हो जाती है कि वह जो कुछ करता है, जो कुछ सुनता है, जो कुछ देखता है, जो कुछ समझता है, सब वही ब्रह्म है और उसके अतिरिक्त उसे अन्य कुछ प्रतीत नहीं होता।[११] ज्ञान प्राप्त होते ही जीव को महाचिति व्यक्त एवं सजग होकर इस विश्व में लीलामय आनन्द करती हुई जान पड़ती है[१२], वह सम्पूर्ण विश्व को विषमता की पीड़ा से व्यस्त होकर स्पंदित होता हुआ मानता है[१३], जगत् के सम्पूर्ण दुःख-सुख को भूमा का मधुमय दान समझता है,[१४] इस विस्तृत विश्व को अपना घर समझता

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ५८-५९।
२. **चित्राधार**, पृष्ठ १३५।
३. **चित्राधार**, पृष्ठ १३६।
४. **वही**, १३६-१३७।
५. **वही**, पृष्ठ १७९।
६. **वही**, पृष्ठ १५५, १८५।
७. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
८. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
९. **चित्राधार**, पृष्ठ १८९, १९०।
१०. **चित्राधार**, पृष्ठ १३६।
११. **वही**, पृष्ठ १३७।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।
१३. **कामायनी**, पृष्ठ ५४।
१४. **वही**, पृष्ठ ५४।

(१) **आणव उपाय**—आणव उपाय से तात्पर्य अणुओं के ज्ञान से है,[1] जो सम्पूर्ण जगत् के नील-पीत, सुख-दुःख आदि के स्वरूप का साक्षात्कार करने पर प्राप्त होता है।[2] भाव यह है कि जिस समय जीव जगत् के विविध अणुओं का ज्ञान प्राप्त करता हुआ सम्पूर्ण अणुओं में अपनी आत्मा का साक्षात्कार करता है, उस समय उसे अणुओं में ही परमेश्वर का स्वरूप प्रतीत होने लगता है। अणुओं के इसी परम ज्ञान की प्राप्ति के उपाय को आणव उपाय कहते हैं।[3] इस उपाय के करने से पूर्व जीवात्मा विकल्पपूर्ण रहता है और जड़ तथा चेतन में भेद मानता रहता है, किन्तु दीक्षा प्राप्त करके, मंत्रों का सतत उच्चारणपूर्वक जप करके तथा पूजा आदि साधनों के द्वारा वह धीरे-धीरे यह समझने लगता है कि सम्पूर्ण अणुओं में अथवा समस्त जड़-चेतन पदार्थों में एक शिव की ही शक्ति व्याप्त है। इस ज्ञान के उदय होते ही उसके जड़भाव का तिरोधान हो जाता है, उसे सर्वत्र एक चेतन की सत्ता दिखाई देने लगती है और वह उसी चैतन्य सत्ता में लीन हो जाता है। यही आणव उपाय द्वारा प्राप्त मोक्ष का स्वरूप है।[4] प्रसाद ने इसी आणव उपाय की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि जीव इस विश्व को ईश्वर का रूप समझे, विश्व-प्रेम में अपनी प्रकृति को लीन करे, सर्वत्र उस सुन्दरतम की सुन्दरता को देखे, प्रकृति के प्रत्येक परिवर्तन में अद्भुत सौन्दर्य का साक्षात्कार करे, जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों को उस स्निग्ध, शान्त, गम्भीर महासौन्दर्य-सुधासागर के बिखरे हुए कण समझे'[5], विमल इन्दु की किरणों मे उसी का प्रकाश देखे, जगत् की लीला में उसकी अनादि एवं अनन्त माया का साक्षात्कार करे, विशाल सागर को देखकर उसकी दया के प्रसार को समझे, सागर की उत्ताल लहरों में उसकी प्रशंसा का राग सुने, चन्द्रिका में उसकी स्मिति को देखे, नदियों के कल-कल निनाद में उसके हँसने की ध्वनि सुने, यामिनी में तारागण की ज्योति को उसके विशाल मन्दिर की दीपमालिका समझे, उसे प्रकृति-पद्मिनी को विकसित करने वाला अंशुमाली माने[6], विश्व-वीणा में उसके महासंगीत की ध्वनि सुने, उसकी कृपा-कादम्बिनी को सुधा-नीर बरसाने वाली माने और उसे भव-कानन की धरा को हरा-भरा बनाने वाला समझे।[7] प्रसाद का मत है कि जब जीव सतत प्रयत्न एवं साधना के द्वारा यह जानने लगता है कि उस प्रेममय सर्वेश का ही सम्पूर्ण जगत् और जाति हैं, सारा संसार मेरा मित्र है, नाम को भी कोई मेरा शत्रु नहीं है, मुझे जो कुछ सुख-दुःख मिलते हैं, वे सब उसी की कृपा के परिणाम हैं, वह प्रेम का पागल हमें सदैव आनन्द प्रदान करता है और हम उससे रूठ जाते हैं, फिर भी वह हमें

---

१. **तस्य शांभवस्य उपायः शाक्तः, आदि शब्दात् तस्यापि उपाय आणवः।**
—जयरथ की टीका, तन्त्रालोक, भाग १, पृष्ठ १८१।

२. **तन्त्रालोक** १।४१
३. **तन्त्रालोक, भाग** १, पृष्ठ १८१।
४. **वही** ५।५-१४
५. **प्रेम-पथिक,** पृष्ठ २५।
६. **कानन-कुसुम,** पृष्ठ १-२।
७. **कानन-कुसुम,** पृष्ठ ३१।

मनाता है।[1] ऐसा विचार करने पर सतत साधना द्वारा ऐसी बुद्धि बन जाती है कि जीव फिर अणु-अणु और कण-कण को अपना समझने लगता है, सबकी सेवा उसे पराई नहीं जान पड़ती, अपितु अपनी ही सुख-संसृति प्रतीत होने लगती है, वह अपनी चेतनता को सबका स्पर्श करते हुए मानता है, द्वयता को भूल जाता है, निर्विकार भाव से सभी प्राणियों के मानस में प्रवेश करके मानस की गहराई में मधुर-मिलन का आनन्द लेने लगता है और समस्त भेदभावों को भूलकर जगत् के दुःख-सुख को दृश्य बनाता हुआ तथा अपने वास्तविक रूप को जानता हुआ इस विश्व-नीड़ में निवास करता है और अपने को उस सौन्दर्य-सुधा-सागर का कण मानकर उस आनन्द-अम्बु-निधि में मिल जाता है, तभी मुक्त हो जाता है।[2] यही आणव उपाय है, जिसे अपनाकर जीव भेद-बुद्धि का परित्याग करके सतत साधना, जप, मन्त्रोच्चारण आदि के द्वारा जड़-चेतन के अभेद को जानकर सर्वत्र एक चेतनता का साक्षात्कार करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

(२) **शाक्त उपाय**—जिन प्रयत्नों के द्वारा जीव के मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार स्फुट हो जाते हैं, उसे यह प्रतीत होने लगता है कि सारा संसार विकल्प-पूर्ण है, मायामय है और शिव की इच्छा से उसी की शक्ति अपनी इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि से सम्पन्न होकर विश्व का निर्माण करती है[3] और जैसे अपने सामने स्थित दर्पण में कोई अपना मुख देखकर उससे पूर्ण परिचित हो जाता है वैसे ही जीव निरन्तर ध्यान, पूजा, अर्चना आदि के द्वारा अपने विकल्प रूपी दर्पण में अपनी आत्मा के रूप का बारम्बार साक्षात्कार करता है तथा उस आत्मारूपी शिव को देखकर शीघ्र ही तन्मयी अवस्था को प्राप्त हो जाता है, उसे ही शाक्त उपाय कहते हैं।[4] इस उपाय द्वारा भी जीव मोक्षावस्था को प्राप्त होता है। इस उपाय के अन्तर्गत जीव के हृदय में भेद और अभेद दोनों से परिपूर्ण भेदाभेदात्मक ज्ञान रहता है[5], किन्तु उसकी बुद्धि वाह्य पदार्थों अथवा अणु-अणु या कण-कण का अवलम्ब छोड़ देती है और वह आत्म-चिन्तन में लीन हो जाता है।[6] प्रसाद ने इस अन्तः साधना एवं आत्म-चिंतन पूर्ण शाक्तोपाय की ओर संकेत करते हुए स्पष्ट लिखा है कि जब जीव उस परम शिव का स्मरण करने लगता है, तब सम्पूर्ण वेदनायें विस्मृत हो जाती हैं, जीव को विश्व बोध हो जाता है और फिर उसे कभी रोना नहीं पड़ता।[7] यह जीव जिस समय आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर होता है, उस समय इसके चित्त में नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और उन्हीं भावों के पर्यालोचन में

१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३१।
२. **कामायनी**, पृष्ठ २८६; **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५-२६।
३. **तन्त्रालोक** १।२१४
४. **तन्त्रालोक**, ४।२०७-१
५. **वही** १।२३०
६. **वही** १।१२०
७. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६०।

उसके हृदय में एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है। उस क्षण वह संसार में अघटन-घटना-पटीयसी शक्ति की लीला देखने-देखते मुग्ध होकर उस शक्तिमान की खोज करने लगता है।[१] वह श्रद्धा एवं भक्ति से परिपूर्ण होकर उसे 'सत्यं' कहता है, जब उसके मंगलमय स्वरूप को देखता है तब उसके मुख से अनायास ही 'शिवं' निकलता हैं और फिर जब वह उसके अलौकिक सौन्दर्य के आनन्दित हो उठता है तब उसे वह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कह उठता है।[२] सतत चिंतन में लीन होकर जीव उसे सर्वव्यापक होते हुए भी सबसे परे मानता है, सूक्ष्म होकर भी वसुधा को धारण करने वाला समझता है और वह जानता है कि सूर्य में उसी का ओज है, चन्द्रमा में उसी की कान्ति है, मलयानिल में उसी की सुगन्धि है, समुद्र में उसी की कृपा के कण हैं जो तरंगों के रूप में दिखाई देते हैं, वह आनन्द की लहरों में विहार करता है, उसी की कृपा से कल्पवृक्ष फूलता है और वही संसार का पालनकर्त्ता है।[३] वह आलोकपूर्ण है और सम्पूर्ण लोकों में विहार करता है, वह आनन्दकन्द, जगद्बन्धु, विभो, पुरारी है, ब्रह्माण्ड-मण्डल में उसका अखण्ड प्रताप विद्यमान है, निगमागम भी उसका वर्णन नहीं कर पाते। वह ईशान, आशुतोष एवं अनाथों का नाथ है। वह सभी के हृदय में निवास करता है और सभी को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है।[४] परन्तु पातकी जीव उसकी परवाह नहीं करता, वह उस सच्चिदानन्द के प्रेम में लीन न होकर जगत् के झूठे लोगों से स्नेह करने लगता है।[५] इसी कारण प्रसाद ने लिखा है कि निरन्तर जप, ध्यान एवं चिंतन द्वारा जीव अपने मन-मधुकर को भगवान् के उन चरण-कमलों में लीन करे, जहाँ सुख-मकरन्द की वर्षा होती है और जो आनन्द-दिनकर की किरण-कला से सदैव विकसित रहते हैं।[६] जैसे मछली जल में निमग्न रहती है वैसे ही वह मन-मधुकर को प्रिय ब्रह्म के स्मृति-कमल में लवलीन करे, भगवान् के अनुपम छवि-सरोवर में स्नान करे, चन्द्र-चकोर की गति ग्रहण करे, घनश्याम और दामिनि की भाँति हृदय में हर्ष सहित भगवान से भेंट करे, प्यासे नयनों को हृदय भरकर भगवान् का रूप-रस पान करावे, कानों को उसका शान्ति एवं सुधापूर्ण संगीत सुनावे और अपने हृदय-पटल में नित्य भगवान की मंगलमय मूर्ति का दर्शन करे।[७] इस प्रकार सतत प्रयत्न करते हुए सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को विस्मृत कर दे[८], अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करे[९], जगत् के चमकीले पदार्थों से अभिभूत न हो[१०], समस्त आलोक, चैतन्य और प्राण-शक्ति को प्रभु की देन समझे[११], अपने अन्तर्निहित आनन्द

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १३५।
२. **वही**, पृष्ठ १३६।
३. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३।
४. **वही**, पृष्ठ १५५।
५. **वही**, पृष्ठ १७६।
६. **वही**, पृष्ठ १८८।
७. **वही**, पृष्ठ १८९।
८. **स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य**, पृष्ठ ७१।
९. **स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य**, पृष्ठ १३०।
१०. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०२।
११. **वही**, पृष्ठ २०३।

की अग्नि को प्रज्वलित करके अपने सम्पूर्ण मलिन कर्मों को भस्म कर दे[1], इस जीवन-समुद्र आत्मा को उसकी सम्पूर्ण विभतियों के साथ समझने का प्रयत्न करे[2], धर्माचरण करता हुआ आत्मलाभ प्राप्त करे[3], अपने अन्तःकरण में स्थित कल्याण के देवता की सम्बर्द्धना में लीन रहे[4], संकल्प-विकल्प के क्षणों में शुद्ध-बुद्धि की शरण जाकर अपना कर्त्तव्य निश्चय करे[5] और भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण कर दे, जिससे उसके सब पाप-पुण्य जलकर निर्मल एवं पवित्र बन जायँ, सारा असत्य ज्ञान नष्ट हो जाय और वह समरस अखण्ड आनन्द वेश रूपी शिवत्व को प्राप्त होकर मुक्त हो जाय।[6] प्रसाद ने अपने उक्त वर्णनों द्वारा शाक्त उपाय का निरूपण किया है, जिसके फलस्वरूप जीव निरन्तर अपने विकल्प रूपी दर्पण में आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करता हुता अन्त में अनुत्तरावस्था में पहुँच कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

(३) **शांभव उपाय**—जिस समय गुरु अपने शिष्य को दीक्षा देकर 'शिवोऽहम्' कहकर सुनाता है और उस वाक्य के सुनते ही शिष्य में 'शिवोऽहम्' का आवेश हो जाता है तथा वह जीवात्मा अपने को शिव रूप समझने लगता है, उस समय जीव को यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'मैं ही शिव हूँ', यह सारा जगत् संविदात्मक है और प्रपंचयुक्त भी है, किन्तु मेरे ही प्रतिबिम्ब के रूप में प्रकाशित हो रहा है, यह विश्व मुझमे ही उदित हुआ है, मुझ में ही प्रतिबिम्बित है और मुझ में ही विलीन होता रहता है, मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं है तथा समस्त जीव एवं जगत् मुझसे सर्वथा अभिन्न हैं।[7] इस तरह जीव गुरु-मुख से 'मैं शिव हूं' वाक्य को सुनते ही शीघ्र भैरवी-भाव को प्राप्त होकर जिस उपाय द्वारा निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाता है, सर्वत्र अपनी आत्मा का प्रतिबिम्ब देखने लगता है, अपने को सर्वव्यापक, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ शिव रूप समझने लगता है तथा सभी प्रकार के विकल्पों से रहित होकर शिव से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करता हुआ शिवत्व भाव को प्राप्त हो जाता है, उसी उपाय को शाम्भव उपाय कहते हैं।[8] इस शांभव उपाय से जो शांभव ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे सर्वोत्कृष्ट ज्ञान माना गया है, क्योंकि इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही जीव की आनन्द-शक्ति में विश्रान्ति होती है, वह अखण्ड आनन्द-अवस्था में लीन हो जाता है और उसे शीघ्र ही अनुत्तरावस्था अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।[9] यही जीव की कैवल्यावस्था है, जब वह देहादि बन्धनों से मुक्त होकर जीवन्मुक्त हो

१. **इरावती**, पृष्ठ ५६। २. **तितली**, पृष्ठ ६४।
३. **तितली**, पृष्ठ ६५। ४. **वही**, पृष्ठ २५०।
५. **कंकाल**, पृष्ठ १२६। ६. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
७. **तंत्रालोक** ३।२६८-२७४; **तन्त्रसार**, पृष्ठ १६।
८. **तन्त्रसार**, पृष्ठ १६; **तन्त्रालोक** १।१७८
९. **तन्त्रालोक** १।२३१

जाता है।[1] इसी आधार पर प्रसाद ने लिखा है कि जब तक जीव को आत्म-साक्षात्कार नहीं होता, वह अपने अस्तित्व को स्वप्न समझता है, उसे आध्यात्मिकता का मोह रहता है, अपने को विश्वात्मा से भिन्न समझकर अपने स्वतन्त्र रूप की कल्पना किया करता है और वह विकृत रहता है, किन्तु आत्म-साक्षात्कार होते ही जीव अभिन्न, अखण्ड एवं अभेद रूप शुद्ध चैतन्य हो जाता है और शीघ्र ही शिवत्व को प्राप्त होकर अनन्त शान्ति, असीम आलोक एवं अखण्ड आनन्द का अनुभव करने लगता है।[2] शांभव समावेश के होते ही जीव की विचारधारा पंगु नहीं रहती, वह उन्मुक्त नील आकाश की तरह विस्तृत होकर सबको अवकाश देने के लिए प्रस्तुत रहती है, वह चारों ओर आनन्द की सीमा में प्रसन्न रहता है और वह प्रसन्नता प्रत्येक अवस्था में रहने वाले प्राणियों के विरुद्ध नहीं होती। उसके चारों ओर उजला-उजला प्रकाश फैला रहता है, जिसमें त्याग और ग्रहण अपनी स्वतन्त्र सत्ता अलग बनाकर नहीं लड़ते। उसे विश्व का उज्ज्वल पक्ष अन्धकार की भूमिका पर नृत्य करता-सा दिखाई पड़ता है और सबको आलिंगित करके उसकी आत्मा का आनन्द स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहता है। उसे सर्वत्र शिव ही शिव दिखाई देता है, कहीं अशिव नहीं दिखाई देता और वह सर्वत्र आनन्द के दर्शन करता है।[3] इस शांभव उपाय का सजीव चित्रण प्रसाद ने 'कामायनी' के रहस्य सर्ग में किया है, जहाँ मनु रूपी जीवात्मा पहले तो इच्छा, ज्ञान और क्रिया के पृथक्-पृथक् रहने के कारण जीवन की विडम्बना में फँसा हुआ है, परन्तु जैसे ही श्रद्धा रूपी गुरु से वह 'शिवोऽहम्' का मन्त्र लेता है, वैसे ही वह अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित हो जाता है, उसे इस महाशून्य में महाशक्ति की तीव्र सुनहली ज्वाला सर्वत्र धधकती हुई दिखाई देने लगती है, इस त्रिकोण रूपी ब्रह्माण्ड में सर्वत्र श्रृङ्ग और डमरू का निनाद सुनाई देने लगता है, अविरल धधकती हुई चितिमय चिता पर महाकाल अपना विषम नृत्य करते हुए दिखाई देते हैं, सारा विश्व-रंध्र उस ज्ञान की ज्वाला से परिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है, उसकी जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थाएँ भस्म हो जाती हैं, इच्छा-क्रिया-ज्ञान के तीनों ही लोक विलीन हो जाते हैं और वह दिव्य अनाहत नाद सुनता हुआ तन्मयी अवस्था को प्राप्त हो जाता है।[4] उसे फिर कोई भी पराया नहीं लगता, वह सबको अपना कुटुम्बी एवं अपना अवयव समझता है, उसकी जीवन-वसुधा समतल एवं समरस हो जाती है जहाँ न कोई शापित और न कोई तापित प्राणी रहता है, वह चेतन-समुद्र में समस्त जीवनों को लहरों की तरह बिखरा हुआ देखता है, उसे सभी प्राणी ज्योत्स्ना के जलनिधि में नक्षत्र की तरह अभिन्न रूप से अपनी-अपनी आभा से चमकते हुए जान पड़ते है, वह इस सचराचर

---

१. **तन्त्रालोक** ४।२१२

२. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ७०-७१।

३. **इरावती**, पृष्ठ १०४।

४. **कामायनी**, पृष्ठ २७३।

मूर्त विश्व को चिति का विराट् वपु मानकर सत्य, सतत, चिर सुन्दर मानता है तथा जड़ और चेतन में सर्वत्र एक चेतनता को विलास करता हुआ जानकर अखंड आनन्द में लीन हो जाता है।[1] इस तरह शांभव उपाय द्वारा अनुत्तरावस्था में पहुँचकर जीव शीघ्र अपने जीवन-काल में ही मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है और ऐसे जीव को जीवन्मुक्त कहते हैं, जबकि आणव और शाक्त उपायों द्वारा जीव को पर्याप्त काल के उपरान्त मोक्ष मिलता है।

ज्ञान-प्राप्ति के साधन

प्रसाद के मत से यह निर्विवाद सत्य है कि ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु वह मोक्षदायक उत्कृष्ट ज्ञान जिन साधनों से प्राप्त होता है, वे इस प्रकार हैं :—

(१) **श्रद्धा**—प्रसाद के मतानुसार ज्ञान-प्राप्ति के लिए श्रद्धा सर्वोत्कृष्ट साधन है। प्रसाद ने श्रद्धा की महत्ता का निरूपण करते हुए परमात्मा को महासागर कहा है, मानव-सृष्टि को धारा-प्रवाह बताया है, जिसमें श्रद्धा को जल कहा है, भक्ति को वेग बतलाया है और उसके गमन को ज्ञान कहा है।[2] इतना ही नहीं, प्रसाद की दृष्टि में तो श्रद्धा ही भक्ति है और भक्ति ही परीक्षा-ज्ञान है। अतएव श्रद्धा और भक्ति तथा ज्ञान में केवल नामान्तर ही है। वैसे वे श्रद्धा के पूर्ण स्वरूप को भक्ति कहते हैं, किन्तु इस भक्ति की प्राप्ति श्रद्धा बिना सर्वथा असम्भव है। इसी श्रद्धा का जब पूर्ण परिपाक होता है तब जीव के हृदय में भक्ति उदय होती है और भक्ति के उदय होते ही वह परमात्मा के सत्य, शिव तथा सुन्दर रूप का साक्षात्कार करता हुआ सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है, संसार के प्रपंचों से छुटकारा पाता है और मुक्त को जाता है।[3] भारतीय वाङ्मय में श्रद्धा के महत्व का निरूपण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। ऋग्वेद में लिखा है कि श्रद्धा के द्वारा ही यज्ञ किया जाता है, श्रद्धा के कारण ही हवि प्रदान की जाती है, श्रद्धा ही यजमान को सौभाग्यशाली बनाती है, श्रद्धा के कारण ही श्रद्धालु व्यक्ति को सभी प्रकार के भोग, प्रिय पदार्थ, भोजन, धन, अभीष्ट फल आदि की प्राप्ति होती हैं।[4] शुक्ल-यजुर्वेद में श्रद्धा को सत्य में आस्तिक्य बुद्धि उत्पन्न करने वाली घोषित किया है।[5] तैत्तिरीय-ब्राह्मण में श्रद्धा को देवत्व प्रदान करने वाली, सम्पूर्ण लोक की प्रतिष्ठा, विश्व का भरण-पोषण करने वाली, सम्पूर्ण जगत् पर शासन करने वाली तथा अमृत लोक प्रदान करने वाली कहा गया है।[6] इतना ही नहीं, वहाँ स्पष्ट लिखा है कि श्रद्धा सत्य, तप और दम के साथ-साथ यज्ञ करने पर सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करती है।[7] इसके साथ ही वहाँ स्पष्ट घोषित किया गया है कि प्रजापति ने असत्य

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २८७, २८८, २८६।

२. **चित्राधार**, पृष्ठ १३५।

३. **चित्राधार**, पृष्ठ १३६।

४. **ऋग्वेद** १०।१५१।१–४

५. **शुक्ल-यजुर्वेद** १६।७७

६. **तैत्तिरीय ब्राह्मण** ३।१२।१–२

७. **तैत्तिरीय ब्राह्मण** ३।१२।७।५

में अश्रद्धा को और सत्य में श्रद्धा को स्थापित किया है।[1] इससे सिद्ध है कि श्रद्धा द्वारा ही सत्य की प्राप्ति होती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में विज्ञानमय आत्मा को एक पक्षी के रूप में बताते हुए श्रद्धा को उसका शिर कहा है।[2] छांदोग्य-उपनिषद् में श्रद्धा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है कि जिस समय मनुष्य श्रद्धा करता है तभी वह मनन करता है, बिना श्रद्धा किये कोई मनन नहीं करता, अपितु श्रद्धा करने वाला ही मनन करता है। अतः श्रद्धा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।[3] 'त्रिपुरा-रहस्य' में तो यहाँ तक लिखा है कि श्रद्धा से ही जीव अभीष्ट फल को प्राप्त करता है और जो श्रद्धा-रहित होते हैं, उन मूर्खों की श्री, सुख एवं यश सभी नष्ट हो जाते हैं।[4] इसके अतिरिक्त गीता में श्रद्धा तीन प्रकार की बतलाई गई है—सात्विकी, राजसी और तामसी। इनमें से सत्वगुण से उत्पन्न देवपूजादि विषयक श्रद्धा सात्विकी होती है, रजोगुण से उत्पन्न यक्ष-राक्षसादि की पूजा-विषयक श्रद्धा राजसी होती है और तमोगुण से उत्पन्न [illegible] आदि की पूजा-विषयक श्रद्धा तामसी होती है। इनमें से सात्विकी श्रद्धा से युक्त व्यक्ति देवपूजादि में लीन होकर अभीष्ट भोगों को प्राप्त करते हैं[5] और जो इन्द्रियों को वश में करके गुरु-सेवा आदि उपायों में तत्पर रहता है, ऐसा व्यक्ति सात्विकी श्रद्धा से युक्त होकर अवश्य ही ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।[6] प्रसाद ने भी इन्हीं आधारों पर श्रद्धा को जड़-चेतनता की गाँठ को सुलझाने वाली, भूलों को सुधारने वाली तथा जीवन के उष्ण विचारों को शान्तिमयी शीतलता प्रदान करने वाली कहा है[7], उसे पूर्ण आत्म-विश्वासमयी बतलाया है[8], अपनी शान्त-प्रभा से ज्योतिमान चेतनता कहा है[9] और कलह के तुमुल कोलाहल में आत्मीयता का

---

१. **अश्रद्धामनृतेऽदधात्। श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।**

—**तैत्तिरीय ब्राह्मण** २।६।२।३

२. **तस्य श्रद्धैव शिरः। —तैत्तिरीयोपनिषद्** २।४।१

३. **छांदोग्य उपनिषद्** ७।१९

४. **आप्तेष्वश्रद्धितं मूढं जहाति श्रीः सुखं यशः।**
स भवेत् सर्वतो हीनो यः श्रद्धारहितो नरः।

—**त्रिपुरा-रहस्य, ज्ञान-खंड** ६।२४

५. **गीता** १७।२,४

६. **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयेतेन्द्रियः। —गीता** ७।२२

७. **जड़ चेतनता की गाँठ वही सुलझन है भूल सुधारों की,**
वह शीतलता है शान्तिमयी जीवन के उष्ण विचारों की।

—**कामायनी**, पृष्ठ ७७।

८. **कामायनी**, पृष्ठ १६२।

९. **वही**, पृष्ठ १६३।

प्रचार करने के लिए हृदय की बात बनाया है।[१] इतना ही नहीं, प्रसाद ने श्रद्धा को सौभाग्य की अजस्र वर्षा करने वाली, जीवन की चिर अतृप्ति को संतोष प्रदान करने वाली[२], सबका दुःख दूर करके महान् कल्याण करने वाली[३], निस्सम्बल भग्नाश पथिक को साहस बँधाने वाली[४], मायाजाल में लिप्त जीव की रक्षा करने वाली[५], इच्छा-ज्ञान-क्रिया तीनों के अलग-अलग रहने से उत्पन्न जीवन की विडम्बना को समझाने वाली और इन तीनों को सम्बद्ध करके जीव की स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत अवस्था को भस्म करती हुई तथा इच्छा, ज्ञान और क्रिया को विलीन करती हुई जीव को दिव्य अनाहत-नाद में तन्मय बनाने वाली बतलाया है।[६] इसीलिए प्रसाद की दृष्टि में श्रद्धा पुलकित विश्व-चेतना है, पूर्ण-काम की प्रतिमा है, अग-जग को मुखरित करने वाली है, विश्व-कमल के अणु-अणु में आनन्द-सुधा-रस भरने वाली है[७] और सबसे परे ऐसी विमल प्रेम-ज्योति है, जिसके प्राप्त होते ही सबकी आँखें प्रतिफलित हो जाती हैं, सब अपनी ही कला (कर्त्तृत्व शक्ति) से जाने-पहँचाने से लगते हैं, जड़ हो या चेतन सभी पदार्थ समरस एवं सुन्दर साकार रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, सबके अन्दर एक चेतनता विलास करती हुई दिखाई देती है और सर्वत्र घना अखंड आनन्द छाया हुआ प्रतीत होता है।[८] यही कारण है कि प्रसाद श्रद्धा को ज्ञान-प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन स्वीकार करते हैं।

(२) **बुद्धि**—ज्ञान-प्राप्ति में बुद्धि का भी पर्याप्त महत्त्व माना गया है। गीता में इस बुद्धि के तीन भेद स्वीकार किए गये हैं—सात्विकी बुद्धि, राजसी बुद्धि और तामसी बुद्धि।[९] इनमें से जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष को जानती है, वह सात्विकी बुद्धि कहलाती है[१०], जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को यथार्थ रूप से नहीं जानता, वह राजसी बुद्धि कहलाती है[११] और जो बुद्धि निषिद्ध कर्म अथवा अधर्म को धर्म मान लेती है तथा जानने योग्य अन्यान्य समस्त पदार्थों को विपरीत ही समझती है, वह तामसी बुद्धि कहलाती है।[१२] इस विवेचन से स्पष्ट है कि बुद्धि को दो रूपों में देखा जा सकता है—शुद्ध बुद्धि और अशुद्ध बुद्धि। इनमें से सात्विकी बुद्धि शुद्ध बुद्धि है और राजसी तथा तामसी बुद्धि अशुद्ध बुद्धि है और शुद्ध बुद्धि आध्यात्मिकता की ओर ले जाकर मोक्ष प्राप्त कराती है तथा अशुद्ध बुद्धि भौतिकता में लिप्त करके जीव को बन्धन में डाल देती है। यह तो स्पष्ट ही है कि बुद्धि सभी प्रकार के ज्ञान में सहायक

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २१६।
२. **कामायनी**, पृष्ठ २२६।
३. **वही**, पृष्ठ २४९।
४. **वही**, पृष्ठ २५९।
५. **वही**, पृष्ठ २६१।
६. **वही**, पृष्ठ २७२-७३।
७. **वही**, पृष्ठ २९०-९१।
८. **वही**, पृष्ठ २९४।
९. **गीता** १८।२९
१०. **गीता** १८।३०
११. **वही** १८।३१
१२. **वही** १८।३२

होती है और इसी कारण प्रसाद ने 'बुद्धि मनीषा मति आशा' आदि कहकर बुद्धि को मति कहा है[1] तथा छांदोग्य उपनिषद् में लिखा है कि जिस समय मनुष्य मनन करता है तभी वह विशेष रूप से जानता है। यह मनन-कार्य मति का है। अतः मति की विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।[2] प्रसाद ने इसी कारण सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बुद्धि का महत्त्व स्वीकार किया है और ज्ञान-लोक में एक मात्र बुद्धि-चक्र के चलने की चर्चा की है।[3] इतना ही नहीं, प्रसाद ने स्पष्ट कहा है कि 'स्वाध्याय बुद्धि का यज्ञ है' और 'स्वाध्याय के द्वारा मानव सत् (ज्ञान) को प्राप्त होता है। अतः सत्य की उपलब्धि के लिए सदैव ज्ञान की साधना आरम्भ होनी है और वह ज्ञान बौद्धिक व्यापार द्वारा ही प्राप्त होता है।'[4] शैवागमों में ज्ञान के दो भेद स्वीकार करते हुए निर्विकल्प ज्ञान को पौरुष ज्ञान तथा बुद्धिवृत्यात्मक ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है और इस बौद्धिक ज्ञान को पौरुष-ज्ञान अथवा निर्विकल्पक-ज्ञान का पोषक कहा है।[5] यहाँ इस बौद्धिक ज्ञान अथवा बुद्धिगत ज्ञान से तात्पर्य शुद्ध-बुद्धि-जन्य ज्ञान से ही है, क्योंकि अशुद्ध बुद्धि-जन्य ज्ञान कभी निर्विकल्पक या मोक्ष ज्ञान की ओर नहीं ले जा सकता। अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि बुद्धि द्वारा ज्ञान तो अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु शुद्ध बुद्धि मोक्ष-ज्ञान को प्राप्त कराने में सहायक होती है और अशुद्ध बुद्धि भौतिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होती है। प्रसाद ने भी इसी आधार पर 'कामायनी' में 'इड़ा' के स्वरूप को अंकित किया है। वहाँ 'इड़ा' बुद्धि एवं चेतनता की प्रतीक है।[6] वह अपने वक्षस्थल पर संसृति के समस्त विज्ञान और ज्ञान को धारण किए हुए हैं[7], जिनमें से विज्ञान भौतिक उन्नति का प्रतीक है, क्योंकि इसी के सहारे मानव प्रकृति के रमणीय रहस्यों का उद्घाटन कर सकता है, सबका नियमन एवं शासन कर सकता है, निर्णायक बन सकता है और जड़ता को चैतन्य में बदल कर अखिल लोक में अपना यश फैला सकता है।[8] अतएव यहाँ इड़ा अशुद्ध बुद्धि के रूप में भौतिकता का विकास करने वाली अंकित की गई है और इसी अशुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से मनु नाना प्रकार की भौतिक सफलताएँ प्राप्त करते हैं तथा अनेक भौतिक श्री-समृद्धि के उपकरणों को जुटाते है।[9] इसके अतिरिक्त यही 'इड़ा' आध्यात्मिक समृद्धि रूप ज्ञान को भी धारण करने वाली बतलाई गई है। इससे यह स्पष्ट ही शुद्ध बुद्धि-रूपा भी है, क्योंकि आगे चलकर यही 'इड़ा' अपने सारस्वत नगर-निवासियों को उस तीर्थ-स्थान की यात्रा पर ले जाती है, जो अत्यन्त उज्ज्वल एवं पावनतम है[10],

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ६।
२. **छांदोग्य उपनिषद्** ७।१८
३. **वही**, पृष्ठ २६६।
४. **का० नि०**, पृष्ठ ३७।
५. **तंत्रालोक** १।४१-४२
६. **कामायनी**, पृष्ठ १६६।
७. **कामायनी**, पृष्ठ १६८।
८. **वही**, पृष्ठ १७१।
९. **वही**, पृष्ठ १८१-८२।
१०. **वही**, पृष्ठ २७६।

जो जगती को पवित्र बनाने वाला किसी का साधना-प्रदेश है तथा अति शीतल एवं शान्त तपोवन है[१], जिसके समीप एक महान् सरोवर है, जो मानसरोवर कहलाता है, जो सबके मन की प्यास बुझाता है तथा जो कोई उसके पास पहुँच जाता है वही आत्यन्तिक सुख प्राप्त करता है।[२] प्रसाद के इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि-रूपी इड़ा एक ओर तो भौतिकता की प्रेरक है और दूसरी ओर वह आध्यात्मिकता की भी पथप्रदर्शिका है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुद्ध बुद्धि सदैव जीव को भौतिकता का ज्ञान प्राप्त कराके उसे भौतिक समृद्धि की प्रेरणा प्रदान किया करती है और शुद्ध बुद्धि सदैव जीव को आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करती है। इसी कारण प्रसाद ने बुद्धि को भी ज्ञान के साधन के रूप में स्वीकार किया है।

(३) **भक्ति**—यह 'भक्ति' शब्द 'भज्' धातु से बना है, जिसका मूल अर्थ है—सेवा करना, शरण में जाना अथवा भाग लेना। कोशों में भी भक्ति शब्द का अर्थ सेवा, श्रद्धा, आराधना, ईश्वर या पूज्य व्यक्ति के प्रति अत्यनुराग आदि दिया गया है।[3] भक्ति-सिद्धान्त के प्रबल प्रचारक 'भागवत-पुराण' में लिखा है कि वेद-विहित कर्म में लगे हुए जनों की भगवान् के प्रति जो अनन्यभाव के साथ स्वाभाविकी सात्विक प्रवृत्ति होती है, उसे 'भक्ति' कहते हैं।[४] शांडिल्य-सूत्रों में ईश्वर-विषयक परानुरक्ति को 'भक्ति' कहा गया है।[५] नारद-भक्ति-सूत्र में ईश्वर के प्रति परम प्रेम को 'भक्ति' बतलाया गया है।[६] रामानुजाचार्य ने स्नेहपूर्वक किये गये सतत ध्यान को 'भक्ति' कहा है।[७] शैवागमों में पूजा-अर्चना, ध्यान, जप, होम, व्रत आदि को भक्ति माना गया है और इन सबको निरन्तर करते हुए जब साधक या भक्त परिपूर्ण स्थिति को प्राप्त हो जाता है तब उसे समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है[८] और वह समाधि से प्राप्त सुख एवं आनन्द को उपलब्ध कर लेता है।[९] अभिनवगुप्ताचार्य का तो यहाँ तक मत है कि जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक भगवान की उपासना करते हैं, वे

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २८०।
२. **वही**, पृष्ठ २८२।
३. **देखिए, हिन्दी-शब्दसागर**, हिन्दी-विश्वकोश, **बृहत् हिन्दी कोश आदि**।
४. **भागवत पुराण** ३।२५।३२
५. **सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे। —शांडिल्य-भक्ति-सूत्र** १।१।२
६. **सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। —नारद-भक्ति-सूत्र** २
७. **स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।**
—गीता पर रामानुजभाष्य अध्याय ७ **की अवतरणिका।**
८. **तथार्चनजपध्यानहोमव्रतविधिक्रमात्।**
परिपूर्णां स्थितिं प्राहुः समाधिं गुरवः पुरा॥ —तंत्रालोक १२।१३
९. **समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयोभूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदित समाधिलाभः।**
—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र १९

जाते हैं[१], वह तुरीयावस्था में पहुँच जाता है[२], उसकी सम्पूर्ण अविद्या नष्ट हो जाती है और वह कैवल्य-पद प्राप्त कर लेता है।[३] इन्हीं आधारों पर प्रसाद ने भी ज्ञान-प्राप्ति के लिए योग को महत्त्व देते हुए चित्त या मन की वृत्तियों पर संयम करने की सलाह दी है, क्योंकि वे जानते थे कि चित्तवृत्तियाँ बड़ी वेगवती होती हैं और मनुष्य उनके वश में हो जाते हैं।[४] बड़े-बड़े तपस्वी आसन और दृढ़ धारणा से अपने मन को संयम में ले आने का लगातार प्रयत्न करते हैं, अभ्यास करते हैं, फिर भी विक्षेप बराबर होता रहता है और उनके ध्यान में वे सांसारिक पदार्थ बार-बार आ जाते हैं, जिन्हें वे छोड़ना चाहते हैं। वे उन्हें माया का आवरण कहकर बार-बार तिरस्कार करते हैं, फिर भी उनके ध्यान में आई हुई अनुभूत पदार्थों की छाया अधिक ठोस होती जाती है।[५] ऐसे कच्चे ज्ञानी रूप-सौन्दर्य को देखकर मन पर अधिकार नहीं कर पाते, वे जगत् को मिथ्या प्रमाणित करने वाले तर्कों का पर्याप्त सहारा लेते है, फिर भी वे मिथ्या नहीं बना पाते, अपितु उसके मन में ये विचार आने लगते हैं कि जगत् तो मिथ्या है ही, इसके जितने कर्म हैं, वे भी माया है। प्रमाता जीव भी प्रकृति है, क्योंकि वह भी अपरा प्रकृति है। जब विश्वमात्र प्राकृत है, तब इसमें अलौकिक अध्यात्म कहाँ! यही खेल यदि जगत् बनाने वाले का है, तो वह हमें खेलना ही चाहिए। वास्तव में गृहस्थ न होकर भी हम वही सब तो करते हैं, जो एक संसारी करता है—वही आय-व्यय का निरीक्षण और उसका उपयुक्त व्यवहार; फिर यह सहज उपलब्ध सुख क्यों छोड़ दिया जाय।[६] इस तरह सतत अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध न कर सकने वाले कितने ही सच्चे संन्यासी त्यागपूर्ण थोथी दार्शनिकता द्वारा ऐसे ज्ञानाभास को स्वीकार कर लेते हैं और फिर सांसारिकता में लीन हो जाते हैं[७], अपनी चित्तवृत्तियों पर संयम न रख सकने के कारण आभूषणों से लदी हुई वैभव-मूर्ति के सामने उनका कामनापूर्ण हृदय झुक जाता है[८] और अपराध से लदी हुई उनकी आत्मा अपनी मुक्ति के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं सोचती। वे बड़े गर्व के साथ स्वयं को भगवान् का बड़ा भक्त घोषित करते हुए लोगों को गृहस्थ बनने का उपदेश देते हैं। उनके हृदय में धीरे-धीरे यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि संन्यासी जीवन असंगत है, ढोंग है, गृहस्थ होकर लोगों का अभाव-मोचन करना ही भगवान् की कृपा के लिए यथेष्ट है और वे विषय-वासनाओं में लीन हो जाते हैं।[९] वे यह समझते रहते है कि धर्म या ईश्वर से केवल हृदय का सम्बन्ध है; कुछ क्षणों तक उसकी मानसिक उपासना कर लेने से यह मिल जाता है। इन्द्रियों से,

---

१. **पातंजल-योगदर्शन** ४।३०।३१
२. **वही** ३।४९-५०, ४।३२-३४।
३. **पंचदशी** ११।७; **पातंजल-योगदर्शन** ४।३४
४. **चित्राधार**, पृष्ठ १५०।
५. **कंकाल**, पृष्ठ १५।
६. **कंकाल**, पृष्ठ १८।
७. **वही**, पृष्ठ १९।
८. **वही**, पृष्ठ ६३।
९. **वही**, पृष्ठ ६३-६४।

वासनाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि हृदय तो इन्हीं संवेदनों से सुसंगठित है।[1] अतएव जब तक इन्द्रियों पर, वासनाओं पर तथा मन पर संयम नहीं होता, तब तक चित्तवृत्तियों का निरोध होना सर्वथा असंभव है। जब चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब आँखों पर पलक-परदे खिच जाते हैं, दृग-द्वार पर अश्रु-मुक्ता की झालर लग जाती है, चित्त-मन्दिर में अमल आलोक फैल जाता है, पुतलियाँ प्रहरी बन जाती है, मोद-मृदंग मनोज्ञ स्वर में बजने लगता है, कल्पना-वीणा अपने ताल में बज उठती है, इन्द्रियाँ दासी के समान अपनी-अपनी जगह पर स्तब्ध हो जाती है और उस योगी का प्राण अपने प्राणाधार से एक गृहपति के समान मिलन करता हुआ प्रतीत होता है।[2] इसी कारण प्रसाद ने योग को भी ज्ञान-प्राप्ति का एक साधन स्वीकार किया है।

(६) **भगवत्कृपा अथवा शक्तिपात**—ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में से भगवत्कृपा अथवा शक्तिपात को भी अत्यधिक महत्व दिया गया है। वैष्णव मतानुयायियों मे तो भगवत्कृपा को ही सब कुछ बताया गया है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी कारण यहाँ तक लिखा है कि ब्रह्म या राम को वही जान सकता है जिसे वे स्वयं अपनी कृपा के द्वारा ज्ञान देते हैं और उस ज्ञान द्वारा ब्रह्म को जानते ही वह ब्रह्म-रूप हो जाता है।[3] बल्लभाचार्य जी ने इसी भगवत्कृपा को सब कुछ मानते हुए 'पुष्टिमार्ग' की स्थापना की, जिसमें बताया गया कि भगवान् के अनुग्रह अथवा भगवान् की कृपा को ही 'पुष्टि' कहते है और इसी अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए भक्त को प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि जब तक भगवान् का अनुग्रह नहीं होता अथवा भगवत्कृपा नहीं होती तब तक जीव का उद्धार नहीं होता। जब जीव भगवान् का अनुग्रह प्राप्त कर लेता है, तब वह भगवान् की नित्य-लीला-सृष्टि में प्रवेश करता है और उनके गोलोक-धाम में पहुँच जाता है, जहाँ नित्य रूप में यमुना, वृन्दावन, निकुंज आदि सब विद्यमान हैं।[4] सूरदास ने इसी आधार पर बताया है कि भगवान् की कृपा से ही पंगु पर्वत को लाँघ सकता है, अन्धा सब कुछ देख सकता है, बहिरा सब कुछ सुन सकता है, मूक फिर से बोल सकता है और दरिद्र व्यक्ति छत्र धारण करके राजा बन सकता है।[5] इतना ही नहीं, भगवान् की कृपा से ही सब कुछ जाना जा सकता है।[6]

---

१. कंकाल, पृष्ठ २८९। २. कानन-कुसुम, पृष्ठ ९२-९३।

३. **सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥**
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन॥
—रामचरितमानस २।१२७।३

४. **हिन्दी-साहित्य का इतिहास। —पं० रामचन्द्र शुक्ल**, पृष्ठ १५६।

५. **चरन कमल बन्दौ हरिराई।**
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे, अंधे कूँ सब कुछ दरसाई।
बहिरौ सुनै मूक पुनि बोले, रंक चलै सिर छत्र धराई। —सू० पं० १।३०

६. **उचित अपनी कृपा कीजै तबहिं जान्यो जाय। —सू० पं०** १।८२

इसी भगवत्कृपा को शैव-मतावलम्बियों ने 'शक्तिपात' कहा है। ज्ञान की प्राप्ति में इस 'शक्तिपात' का अत्यधिक हाथ रहता है। वैष्णव-मत में जिसे भगवान् का अनुग्रह कहा गया है, उसे ही शैव-मत में 'शक्तिपात' बतलाया गया है।[१] गुरूपदेश अथवा आत्मप्रकाश के रूप में 'शक्तिपात' वह शक्ति है जिससे अनुबिद्ध होते ही जीव का हृदय विवेकोन्मुख हो जाता है।[२] इसी 'शक्तिपात' के बल से जीव में ज्ञान-योग्य विचित्रता उत्पन्न होती है[३] और जीव के अन्तर्गत आमर्शयोगिनी अथवा तत्वार्थबोधिनी प्रतिभा जाग्रत होती है।[४] इसका कारण यह है कि 'शक्तिपात' होते ही जीव के समस्त माया-जन्य मल अथवा दोष नष्ट हो जाते हैं।[५] इस शक्तिपात का पता तब चलता है जब जीव के हृदय में प्रेमाभक्ति उदित हो जाती है, क्योंकि भक्ति को ही 'शक्तिपात' का चिह्न माना गया है।[६] भक्ति के उदय होते ही जीव शिव का अनुग्रह प्राप्त कर लेता है और यह अनुग्रह ही 'शक्तिपात' माना गया है।[७] इस तरह शिव का अनुग्रह प्राप्त करते ही अथवा शक्तिपात के बल से जीव पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके पुनः उस परम पद को प्राप्त कर लेता है जहाँ पहुँच कर उसे फिर लौटना नहीं पड़ता।[८] इस तरह शिव ही जीव को बन्धन में डालते है और वे अपने अनुग्रह द्वारा अथवा शक्तिपात द्वारा जीव को बन्धनों से मुक्त कर देते है।[९] परन्तु इस मुक्ति का उपाय विवेक है और उस विवेक की प्राप्ति का उपाय शैवागमों में 'शक्तिपात' बताया गया है।[१०] प्रसाद ने भी इन्हीं आधारों पर भगवान् की कृपा अथवा उनके अनुग्रह अथवा शक्तिपात के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का होना सम्भव माना है, क्योंकि मानव को भगवान् ही मायाजाल में उलझाते है, पाशव वृत्तियों के वशीभूत करते है, जिससे उसकी सारी समझदारी, सारा ज्ञान और सारे क्रमागत

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—केशव-स्मृति-अंक, सं० २००८, वर्ष ५६, अंक ३-४, पृष्ठ ३१२।

२. अनुग्राहक शक्ति संपातः यदनुबिद्ध हृदयो जानो विवेकोन्मुखतामेति।
—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, केशव-स्मृति-अंक, पृष्ठ ३१२।

३. शक्तिपातबलादेव ज्ञानयोग्य विचित्रता।—तन्त्रालोक १३।३२६

४. शिवशक्तिपातवशादेवम् आमर्शयोगिनीप्रतिभाजायते।
—तन्त्रालोक, भाग ८, पृष्ठ १४०।

५. परशक्तिनिपातेन ध्वस्तमायामलः पुमान्।—तन्त्रालोक १३।१६७

६. भक्तिर्हिनाम शक्तिपातस्य प्रथमं चिह्नम्।—तन्त्रालोक, भाग ८, पृष्ठ ५०।

७. तन्त्रालोक १३।११८

८. परशक्तिनिपातेन ध्वस्त मायामलः पुमान्।
परं याति पदं यत्र गत्वा भूयेन जायते॥—तन्त्रालोक, भाग ८, पृष्ठ १०६।

९. तद्वच्छक्तिसमूहेन स एव तु विवेष्टयेत्।
स्वयं बध्नाति देवेशः स्वयं चैव विमुञ्चयेत्॥—तन्त्रालोक १३।१२३

१०. तन्त्रालोक १३।१६५

उच्च सिद्धान्त बुल्लों के समान विलीन हो जाते हैं और उठने लगती हैं भयानक तरंगें।[1] किन्तु जब भगवान् करुणा करते हैं तब जीव को विश्वबोध होता है[2], उसकी मति सुन्दर एवं लोक ललाम बन जाती है[3], उसके दृग-पथ को भ्रान्त बनाने वाली भ्रम-कुहेलिका नष्ट हो जाती है[4] और उसे यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि वह और हम एक हैं, वह हमीं है और हम वह हैं, जीव और ब्रह्म पूर्णतया अभिन्न हैं और इस ज्ञान के होते ही आनन्द-जल की वर्षा होने लगती है।[5] भगवान् की इसी करुणा अथवा कृपा को देखकर प्रसाद ने भगवान् को विज्ञानाकार तथा समस्त ज्ञानों का आधार कहा है।[6] प्रसाद का दृढ़ विश्वास है कि वह ज्योतिष्पथ का स्वामी असहाय जीव को विश्व-रजनी में प्रकाश प्रदान करता है[7], सत्य-पथ का निर्धारण करता है और प्रसन्न होकर उदारता के साथ जीव के सम्पूर्ण विश्व-बंधनों को काट देता है।[8] भगवान् की कृपा से सभी प्रकार के अभाव दूर हो जाते हैं[9], प्राणी सभी प्रकार की सफलता प्राप्त करता है[10], उसके बड़े-बड़े दु:साध्य कार्य पूर्ण हो जाते हैं[11] और वह मंगलमय प्रभु अप्रत्याशित एवं अप्रकटित रूप में सदैव विश्व का कल्याण ही करता रहता है।[12] भगवान् की जब कृपा होती है तब जीव से हृदय का चैतन्य-सागर निस्तरंग हो जाता है और उसको ज्ञान-ज्योति निर्मल हो उठती है।[13] इतना ही नहीं, भगवान् की अनुकम्पा से ही असत्य के द्वारा उत्पन्न समस्त मिथ्या ज्ञान दूर होता है और समरस अखंड आनन्द वेशधारी शिव या ब्रह्म का ज्ञान होता है।[14] उस शक्ति-शरीरी की अनुकम्पा होते ही उसके तीव्र ज्ञान के आलोक में जीव के समस्त पाप-शाप का विनाश हो जाता है[15] और जीव को सर्वत्र ज्ञान से धवल प्रकाश का कल्लोल दिखाई देता है।[16] यही कारण है कि प्रसाद ने ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में भगवत्कृपा अथवा शक्तिपात का भी महत्व स्वीकार किया है।

---

१. **विशाख**, पृष्ठ ८८।
२. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६०।
३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ५९।
४. **वही**, पृष्ठ १४।
५. **वही**, पृष्ठ ३२।
६. **जो विज्ञानाकार है ज्ञानों का आधार है।**
नमस्कार सदनन्त को ऐसे बारम्बार है। —**कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।
७. **करुणालय**, पृष्ठ १९।
८. **करुणालय**, पृष्ठ २०।
९. **प्रेम-पथिक** पृष्ठ ३।
१० **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ९७।
११. **छाया**, पृष्ठ ६१, ६४।
१२. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २३।
१३. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २४५।
१४. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
१५. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
१

मोक्ष-प्राप्ति में समरसता का महत्व

शैव-दर्शन में समरसता अथवा सामरस्य का अत्यन्त विशद विवेचन मिलता है। स्वच्छन्द-तन्त्र में जीव की शून्यावस्था को समरसता कहा गया है[1] और लिखा है कि जिसमें समान रस हो, ऐसे लोलीभाव या अभेदावस्था को समरसता कहते हैं।[2] साथ ही इस समरसता का उदाहरण देते हुए वहाँ बताया गया है कि जिस तरह एक नदी समुद्र में मिलकर अभेद एवं अभिन्नत्व को प्राप्त होती है और उस नदी तथा समुद्र में कोई भी भिन्नता नहीं रहती, उसी तरह जब जीवात्मा शिव या परमात्मा के साथ अभेद एवं अभिन्नत्व की अवस्था को प्राप्त हो जाता है, उसी अवस्था को समरसता कहते है।[3] नेत्रतन्त्र में बताया गया है कि जिस क्षण योगी को यह अनुभव होता है कि न तो मैं हूँ, न कोई अन्य है, न कोई यहाँ ध्याता है और न ध्येय है, उस क्षण योगी का मन जिस आनन्दावस्था में लीन हो जाता है, उसे समरसता कहते हैं।[4] श्री उत्पलदेव ने लिखा है कि न तो शिव-शक्ति के बिना कोई कार्य आज तक हुआ और न कोई कार्य होता है, अपितु सम्पूर्ण पदार्थों के आविर्भाव एवं तिरोभाव के समय सदैव शिव-शक्ति अखंड रूप में विद्यमान रहती है। अतएव महासर्ग के आरम्भ की भाँति पदार्थों के निर्वाण होने पर भी परमेश्वर के अखण्ड रूप में विद्यमान रहने की स्थिति को समरमता कहते हैं।[5] शिव-सूत्र-विमर्शिनी के अनुसार शिव और शक्ति मथ्यमन्थक भाव से परस्पर संघटित होकर इच्छा, क्रिया और ज्ञान इन तीनों में सामरस्य लाकर उल्लास या आनन्द का जो नवनीत उत्पन्न करते हैं यही शिव-शक्ति के सामरस्य की अवस्था समरसता है।[6]

शैवों के लिंगायत-दर्शन में भी समरमता का वर्णन मिलता है। लिंगायत दार्शनिकों का विचार है कि शिव में शक्ति समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहती है। वे इसी समवाय सम्बन्ध को सामरस्य कहते हैं, जिसका अर्थ है उसी रूप को प्राप्त हो जाना। वे सामरस्य को तादात्म्य से पृथक् मानते थे, क्योंकि उनका विचार है कि सामरस्य या समरसता शब्द सम और रस से बना है। अतएव दो भिन्न-

---

१. शून्यं समरसं ज्ञेयं । —स्वच्छन्दतन्त्र ४।२३२

२. समो रसो यस्मिन् स समरसो लोलीभावः ॥ —स्वच्छन्दतन्त्र, पृष्ठ १६१ ।

३. स्वच्छन्दतन्त्र, भाग २, पृष्ठ २७६-२७७ ।

४. नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते ।
आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम् ॥ —नेत्रतन्त्र, भाग १, पृष्ठ १६८ ।

५. यदेकतरनिर्याणे कार्यं जातु न जायते ।
तस्मात्सर्वपदार्थानां सामरस्यमवस्थितम् ॥ —शिवदृष्टि १।२३

६. परैव सूक्ष्मा अमाकलारूपा कुण्डलिनी शक्तिः शिवेन सह परस्परसमरस्यरूप-मथ्यमंथकभावात्मकम् संघट्टमासाद्य उत्थिता सती, इच्छाज्ञानक्रियारूपता-माश्रित्य रौद्रीत्वमुन्मुद्रयन्ती····वर्णशरीरमुल्लासयति ।
—शिव-सूत्र-विमर्शिनी, पृष्ठ ५३ ।

भिन्न मात्राओं के द्रव का एक द्रव या एक रस के रूप में परिणत हो जाना 'सम-रसता' या 'सामरस्य' कहलाता है। जैसे एक पात्र में पाँच सेर दूध है और दूसरे पात्र में दस सेर दूध है। जब इन दोनों पात्रों के दूध को मिला दिया जाय तो यह सामरस्य कहलायेगा। इस दृष्टि से एक ही पदार्थ का दो भिन्न-भिन्न मात्राओं में से एक मात्रा में हो जाना समरसता है, दो भिन्न-भिन्न पदार्थों का मिलना समरसता नहीं है। जैसे यदि पाँच सेर दूध में पाँच सेर पानी मिला दिया जाय, तो यह मिलन सामरस्य नहीं, अपितु 'तादात्म्य' कहलायेगा। इस प्रकार दूध से दूध अथवा पानी से पानी का मिलकर एक रस होना सामरस्य कहलाता है और दूध से पानी का मिलकर एक रस होना तादात्म्य होता है। इसी तरह जीवात्मा और परमात्मा दोनो मिलकर जब एक हो जाते है तब उनके इस अविभाज्य संयोग को सामरस्य कहते है।[१] श्री शंकराचार्य ने भी 'समरसपरानन्दपरयोः' कहकर जीव और ब्रह्म की एकता से प्राप्त परानंद की अवस्था को 'समरसता' माना है।[२] महानिर्वाण-तन्त्र में शिव और शक्ति की एकाकार स्थिति को सामरस्य कहा गया है।[३]

अभिनवगुप्ताचार्य ने इस समरसता का अत्यन्त विशद विवेचन किया है। आपने लिखा है जिस समय जीव सतत प्रयत्न द्वारा अनुत्तर पथ में आरूढ़ होता है, उस समय उसके हृदय में अद्वैत एवं अभेद भाव उत्पन्न होता है, परमार्थ का उदय होता है, उसके समस्त कालुष्य आदि नष्ट हो जाते हैं और वह पूर्णानंद की स्थिति में पहुँच जाता है।[४] इस तरह जीव का आनन्द-शक्ति में लीन हो जाना 'समरसता' कहलाता है।[५] तंत्रालोक के टीकाकार जयरथ ने स्पष्ट किया है कि जीव की अनुत्तरावस्था ही समरसता है, क्योंकि इसी अवस्था में पहुँचकर जीव पूर्णानन्द-चमत्कार-घन-शिव द्वारा सर्वातिशायिनी चिति-विकासात्मवृत्ति के मार्ग में स्थित हो जाता है और उसे स्व-रस की उपलब्धि हो जाती है। अतएव स्व-रस के अवस्थान की भाँति ही जब जीव स्व-रूप में अवस्थित हो जाता है तब जीव की उसी ब्रह्म से एकाकार स्थिति को सामरस्य कहते हैं।[६] इस तरह अभिनवगुप्ताचार्य के मतानुसार समरसता चित्त की वह स्थिति है जिस समय चित्त में द्वैत या भेद से उन्मनी स्थिति पैदा हो जाती है और चित्त यह जानने लगता है कि कहीं भी द्वैत या भेद नहीं है, अपितु सर्वत्र अद्वैत एवं अभेद है।[७] इस अवस्था में पहुँचते ही जीव का प्राण, अपान आदि के साथ भी पूर्ण संयोग हो जाता है और इस तरह उसके चित्त, प्राण आदि का

---

१. **क्षीर-क्षीर संयोगवत् सामरस्यम्। नीर नीर संयोगवत् अविभाज्य संयोगः।**
—**लिंगधारणचन्द्रिका**, पृष्ठ ४३७।

२. **सौन्दर्यलहरी**, ३४। ३. **महानिर्माण-तन्त्र** ६।४३

४. **तन्त्रालोक** २।३४

५. **आनन्दशक्ति विश्रान्तो योगी समरसो भवेत्**। —**तन्त्रालोक, भाग** १, पृष्ठ २६।

६. **तंत्रालोक, भाग** १, पृष्ठ २८-२६।

७. **चित्ते समरसीभूते द्वयोरौन्मनसीस्थितिः**। —**तन्त्रालोक** २६।२७४

पूर्ण सामरस्य होने ही वह जीव तन्मयी अवस्था को प्राप्त कर लेता है[1] तथा उसे यह प्रतीति होने लगती है और रवि भी शिव है, वह्नि भी शिव है, पुरोहित भी शिव है, सम्पूर्ण देवता भी शिव हैं और यह अखिल जगत् भी शिव है।[2] बोधसार में श्री नरहरिस्वामी ने भी यही लिखा है कि जिस प्रकार परस्पर अनन्य प्रेम रखने वाले दम्पत्ति का द्वैतभाव उनके समरस हो जाने पर नष्ट हो जाता है और वे समरसता के आनंद में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के समरस होते ही उनका कल्पित द्वैत मिट जाता है और वे समरसता के अखण्ड आनन्द में लीन हो जाते हैं।[3] इस तरह जीव और ब्रह्म की पूर्ण अभेदावस्था 'समरसता' कहलाती है।

प्रसाद ने भी उक्त दार्शनिक विचारों के आधार पर हो समरसता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और लिखा है कि समरसता शांत रस के निस्तरंग महोदधि के समान है, जैसे रति आदि अनेक भाव आकर शान्त रस में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही अनेक जीवों का परम शिव रूपी महोदधि में विलीन होकर जीवात्मा एवं परमात्मा का एक हो जाना समरसता कहलाता है।[4] इस समरसता की अवस्था में जीव का केवल परम शिव के साथ ही नहीं, अपितु समग्र विश्व के साथ भी पूर्ण सामरस्य होता है।[5] इस सामरस्य के होते ही जीव जिस अभेदमय आनन्द-रस का रसास्वादन करता है, रस की उसी पूर्ण चमत्कारमयी स्थिति को समरसता कहते हैं।[6] इस तरह पूर्ण अभेद की स्थिति ही समरसता है, जिसे प्राप्त करके जीव विराट् विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि सबको एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा का अनुभव करता है[7] और जड़ या चेतन सबको समरस मानता हुआ तथा सर्वत्र एक चेतनता का क्रीड़ा-विलास देखता हुआ अखण्ड आनंद में लीन हो जाता है।[8]

विषमता

इस समरसता के ठीक विपरीत जीव की स्थिति को विषमता कहते हैं। जब जीव माया के कंचुकों तथा विविध मलों से आवृत होकर विराट् विश्व और विश्वात्मा,

---

१. शशिभास्कर संयोगे जीवस्तन्मयतां व्रजेत्। —तंत्रालोक २९।२७५

२. शिवो रविः शिवो वह्निः पक्तृत्वात्स पुरोहितः।
तत्रस्था देवताः सर्वा द्योतयन्त्योऽखिलं जगत्। —तंत्रालोक ३२।२५

३. जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दाम्पत्यो जीवात्मपरमात्मनो। —बोधसार, पृष्ठ १०७।

४. का० नि०, पृष्ठ ७८।

५. वही, पृष्ठ ७९।

६. वही, पृष्ठ ७६।

७. कामना, पृष्ठ ९८।

८. कामायनी, पृष्ठ २९४।

ईश्वर और सृष्टि आदि के साथ होने वाली सामरस्यमयी सुखद क्रीडा के अनुभव को भूल जाता है, तभी विषमता का विषमय द्वन्द्व होने लगता है, सर्वत्र हाहाकार और रुदन फैल जाता है, पशुता का आतंक छा जाता है, मनुष्यता की रक्षा और पाशवी वृत्तियो का दमन करने के लिए राज्यों की अवतारणा होती है और उसकी आड़ में नये-नये अपराधों की सृष्टि होती है।[1] यह विषमता बड़ी भयंकर है। यही विश्व में भेद की सृष्टि करती है, इस विषमता की पीड़ा से बेचैन होकर ही सारा विश्व स्पंदित दिखाई देता है और यही जगत् के दुःख-सुख को जन्म देने वाली है।[2] इस विषमता के भयंकर प्रभाव से ही नित्य समरसता का अधिकारी जीव विषम परिस्थिति में फँस जाता है, उसके समस्त सुख व्यथा की नीली लहरों में मणियों के समान बिखर जाते है।[3] यह विषमता जीव को अत्यन्त संकुचित बना देती है। इसी कारण विषमता लघुत्व की सूचक है और समरसता महत्व या स्वतन्त्रावस्था की द्योतक है। प्रथम लघुत्व या संकुचितावस्था जीवात्मा की ओर संकेत कर रही है और दूसरी महत्व या स्वतन्त्रावस्था ब्रह्म की द्योतक है। छांदोग्य उपनिषद् में इसीलिए लिखा है कि अल्प या लघुत्व में सुख नहीं है, अपितु जो भूमा है, महान् है, महत्वशाली है वही सुख है।[4] प्रसाद ने भी इसी कारण सुखदुःखात्मक जगत् को 'भूमा का मधुमय दान'[5] कहकर यह संकेत किया है कि जिस विषमता से यह जगत् स्पंदित हो रहा है उसी विषमता को यदि दूर कर दिया जाय, तो इसी जगत् में जीव को समरसता प्राप्त हो सकती है और वह सुखी एवं आनन्द-मग्न हो सकता है।

विषमता के तीन रूप

जीव को समरसता की ओर उन्मुख होने से रोकने वाली इस विषमता को प्रसाद ने तीन रूपों में अंकित किया है—वैयक्तिक विषमता, पारिवारिक विषमता और सामाजिक विषमता। वैयक्तिक विषमता से तात्पर्य व्यक्ति के मन, चित्त, हृदय आदि में व्याप्त उस विषमता से है, जिसके फलस्वरूप वह कभी चैन से नहीं बैठता।

---

१. **कामना**, पृष्ठ ६८।

२. **विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान,**
यही दुख सुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान।
—**कामायनी**, पृष्ठ ५४।

३. **नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण जलधि समान,**
व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।
—**कामायनी**, पृष्ठ ५४।

४. **नाल्पे सुखमस्ति, भूमा वै सुखम्। —छांदोग्य उपनिषद्** ७।२३

५. **कामायनी**, पृष्ठ ५४।

वह सोचता कुछ है और करता कुछ है। उसके मन और बुद्धि साथ-साथ कार्य नहीं करते, अपितु उसकी इच्छायें तो कुछ होती हैं, उसे ज्ञान कुछ है और वह करता और ही कुछ है। इस तरह इच्छा, ज्ञान और क्रिया में परस्पर एकता न होने के कारण उसका जीवन विडम्बनाओं में फँसा रहता है और उसकी अभिलाषायें कभी पूर्ण नहीं होती।[१] दूसरी, पारिवारिक विषमता से प्रसाद का तात्पर्य उस वैषम्य से है, जिसके फलस्वरूप भाई, भाई से लड़ने को तैयार रहता है, पुत्र पिता से विद्रोह करता है, स्त्रियाँ पतियों पर प्रेम नहीं अपितु शासन करना चाहती हैं[२] और पति पुरुषत्व के मोह में यह भूल जाता है कि नारी की भी कुछ सत्ता है।[3] इसके फलस्वरूप परिवारों में घोर संघर्ष, कलह तथा विद्रोह उठ खड़े होते हैं, परस्पर छीना-झपटी और स्वार्थ-साधन में लिप्त होकर पारिवारिक सदस्य अपनी सहज-प्राप्य अन्तरात्मा की सुख-शान्ति को खो बैठते हैं, राजमंदिर तक बंदीगृह में बदल जाते हैं और जिनका परिवार में सौहार्द्र के साथ आतिथ्य होना चाहिए, उन्हें लोग बन्दी बनाकर रखते हैं।[४] तीसरी, सामाजिक विषमता से प्रसाद का तात्पर्य उस वैषम्य से है जिसके कारण समाज एवं राष्ट्रों में अधिकारों की सृष्टि होती है, विविध वर्गों का निर्माण होता है और फिर अधिकार-पद के चढ़ते ही वर्ग-भेद की ऐसी खाई बनती चली जाती है, जो कभी जुड़ने का नाम नहीं लेती।[५] इतना ही नहीं, इसी विषमता के कारण देश में धनवान और निर्धन, शासकों का तीव्र तेज और दीनों की विनम्र दयनीय दासता, सैनिक बल का प्रचंड प्रताप और किसानों की भारवाही पशु की-सी पराधीनता, ऊँच और नीच, अभिजात और बर्बर आदि का निर्माण होता है, जिसके परिणामस्वरूप विश्व और विश्वात्मा, राजा और प्रजा, शासक और शासित, अधिकारी और अधिकृत सबकी एकता नष्ट हो जाती है और सर्वत्र संघर्ष एवं कोलाहल फैल जाता है।[६] इस तरह विषमता अपनी भयंकर एवं दारुण स्थिति उत्पन्न करके जीव को जगत् के कोलाहल में फँसा लेती है और वह विषमता की उलझन में पड़कर समरसता के उन्मुक्त वातावरण में साँस नहीं ले पाता।

समरसता के तीन रूप

मुमुक्षु जीव को विषमता के पाश से मुक्त करने के लिए प्रसाद ने समरसता के भी तीन रूप निर्धारित किए हैं—वैयक्तिक समरसता, पारिवारिक समरसता, और सामाजिक समरसता। वैयक्तिक समरसता से प्रसाद का तात्पर्य उस सामरस्य से है, जिसके कारण जीव अपनी इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति में एकरूपता स्थापित करके जीवन की बिडम्बनाओं का शिकार नहीं बनता, अपितु वह अपने मन,

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २७२।

२. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ११३। ३. **कामायनी**, पृष्ठ १६२।

४. **वही**, पृष्ठ ११३। ५. **वही**, पृष्ठ १८६।

६. **कामना**, पृष्ठ ९८।

चित्त, बुद्धि आदि पर संयम रखकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, उसे जगत् की सम्पूर्ण वैयक्तिक विषमताओं का ज्ञान हो जाता है और वह उनका परित्याग करके अपनी ही आत्मा में उस महाचिति का दिव्य अनाहत नाद सुनने लगता है, उसकी स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत तीनों अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं; इच्छा, ज्ञान और क्रिया मिलकर एक हो जाती हैं तथा वह परम श्रद्धा के साथ ब्रह्म या शिव के साथ एकाकार होकर तन्मयी अवस्था अथवा समाधि अवस्था में लीन हो जाता है।[१]

दूसरी, पारिवारिक समरसता से तात्पर्य यह है कि जीव को परिवार के सभी व्यक्तियों के साथ निश्छल एवं निःस्वार्थ आत्मीयता का व्यवहार करना चाहिए, उसे कभी किसी पारिवारिक सदस्य को पराया नहीं समझना चाहिए, अपितु सबको एक कुटुम्बी के रूप मे अपना ही पूर्ण अवयव मानना चाहिए।[२] आज नारी को आर्थिक पराधीनता के कारण जब हम स्नेह करने के लिए बाध्य करते हैं तो उसके मन में सहज विद्रोह की भावना जगती है और इसी स्नेह एवं विद्रोह के कारण प्रत्येक कुटुम्ब में द्वन्द्व उत्पन्न होता है।[३] अतएव पुरुष को यह जानना चाहिए कि परिवार में नारी का भी महत्व है, उसकी भी कुछ सत्ता है और उसके भी कुछ अधिकार हैं।[४] अतः पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-भाई, अधिकारी और अधिकृत आदि में पुनीत सम्बन्ध स्थापित कराने में समरसता का ही सर्वाधिक हाथ रहता है, क्योंकि इसी के फलस्वरूप जीव सबके साथ आत्मीयता का वर्ताव कर सकता है।

तीसरी, सामाजिक समरसता से तात्पर्य जीव की उस स्थिति से है, जिसमें वह समाज के प्रत्येक प्राणी को अपना आत्मीय समझता है, किसी के प्रति कोई द्वेष एवं मनोमालिन्य नहीं रखता और अपनी उस छूँछी महत्ता का परित्याग कर देता है, जिस पर इतराता हुआ वह दूसरे को नीचा—अपने से छोटा समझता है और जिससे सामाजिक विषमता का विषमय प्रभाव फैला करता है।[५] इतना ही नहीं, जब कोई जीव समाज के साथ समरस हो जाता है, तब उसे समाज में कोई भी शापित एवं तापित पापी नहीं दिखाई देता, जीवन-वसुधा समतल प्रतीत होती है और सभी प्राणी, जो जहाँ पर हैं, समरस जान पड़ते हैं।[६] उसे फिर सबकी सेवा करना भी कोई

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २७३।
२. **वही**, पृष्ठ २८७।
३. **तितली**, पृष्ठ १४८।
४. **तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की**
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।
—**कामायनी**, पृष्ठ १६२।
५. **कंकाल**, पृष्ठ २८१।
६. **शापित न यहाँ है कोई तापित पापी न यहाँ है,**
जीवन वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।
—**कामायनी**, पृष्ठ २८८।

वह सोचता कुछ है और करता कुछ है। उसके मन और बुद्धि साथ-साथ कार्य नहीं करते, अपितु उसकी इच्छायें तो कुछ होती हैं, उसे ज्ञान कुछ है और वह करता और ही कुछ है। इस तरह इच्छा, ज्ञान और क्रिया में परस्पर एकता न होने के कारण उसका जीवन विडम्बनाओं मे फँसा रहता है और उसकी अभिलाषायें कभी पूर्ण नहीं होती।[1] दूसरी, पारिवारिक विषमता से प्रसाद का तात्पर्य उस वैषम्य से है, जिसके फलस्वरूप भाई, भाई से लड़ने को तैयार रहता है, पुत्र पिता से विद्रोह करता है, स्त्रियाँ पतियों पर प्रेम नहीं अपितु शासन करना चाहती हैं[2] और पति पुरुषत्व के मोह में यह भूल जाता है कि नारी की भी कुछ सत्ता है।[3] इसके फलस्वरूप परिवारों में घोर संघर्ष, कलह तथा विद्रोह उठ खड़े होते हैं, परस्पर छीना-झपटी और स्वार्थ-साधन में लिप्त होकर पारिवारिक सदस्य अपनी सहज-प्राप्य अन्तरात्मा की सुख-शान्ति को खो बैठते हैं, राजमंदिर तक बंदीगृह में बदल जाते हैं और जिनका परिवार में सौहार्द्र के साथ आतिथ्य होना चाहिए, उन्हें लोग बन्दी बनाकर रखते हैं।[4] तीसरी, सामाजिक विषमता से प्रसाद का तात्पर्य उस वैषम्य से है जिसके कारण समाज एवं राष्ट्रों में अधिकारों की सृष्टि होती है, विविध वर्गो का निर्माण होता है और फिर अधिकार-पद के चढ़ते ही वर्ग-भेद की ऐसी खाई बनती चली जाती है, जो कभी जुड़ने का नाम नहीं लेती।[5] इतना ही नहीं, इसी विषमता के कारण देश में धनवान और निर्धन, शासकों का तीव्र तेज और दीनों की विनम्र दयनीय दासता, सैनिक बल का प्रचंड प्रताप और किसानों की भारवाही पशु की-सी पराधीनता, ऊँच और नीच, अभिजात और बर्बर आदि का निर्माण होता है, जिसके परिणामस्वरूप विश्व और विश्वात्मा, राजा और प्रजा, शासक और शासित, अधिकारी और अधिकृत सबकी एकता नष्ट हो जाती है और सर्वत्र संघर्ष एवं कोलाहल फैल जाता है।[6] इस तरह विषमता अपनी भयंकर एवं दारुण स्थिति उत्पन्न करके जीव को जगत् के कोलाहल में फँसा लेती है और वह विषमता की उलझन में पड़कर समरसता के उन्मुक्त वातावरण में साँस नहीं ले पाता।

समरसता के तीन रूप

मुमुक्षु जीव को विषमता के पाश से मुक्त करने के लिए प्रसाद ने समरसता के भी तीन रूप निर्धारित किए हैं—वैयक्तिक समरसता, पारिवारिक समरसता, और सामाजिक समरसता। वैयक्तिक समरसता से प्रसाद का तात्पर्य उस सामरस्य से है, जिसके कारण जीव अपनी इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति में एकरूपता स्थापित करके जीवन की विडम्बनाओं का शिकार नहीं बनता, अपितु वह अपने मन,

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २७२।

२. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ११३। ३. **कामायनी**, पृष्ठ १६२।

४. **वही**, पृष्ठ ११३। ५. **वही**, पृष्ठ १८६।

६. **कामना**, पृष्ठ ६८।

चित्त, बुद्धि आदि पर संयम रखकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, उसे जगत् की सम्पूर्ण वैयक्तिक विषमताओं का ज्ञान हो जाता है और वह उनका परित्याग करके अपनी ही आत्मा में उस महाचिति का दिव्य अनाहत नाद सुनने लगता है, उसकी स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत तीनों अवस्थाएँ नष्ट हो जाती है; इच्छा, ज्ञान और क्रिया मिलकर एक हो जाती हैं तथा वह परम श्रद्धा के साथ ब्रह्म या शिव के साथ एकाकार होकर तन्मयी अवस्था अथवा समाधि अवस्था में लीन हो जाता है।[1]

दूसरी, पारिवारिक समरसता से तात्पर्य यह है कि जीव को परिवार के सभी व्यक्तियों के साथ निश्छल एवं निःस्वार्थ आत्मीयता का व्यवहार करना चाहिए, उसे कभी किसी पारिवारिक सदस्य को पराया नहीं समझना चाहिए, अपितु सबको एक कुटुम्बी के रूप मे अपना ही पूर्ण अवयव मानना चाहिए।[2] आज नारी को आर्थिक पराधीनता के कारण जब हम स्नेह करने के लिए बाध्य करते हैं तो उसके मन में सहज विद्रोह की भावना जगती है और इसी स्नेह एवं विद्रोह के कारण प्रत्येक कुटुम्ब में द्वन्द्व उत्पन्न होता है।[3] अतएव पुरुष को यह जानना चाहिए कि परिवार में नारी का भी महत्व है, उसकी भी कुछ सत्ता है और उसके भी कुछ अधिकार हैं।[4] अतः पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-भाई, अधिकारी और अधिकृत आदि में पुनीत सम्बन्ध स्थापित कराने में समरसता का ही सर्वाधिक हाथ रहता है, क्योंकि इसी के फल-स्वरूप जीव सबके साथ आत्मीयता का बर्ताव कर सकता है।

तीसरी, सामाजिक समरसता से तात्पर्य जीव की उस स्थिति से है, जिसमें वह समाज के प्रत्येक प्राणी को अपना आत्मीय समझता है, किसी के प्रति कोई द्वेष एवं मनोमालिन्य नहीं रखता और अपनी उस छूँछी महत्ता का परित्याग कर देता है, जिस पर इतराता हुआ वह दूसरे को नीचा—अपने से छोटा समझता है और जिससे सामाजिक विषमता का विषमय प्रभाव फैला करता है।[5] इतना ही नहीं, जब कोई जीव समाज के साथ समरस हो जाता है, तब उसे समाज में कोई भी शापित एवं तापित पापी नहीं दिखाई देता, जीवन-वसुधा समतल प्रतीत होती है और सभी प्राणी, जो जहाँ पर हैं, समरस जान पड़ते हैं।[6] उसे फिर सबकी सेवा करना भी कोई

१. **कामायनी**, पृष्ठ २७३।
२. **वही**, पृष्ठ २८७।
३. **तितली**, पृष्ठ १४८।
४. **तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की**
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।
—**कामायनी**, पृष्ठ १६२।
५. **कंकाल**, पृष्ठ २८१।
६. **शापित न यहाँ है कोई तापित पापी न यहाँ है,**
जीवन वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।
—**कामायनी**, पृष्ठ २८८।

पराया कार्य नहीं प्रतीत होता, अपितु अपना ही सुखद कार्य जान पड़ता है। वह अणु-अणु, कण-कण को अपना ही जानने लगता है और जो द्वयता भेद-भाव उत्पन्न करती है, उसे वह भूल जाता है।[1] इतना ही नहीं, वह सम्पूर्ण भेद-भाव को भूलकर और जगत् के दुःख-सुख को दृश्य बनाता हुआ अपने वास्तविक रूप को जान लेता है और इस विश्व में इस तरह निवास करता है, जिस तरह किसी नीड़ में पक्षी रहते हैं अर्थात् उसके लिए सम्पूर्ण वसुधा एक कुटुम्ब बन जाती है, वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से युक्त होकर जीवन-यापन करता है और उसे समस्त प्राणी अपनी आत्मा का ही रूप जान पड़ते है।[2]

इस प्रकार जीव वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक तीनों प्रकार की समरसता को ग्रहण करके आत्मसंयम एवं आत्मशासन की शिक्षा प्राप्त करता है, अपने ऐहिक जीवन को सार्थक एवं सुखी बनाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासक का भेद विलीन हो जाता है और वह विराट् विश्व, जाति और देश के वर्णो से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन क्रीड़ा का अभिनय करता है।[3] वह दया, सहानुभूति और प्रेम के साथ व्यवहार करता हुआ आत्म-नियंत्रण द्वारा प्रकृति में व्याप्त विषमता में व्यावहारिक समता लाने का प्रयत्न करता है और आत्मवाद का प्रचार करता है।[4] यह किसी को भी अछूत, पापी एवं लघु न समझ कर एवं सर्वभूतहित-रत होकर भगवान् के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है।[5] वह संसृति की निःस्वार्थ सेवा करता हुआ सन्तोष और सुख देकर सबकी दुःख-ज्वाला हरता है।[6] वह अखिल विश्व को एक सम्पूर्ण सत्य मानकर मानवता का प्रचार करता हुआ सबको अपनी समता में लाने का प्रयत्न करता है।[7] वह जड़ या चेतन सभी पदार्थों के साथ समरस होकर सर्वत्र एक चेतनता को विलास करती हुई देखता है तथा अखंड आनंद में लीन होता है।[8]

---

१. **सब की सेवा न पराई वह अपनी सुख संसृति है,**
अपना ही अणु-अणु कण-कण द्वयता ही तो विस्मृति है।
—**कामायनी**, पृष्ठ २८६।

२. **सब भेद भाव भुलवा कर दुख सुख को दृश्य बनाता,**
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ' यह विश्व नीड़ बन जाता।
—**कामायनी**, पृष्ठ २८६।

३. **कामना**, पृष्ठ ६८। ४. **तितली**, पृष्ठ १३०।

५. **कंकाल**, पृष्ठ २८२।

६. **वे युगल वहीं अब बैठे संसृति की सेवा करते,**
सन्तोष और सुख देकर सब की दुख ज्वाला हरते। —**कामायनी**, पृष्ठ २८२।

७ **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १३।

८. **समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,**
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था। —**कामायनी**, पृष्ठ २६४।

अतएव प्रसाद ने जहाँ मोक्ष को अखंड आनन्द-स्वरूप माना है, वहाँ समरसता को उस आनन्द-शिखर तक पहुंचने का सोपान स्वीकार किया है। यही कारण है कि बिना समरसता को प्राप्त किए हुए कोई भी जीव मुक्तावस्था या मोक्ष अथवा आनन्दावस्था को प्राप्त नहीं कर सकता, इसी हेतु मोक्ष-प्राप्ति में समरसता का अत्यधिक महत्व है और इस समरसता की प्राप्ति के उपरान्त ही जीव को अखंड आनन्द की उपलब्धि होती है।

आनन्दवाद

जीवन का मूल उद्देश्य है—दुःख की निवृत्ति और सुख अथवा आनन्द की प्राप्ति; क्योंकि जगत् का प्रत्येक जीव दुःख की निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए ही सदैव प्रयत्नशील रहता है। जब भौतिक जीवों की यह दशा है, तब मुमुक्षु एवं आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने वाले जीव तो दुःख की निवृत्ति के साथ-साथ उस अखंड आनन्द की प्राप्ति के लिए भी प्रयत्नशील देखे जाते हैं, जहाँ पहुंचने पर अथवा जिस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर फिर और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता। प्रसाद ने इसी अन्तिम स्थिति को अथवा जीव की मुक्तावस्था को आनन्द की स्थिति कहा है।[1] प्रसाद आनन्दवाद के अनुयायी हैं, क्योंकि उनके हृदय पर उपनिषदों तथा शैवों के आनन्दवाद की गहन छाप पड़ी है। इसी छाप के कारण प्रसाद का मोक्ष सम्बन्धी विचार भी यही है कि जीव अपने सतत प्रयत्नों द्वारा उस अखंड एवं गहन आनन्द को प्राप्त करे, जिसे पाकर वह कृतकृत्य हो जाता है, जिसे प्राप्त करके वह समरसता की स्थिति में पहुंच जाता है और वह चिदानंदघन शिव हो जाता है। प्रसाद ने इसी कारण अपने आरम्भिक काव्य 'प्रेम-पथिक' में स्पष्ट लिखा है कि इस पथ का उद्देश्य किसी श्रान्त-भवन में विश्राम करना नहीं है, किन्तु उस सीमा तक पहुँचना है जिसके आगे राह नहीं है अथवा उस आनन्द-भूमि में पहुँचना है जिसकी सीमा कहीं नहीं है।[2]

प्रसाद के इस आनन्दवाद का मूल उपनिषदों में विद्यमान है। तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द में ही जीवन-यापन करते हैं और इस लोक से प्रस्थान करके अन्त में आनन्द में ही सब प्रवेश कर जाते हैं।[3] मुंडकोपनिषद् में भी ब्रह्म को आनंद-

---

१. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५।

२. **इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,**
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं,
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।
—**प्रेम पथिक**, पृष्ठ १६–१७।

३. **आनन्दो ब्रह्मेति। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। —तै० उ० ३।६**

स्वरूप बताया गया हैं।[१] इसी आनन्द या सुख को छांदोग्य उपनिषद् में भी ब्रह्म कहा गया है और बताया गया है कि निश्चय ही जो भूमा है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। सुख भूमा ही है। अतः भूमा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।[२] इस पूर्ण सुख-स्वरूप ब्रह्म या चिति को प्रसाद ने भी भूमा कहा है।[३] श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी ब्रह्म को शन्तम अथवा सुखतम अथवा पूर्णानन्दमयी मूर्ति माना है।[४]

शैवों के दार्शनिक ग्रन्थों में तो ब्रह्म या शिव को स्पष्ट ही स्थान-स्थान पर परमानन्द-स्वरूप माना गया है। नेत्रतन्त्र में लिखा है कि शिव आनन्द-स्वरूप हैं।[५] ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा में शिव को चिदानन्दघन बताया गया है।[६] प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में स्थान-स्थान पर शिव को चिदानन्दघन तथा परमानन्द-स्वरूप कहा गया है[७] और बताया गया है कि जीव जिस समय चिदानन्द को प्राप्त कर लेता है उसी समय जीवन्मुक्त हो जाता है अर्थात् चिदानन्द की प्राप्ति ही जीवन्मुक्ति है।[८] तंत्रालोक में भी आचार्य अभिनवगुप्त ने शिव को अखंड आनन्द-स्वरूप अथवा चिदानन्द-स्वरूप स्वीकार किया है और प्राणायाम की विधि द्वारा आनन्द-प्राप्ति का उल्लेख करते हुए बताया है कि वैसे तो जीव निरानन्द रहता है, किन्तु योग-साधन करता हुआ जब वह प्राणायाम द्वारा प्राण-वायु में प्रवेश करता है तब उसे 'परानन्द' की प्राप्ति होती है, अपान-वायु में प्रवेश करने पर उसे 'अपरानन्द' की अवस्था प्राप्त होती है, समान-वायु में प्रवेश करने पर 'ब्रह्मानन्द' की अवस्था प्राप्त होती है, उदान-वायु में प्रवेश करने पर 'महानन्द' की अवस्था प्राप्त होती है और व्यान-वायु में प्रवेश करते ही वह समस्त उपाधियों से रहित 'चिदानन्द' की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[९] इस कथन द्वारा अभिनवगुप्ताचार्य ने 'ब्रह्मानन्द' की अवस्था को 'चिदानन्द' की अवस्था से निम्नकोटि का स्वीकार किया है और इसी कारण प्रसाद ने केवल आनंद

---

१. आनन्दरूपममृतं यद्विभाति। —मुंडकोपनिषद् २।७

२. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। —छां० उ० ७।२३

३. कामायनी, पृष्ठ ५४; चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १०२।

४. शन्तमया सुखतमया पूर्णानन्दरूपया गिरिशन्त।- —श्वे० उ०, शांकर भाष्य, पृष्ठ १६६।

५. यत्तत्तदिति ब्रह्म परमानन्द रूपम्। —नेत्रतंत्र, भाग २, पृष्ठ २६।

६. शिव : चिदानन्दघनः। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ४।१।१४

७. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ ८, १६, २८।

८. चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र १६

९. तंत्रालोक. ५।४४-४६

की प्राप्ति को मोक्ष नहीं बताया, अपितु अखंड आनन्द अथवा चिदानन्द की प्राप्ति को ही मोक्ष माना है।[1]

प्रसाद उस परम ब्रह्म अथवा परम चिति को आनन्द-सागर मानते हैं और प्रत्येक जीव को उसी आनन्द-सागर के कण कहते हैं। अतः जिस समय जीव उस चिति के ऊपर अपने तन-मन-जीवन सर्वस्व को न्यौछावर कर देता है, उसके मन में कोई भी कामना नहीं रहती, समस्त कामनाओं का भी उत्सर्ग कर देता है और स्वयं को उस आनन्द-सागर का कण मानकर उस आनन्द-अम्बुनिधि में प्रमुदित होकर मिल जाता है, तब उसका यह अक्षय सम्मेलन ही अखंड आनन्दावस्था अथवा चिदानंद अवस्था की प्राप्ति कहलाता है।[2] श्री नरहरिस्वामी ने भी 'बोधसार' में लिखा है कि शिव आनन्द-सागर हैं, उनकी शक्ति उस सागर का आनन्द-वारि है और उनके भूतगण अथवा शिव-रूप को प्राप्त जीव उस आनन्द-सागर के जल की बूँदें हैं, जो पूर्णतया उस आनन्द-अम्बुनिधि में घुलमिल कर अथवा समरस होकर विद्यमान रहते हैं।[3] प्रसाद भी इसीलिए उस शक्तिमान महेश्वर को सदैव आनन्द की तरल वीचियों में विहार करता हुआ मानते हैं[4], उसे अपनी शक्ति-तरंगों से तरंगायित शोभायमान आनन्द-अम्बुनिधि बतलाते हैं[5] और इस विश्व की कामना का मूल रहस्य ही 'आनन्द' मानते हैं।[6] प्रसाद का विचार है कि अन्तरात्मा के प्रसन्न गम्भीर उल्लास का नाम 'आनन्द' है और जब आत्मा आनन्दातिरेक के कारण जीवन ग्रहण करती है, तभी जीव उत्पन्न होते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि विश्व का साकार होना आनन्द पर ही निर्भर है तथा आनन्द का साकार होना ही विश्व का रूप ग्रहण करना है।[7] इसी कारण प्रसाद स्पष्ट घोषित करते हैं कि वह परमानंदमयी महाचिति ही विश्व के रूप में अभिव्यक्त होती है, यह विश्व उसी का अभिराम उन्मीलन है और वह अभिव्यक्त होकर यहाँ सदैव लीलामय आनन्द करती है।[8] इसी कारण ब्रह्म सत् और

---

१. **आनन्द अखंड घना था। —कामायनी**, पृष्ठ २६४।

२. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५।

३. **आनन्दसागरः शम्भुस्तच्छक्तिर्द्रव उच्यते।**
शीकरा इव सामुद्रास्तदानन्दकणाः गणाः। —बोधसार, पृष्ठ ५७५।

४. **आनन्द के तरल बीचिन में बिहारै। —चित्राधार**, पृष्ठ १५३।

५. **निज शक्ति तरंगायित था आनन्द अम्बुनिधि शोभन।**
—कामायनी, पृष्ठ २८६।

६. **एक घूँट**, पृष्ठ १७।

७. **वही**, पृष्ठ ३२।

८. **कर रही लीलामय आनन्द, महा चिति सजग हुई सी व्यक्त,**
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त।
—कामायनी, पृष्ठ ५३।

चित् तो है ही, परन्तु सबसे अधिक वह आनन्दस्वरूप है।[१] उस आनन्द-रूप शिव की प्राप्ति के लिए यदि कोई श्रद्धा और भक्ति के साथ पूजा-अर्चना एवं उपासना में लीन होता है अथवा मंगलमय नटराज-नृत्य का अनुकरण करता है, तो उसके ये समस्त कार्य आनन्द की भावना से ओतप्रोत होने के कारण उस महाकाल की उपासना के ही बाह्य रूप है[२] क्योंकि इसी तरह की उपासना, जप, पूजा आदि के द्वारा सतत प्रयत्न करते हुए जब जीव की अन्तर्निहित आनन्द की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, तब उसमें उसके सब मलिन कर्म भस्म हो जाते हैं, वह 'आनन्द' रूप हो जाता है और पाप उस 'आनन्द' के समीप आने से डरता है।[३] उस समय जीव को विश्व में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द का आलोक दिखाई देता है और उसकी आत्मा का आनन्द सबको आलिंगित करके स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश प्रतीत होता है।[४]

प्रसाद पर आनन्दवाद का इतना अधिक प्रभाव देखा जाता है कि वे आनन्द को ही यथार्थ वस्तु मानते हैं और बताते हैं कि ज्ञान से अथवा अज्ञान से प्रत्येक जीव सदैव आनन्द की खोज में ही लीन रहता है।[५] इस आनन्दवाद के उद्गम की खोज करते हुए प्रसाद ने प्राचीन आर्यों को भी आनन्दवाद का पूर्ण समर्थक सिद्ध किया है और लिखा है कि प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलाप में आनन्द उल्लास और प्रमोद के ही उपासक रहे और आज के अन्य देशीय तरुण आर्य-संघ भी आनन्द के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं। अतएव आनन्द-भावना, प्रिय कल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तुयें थी[६] और महावीर इन्द्र इसी आत्मवाद अथवा आनन्दवाद के प्रचारक थे।[७] उनके यहाँ उर्वशी आदि अप्सराओं का जो प्रसंग मिलता है, वह भी उनके 'आनन्द' के ही अनुकूल था[८] और आर्यों के कर्म-कांड तथा बड़े-बड़े यज्ञों में भी वही उल्लासपूर्ण आनन्द की भावना कार्य करती थी।[९] यहाँ तक कि वेदों के उपरान्त उपनिषदों में भी विवेक और विज्ञान से अधिक महत्त्व आनन्द को दिया गया और आत्मा को आनन्दमय घोषित किया गया।[१०] इसी आनन्द के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए उपनिषदों में आनन्द की प्रतिष्ठा के साथ-साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना की गई।[११] श्रुतियों तथा निगमों का काल समाप्त होने पर ऋषियों के उत्तराधिकारियों ने ही आगमों की अवतारणा की और आगमों में भी उसी निगम के आनन्दवाद का अनुसरण किया गया[१२], जिसके फलस्वरूप बताया गया

१. **विशाख**, पृष्ठ ३१।
२. **इरावती**, पृष्ठ २२।
३. **इरावती**, पृष्ठ ५९।
४. **वही**, पृष्ठ १०४।
५. **का० नि०**, पृष्ठ ४९।
६. **का० नि०**, पृष्ठ ४९।
७. **वही**, पृष्ठ ५०।
८. **वही**, पृष्ठ ४९-५०।
९. **वही**, पृष्ठ ५०।
१०. **वही**, पृष्ठ, ५२।
११. **वही**, पृष्ठ ५२।
१२. **वही**, पृष्ठ ५५।

कि आनन्द-उच्छलित-शक्ति में ही समस्त जीवों का विकास होता है।[1] आगमों में इस आनन्दवाद की प्रतिष्ठा के लिए काम-उपासना प्रणाली को दृष्टान्त रूप में अपनाया गया, जिसको उपनिषदों के समान ही उद्धृत किया गया अर्थात् जैसे छांदोग्य उपनिषद् में आत्म-रति, आत्म-क्रीड़ा अथवा आत्म-मिथुन के द्वारा आत्मानन्द को प्राप्त करने वाला स्वराष्ट्र बतलाया गया, वैसे ही आगमों में भी काम एवं रति के आनन्द की समता शिव द्वारा प्राप्त आनन्द से की गई।[2] परन्तु प्रसाद ने स्पष्ट बताया है कि आगमानुयायी शैव-साधकों में प्रमुख रूप से जगत् और अन्तरात्मा की व्यावहारिक अद्वयता में आनन्द की सहज भावना विकसित हुई है और इन्द्रियों के मुख से अर्चन-रस का आसव पीने की जो यहाँ शैवागमों में कल्पना मिलती है, वह भी आनन्द की सहज भावना से ओतप्रोत है।[3] इस प्रकार शैव ग्रन्थों में सर्वत्र आत्मानन्द ही प्रतिष्ठित है, उनके मतानुसार यहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है, कहीं अशिव, अमंगल तथा निरानन्द नहीं है।[4]

प्रसाद का तो यहाँ तक विचार है कि आगमो के उपरान्त कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी ग्रन्थों में जहाँ गीता के बुद्धिवादी पक्ष को ग्रहण किया गया है वहाँ व्रजलीला, द्वारका के भोग-ऐश्वर्य आदि में भी आनन्दवाद का ही समर्थन किया गया है, क्योकि श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में बुद्धिवाद और आनन्दवाद का सुन्दर समन्वय मिलता है।[5] परन्तु शैवों ने जिस तरह समरसता अथवा अद्वैत भावना के साथ आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है, वैसी प्रतिष्ठा कृष्ण-उपासना में नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ द्वैत भावना और समर्पण का भाव ही अधिक रहा है।[6] प्रसाद का विचार है कि आगमवादियों के उपरान्त सिद्धों में भी सहज आनन्द की उपासना के कारण आनन्दवाद की परम्परा मिलती है।[7] सिद्धों ने इस आनन्द की प्रतिष्ठा के लिए संगीत को अधिक महत्त्व दिया है और यह संगीत नटराज के संगीतमय नृत्य का ही विकसित रूप है।[8] सिद्धों की ही परम्परा में विकसित कबीर आदि निर्गुण संत भी आनन्द की उसी सहज भावना को दुहराते रहे हैं, किन्तु रीतिकालीन कवियों में यह भावना प्रत्यक्ष विकसित नहीं हुई है, अपितु वहाँ 'राधिका-कन्हाई-सुमिरन' के बहाने आनन्द की सहज भावना परोक्ष भाव में मिलती है।[9] आधुनिक युग में छायावादी कवियों ने पुनः इस आनन्द-धारा को प्रवाहित किया है, जिसके फलस्वरूप वे अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदं' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न कर रहे

---

१. **का० नि०**, पृष्ठ ५५।
२. **का० नि०**, पृष्ठ ५७।
३. **वही**, पृष्ठ ५८।
४. **वही**, पृष्ठ ५८।
५. **वही**, पृष्ठ ५९-६०।
६. **वही**, पृष्ठ ६०।
७. **वही**, पृष्ठ ६५।
८. **वही**, पृष्ठ ६६।
९. वही, पृष्ठ ६७।

हैं।[१] इस प्रकार प्रसाद ने आनन्दवाद के क्रमिक विकास का पूर्ण विवेचन करते हुए अपने को भी आनन्दवाद का पूर्ण अनुयायी स्वीकार किया है।

प्रसाद की यह आनन्दवादी विचारधारा संकुचित नहीं है, नील आकाश की तरह विस्तृत और सबको अवकाश देने के लिए प्रस्तुत है तथा चारों ओर आनन्द की सीमा में प्रसन्न जान पड़ती है, क्योंकि प्रसाद आनन्दवादी होने के कारण ही जड और चेतन में सर्वत्र एक आनन्दमयी चेतनता का प्राधान्य मानते हैं[२], सभी जीवों के हृदय में आनन्द-उच्छलित-शक्ति का स्रोत स्वीकार करते हैं[३], शिव के संहारकारी तांडव नृत्य को भी सुन्दर एवं आनन्दपूर्ण बताते हैं[४] और यह मानते हैं कि उस विश्व-चेतना के तनिक पुलकित होते ही क्षणभर में विश्व-कमल के सारे अणु-अणु परिवर्तित हो जाते है, उस पर पिंगल पराग मचलने लगता है और उससे आनन्द-सुधारस छलकने लगता है।[५] अतएव प्रसाद का विचार है कि जब तक जीव वासनात्मक प्रेम, हिंसा, स्वार्थ, अहंकार आदि में लीन होकर केवल जड़ देहमात्र के सौन्दर्य में लीन रहता है, आत्मीयता से दूर होकर 'कुछ मेरा हो' की रागमयी भावना में लिप्त रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों को अपने से पृथक् अपना शत्रु या मित्र मानता रहता है, तब तक वह अपनी अबोधता एवं अपूर्णता के कारण समुद्र में भटकने वाले क्षुद्र यान की तरह इधर-उधर मारा-मारा फिरता है[६]; किन्तु जब जीव श्रद्धा, बुद्धि, भक्ति, अनासक्त कर्म आदि के द्वारा सतत प्रयत्न करता हुआ विवेक की ओर अग्रसर होता है, तब उसकी इच्छा, क्रिया और ज्ञान-शक्ति का समन्वय होकर वह समरसता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तथा उसे जीवात्मा-परमात्मा, प्रकृति-पुरुष, जड़-चेतन, विश्व-विश्वात्मा आदि में कोई भेद नहीं दिखाई देता, सर्वत्र सभी पदार्थ चेतन-समुद्र में लहरों की तरह घुले-मिले जान पड़ते हैं, सम्पूर्ण अणु-अणु, कण-कण अपने प्रतीत होते हैं, उसकी अपनी चेतनता सबका स्पर्श करती हुई सी जान पड़ती है, वह निर्विकार होकर सबके मानस में प्रवेश करता-सा प्रतीत होता है, उसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है, उसे यह विश्व एक नीड़-सा दिखाई देता है, सर्वत्र संसृति के मधुर मिलन में बल्लरियाँ नृत्य करती हुई और सुगन्धि की लहरें बिखेरती प्रतीत होती हैं, वेणु-रंध्र से मधुर मूर्च्छना निकलती हुई जान पड़ती है, मधुकर नूपुर की मधुर ध्वनि जैसी गुंजार करते हुए प्रतीत होते हैं, मलयानिल परिमल में नहाकर उन्मद गति से बहती हुई जान पड़ती है, डाल-डाल पर मृदु मुकुल भालर से बने

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ६८-६९।
२. एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन। —कामायनी, पृष्ठ ३।
३. आनन्द-उच्छलित-शक्ति-स्रोत जीवन विकास वैचित्र्य भरा। —का०, पृष्ठ १६१।
४. आनन्दपूर्ण तांडव सुन्दर। —कामायनी, पृष्ठ २५३।
५. क्षण भर में सब परिवर्तित अणु-अणु थे विश्व कमल के,
पिंगल पराग से मचले आनन्द सुधा रस झलके। —कामायनी, पृष्ठ २९१।
६. कामायनी, पृष्ठ १६३।

दिखाई देते है, प्रफुल्ल सुमन रस-वर्षा करते जान पड़ते है, हिम-मंडित पर्वत-चोटियाँ चन्द्र-रश्मियों से सुशोभित होकर मणि-दीप का सा प्रकाश करती हुई प्रतीत होती हैं, उनसे टकराकर समीर मृदंग बजाता-सा जान पड़ता है, सर्वत्र जीवन की मुरली में एक मनोहर संगीत सुनाई पड़ता है, चन्द्र-रश्मियाँ अप्सराओं की भाँति नृत्य करती हुई प्रतीत होती हैं और उस मनोरम वातावरण में निर्मल-प्रेम-ज्योति के प्राप्त होते ही जीव को सभी प्राणी चिर-परिचित से जान पड़ते हैं, जड़ या चेतन सभी पदार्थ समरस एवं सुन्दर साकार रूप में प्रतीत होते है, सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दिखाई देती है तथा वह जीव अखंड आनन्द में लीन होकर अनुत्तरावस्था या मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है।[1] इस तरह प्रसाद ने आनन्द रूप अद्वैत शिव-तत्व का विश्व और व्यक्ति से अभेद सम्बन्ध स्थापित करते हुए तथा लोक-जीवन में आनन्द की अनुभूति को पूर्ण रूप से साध्य बनाते हुए आनन्दवाद का प्रतिपादन किया है।

सारांश यह है कि प्रसाद ने मोक्ष के विविध साधनों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट बताया है कि जब तक जीव त्रिविध पाशों एवं षट्कंचुकों में आवृत रहता है, तब तक वह संकुचित दृष्टि, संकुचित कर्तृत्वशक्ति एवं संकुचित ज्ञान वाला होकर इस माया-प्रपंच में भटकता रहता है, नाना प्रकार के अकांड तांडव करता है, व्यर्थ महत्व की आकांक्षा में मरता है, एषणाओं का शिकार बनकर सतत कोलाहल, संघर्ष एवं विफलता प्राप्त करता है तथा दूसरों को नाना प्रकार के कष्ट पहुँचाता हुआ अपने ही आनन्द-मन्दिर को नष्ट करता रहता है, किन्तु जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि त्रिविध मल तथा षट् कंचुक ही बंध के कारण है और इनसे तभी छुटकारा मिल सकता है जब कि ज्ञान-प्राप्ति के उपायों को अपनाया जाय अथवा आणवोपाय, शाक्तोपाय तथा शांभवोपाय के द्वारा शुद्ध ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न किया जाय, तब वह श्रद्धा, बुद्धि, भक्ति, अनासक्त कर्म, योग आदि के द्वारा सतत प्रयत्नशील होकर भगवत्-कृपा को प्राप्त करने के लिए उन्मुख होता है और उसके सदाचरण एवं सत्कर्मशील व्यवहार के कारण परम शिव उस पर अनुग्रह करते हैं, उस पर 'शक्तिपात' द्वारा कृपा करते हैं और वह फिर जीवात्मा-परमात्मा, जड़-चेतन, विश्व-विश्वात्मा आदि में अभिन्नत्व एवं अभेद देखता हुआ समरसता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। जैसे ही जीव समरसता की अवस्था में पहुँचकर सम्पूर्ण जीवन-वसुधा को समतल एवं समरस समझने लगता है, वैसे ही उसके हृदय से सम्पूर्ण मलिन कर्मो का प्रभाव नष्ट हो जाता है, उसकी ज्ञान-ज्योति निर्मल हो जाती है, उसके पाप-पुण्य सभी ज्ञानाग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं, उसका असत्य ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह अखंड आनन्द-रूप शिव होकर सर्वत्र आनन्द ही आनन्द का साक्षात्कार करने लगता है। यही जीव की अनुत्तरावस्था है, यही जीव की मुक्तावस्था है और यही जीव की मोक्ष-प्राप्ति है, क्योंकि इस अवस्था में पहुंचते ही जीव का जीव-भाव समाप्त हो जाता है और वह अखंड आनन्दस्वरूप शिव हो जाता है।

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २८८-२९४।

षष्ठ प्रकरण

प्रसाद तथा अन्य दर्शन

- प्रसाद और बौद्ध दर्शन
- प्रसाद और सांख्य-योग
- प्रसाद और न्याय-वैशेषिक
- प्रसाद और शांकर वेदान्त
- प्रसाद और शैव दर्शन
- प्रसाद का दर्शन—आनन्दवाद—व्यावहारिक है

षष्ठ प्रकरण

प्रसाद तथा अन्य दर्शन

सब कहते हैं 'खोलो खोलो
छवि देखूंगा जीवन-धन की।'
आवरण स्वयं बनते जाते
है भीड़ लग रही दर्शन की।[1]

भारत दार्शनिकों का देश है। यहाँ की स्वस्थ जलवायु, प्राकृतिक सौन्दर्य, उर्बर वसुंधरा, कंद-मूल-फल तथा सुस्वादु खाद्य-पदार्थों की सहज उपलब्धि ने अन्यान्य सुविधायें प्रदान करके भारतवासियों को चिरकाल से आध्यात्मिक चिन्तन में लीन रहने के लिए बाध्य किया है और उन्हें शान्तिप्रिय एवं गम्भीर बना दिया है। भारत-व्यापी सहज सुविधाओं एवं अनुकूल परिस्थितियों के कारण भारत में आरम्भ से ही अनेक मनीषी दैविक एवं भौतिक शक्तियों, शारीरिक एवं मानसिक तत्त्वों, आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक परिवर्तनों तथा जीवन एवं जगत् की जटिल समस्याओं के बारे में गहनतापूर्वक समझने-समझाने का प्रयत्न करते चले आये हैं और उन्होंने विविध सिद्धान्तों की स्थापना करके विविध 'दर्शनों' का निर्माण किया है। भले ही ये 'दर्शन' परस्पर विरोधी मार्ग की ओर संकेत करते हों, किन्तु सभी दर्शनों का लक्ष्य चरम सत्य का अन्वेषण करना रहा है और इसी चरम सत्य अथवा 'जीवन-धन की छवि' देखने के लिए भारत में दर्शनों की ऐसी भीड़-सी दिखाई देती है, जिससे यह ज्ञात होता है कि एक दर्शन दूसरे का आवरण बनकर उस परम सत्य के स्वरूप को देखने नहीं देता। प्रसाद ने 'है भीड़ लग रही दर्शन की' कहकर इसी परम सत्य के अन्वेषण में संलग्न भारतीय दर्शनों की विविधता की ओर इंगित किया है। अब देखना यह है कि प्रसाद पर भारत के इन विविध दर्शनों का कितना प्रभाव पड़ा है और प्रसाद के विचारों में कितनी मौलिकता है?

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ६८।

प्रसाद और बौद्ध-दर्शन

प्रसाद वाराणसी के रहने वाले थे और प्रायः सारनाथ घूमने जाया करते थे। यह सारनाथ वाराणसी के अत्यन्त निकट है। यहाँ धमेख स्तूप के समीप एक प्राचीन बौद्ध विहार के ध्वंसावशेषों को प्रसाद बड़े सतृष्ण नेत्रों से देखा करते थे और उनके मन तथा मस्तिष्क में बौद्धों के धर्म-चक्र-प्रवर्तन के सम्पूर्ण दृश्य साकार हो उठते थे। इतना ही नहीं, सारनाथ के संग्रहालय में भगवान् बुद्ध की सौम्य मूर्तियों के सौंदर्य में उनका मन अत्यधिक रमता था। इसके अतिरिक्त सारनाथ के बौद्ध भिक्षु अनागरिक धर्मपाल प्रसाद के परम मित्र थे, जिनसे ये प्रायः बौद्ध-धर्म पर चर्चा किया करते थे।[१] इन सभी कारणों से प्रसाद पर बौद्ध धर्म एवं बौद्ध दर्शन का गहन प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र बौद्ध दर्शन के प्रमुख-प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख भी किया है।

बौद्ध दर्शन में 'सर्वं क्षणिकं', 'सर्वं दुःखं', 'सर्वमनात्मकम्'[२] कहकर तीन प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, जो क्षणिकवाद, दुःखवाद एवं अनात्मवाद कहलाते हैं। बौद्ध दर्शन में क्षणिकवाद के आधार पर बताया गया है कि विश्व की सारी वस्तुयें स्कंध, आयतन और धातु इन तीन भागों में विभक्त हैं। इनको ही नाम और रूप में भी विभक्त किया जाता है। इनमें से नाम विज्ञान का पर्यायवाची है और रूप से तात्पर्य समस्त महाभूतों से है। अतएव बौद्ध-दर्शन का यह अटल सिद्धान्त है कि स्कंध, आयतन तथा धातु अथवा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान सभी अनित्य हैं, सभी क्षणिक हैं।[३] प्रसाद ने भी इसी क्षणिकवाद से प्रभावित होकर कई स्थलों पर जगत् को क्षणभंगुर एवं चंचल कहा है[४], दो दिन का सपना बताया है[५] प्रकृति को प्रतिक्षण चंचला के समान परिवर्तनशीला कहा है[६], सम्पूर्ण दृश्यों को नश्वर कहा है[७], जगत् के सम्पूर्ण प्रवाह को क्षणिक बताया है[८], नित्य यौवन और जरा के चक्र में घूमने वाला कहा है[९] तथा मौन, विनाश, विध्वंस, अंधकार, शून्यता एवं अभाव को सत्य बताया है।[१०] संसार और प्रकृ[illegible] को भी

१. **नई धारा**, माघ सं० २००७, पृष्ठ ५–६ **तथा जागरण**, **वर्ष** १, अंक ४४, दि० २६–६–१९३३।
२. **का० नि०**, पृष्ठ ६२; **आकाशदीप**, पृष्ठ ३७।
३. **बौद्धदर्शन—राहुल**, पृ० ३३ **तथा बौद्धधर्म-दर्शन**, पृष्ठ १३७-१३८।
४. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४८, **राज्यश्री**, पृष्ठ ५५, ६२।
५. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ३९।
६. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४८; **लहर**, पृष्ठ ४८; **छाया**, पृष्ठ १२२।
७. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४८; **लहर**, पृष्ठ १२, ८०; **तितली**, पृष्ठ २७१।
८. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ९९, १३७; **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ १४९।
९. **इरावती**, पृष्ठ २९। १०. **कामायनी**, पृष्ठ १८।

क्षणभंगुर कहा है[1], इस इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन को अत्यन्त लघु बनाया है[2], जीवन को क्षणिक कहा है[3], दो घड़ियों का माना है[4], दो दिन का कहा है[5], विषम घाटियों में होकर धीरे-धीरे अन्धकार की गुफा में प्रवेश करने वाला कहा है[6] और बतलाया है कि यह जीवन मृत्यु का अत्यन्त क्षुद्र अंश है। जैसे नीले बादलों के अन्तर्गत एक क्षण के लिए बिजली चमक कर अपना प्रकाश कर जाती है वैसे ही यह जीवन भी संसार में क्षणभर के लिए आकर अपना उजाला कर जाता है।[7] इसके अतिरिक्त जैसे जीवन और जगत् दोनों क्षणिक है वैसे ही संसार के समस्त अणु-परमाणु दुःख-सुख एवं सुख-साधन भी क्षणिक है[8], इन क्षणिक सुखों पर शोकमयी ज्वाला सतत घूमती रहती है[9], जगत् का सारा वैभव, सारा शासन और समस्त घटाटोप दो दिन का है[10], यहाँ के सारे राग-रंग क्षणिक है[11] तथा यहाँ सब कुछ क्षणिक है।[12]

बौद्ध दर्शन के दूसरे सिद्धान्त दुःखवाद का भी प्रसाद पर गहन प्रभाव दिखाई देता है। इसी कारण प्रसाद ने लिखा है कि "मैं स्वयं हृदय से बौद्ध-मत का समर्थक हूँ, केवल उसकी दार्शनिक सीमा तक—इतना ही कि संसार दुःखमय है।"[13] इसी कारण प्रसाद ने संसार को दुःखमय कहा है[14], संसार के क्षणिक सुखों को स्थायी समझने की भावना को दुःख का मूल बताया है[15] और कहा है कि यह संसार दुःख का समुद्र है[16] तथा इस जगत्-सिन्धु में वेदना की लहरें तथा दुःख के भँवर पड़ते रहते हैं।[17] यहाँ सब दुःखी हैं, सब विकल हैं और सबको एक-एक घूँट की प्यास बनी हुई है।[18] यहाँ पर समस्त जीव दुःख के गर्त में पड़े हुए है।[19] यह धरा दुःख से परितापित है[20] जिधर देखो उधर ही दुःख को छोड़कर कहीं सुख नहीं दिखाई देता[21] और ऐसा जान पड़ता है कि विधाता ने जीव रूपी पुतले को दुःख का सम्बल देकर ही अनन्त पथ का यात्री बनाया है।[22] सारा मानव-जीवन यहाँ दुःखमय

---

१. **अजातशत्रु**, पृष्ठ २८।
२. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६५; **लहर**, पृष्ठ ४६।
३. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ ७१; **इन्द्रजाल**, पृष्ठ १४; **इरावती**, पृष्ठ ३७।
४. **आँसू**, पृष्ठ ४५।
५. **तितली**, पृष्ठ ८८।
६. **तितली**, पृष्ठ २७१।
७. **कामायनी**, पृष्ठ १६।
८. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४८।
९. **एक घूँट**, पृष्ठ २५।
१०. **लहर**, पृष्ठ ४७।
११. **लहर**, पृष्ठ ४७।
१२. **आकाशदीप**, पृष्ठ ३७।
१३. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ ७१।
१४. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ८३।
१५. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ४८।
१६. **वही**, पृष्ठ १३७; **चित्राधार**, पृष्ठ १७६।
१७. अजातशत्रु, पृष्ठ ६३।
१८. **एक घूँट**, पृष्ठ ३८।
१९. **करुणालय**, पृष्ठ १६।
२०. **राज्यश्री**, पृष्ठ ५५।
२१. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६०।
२२. **वही**, पृष्ठ ६२-६३।

दिखाई देता है।[१] संसार के जीवों की नौका अनाथ होकर घोर दुःख के सागर में ऊभचूभ होती रहती है।[२] चारों ओर अपार दुःख छाए हुए हैं।[३] इस नीले विषाद के गगन में घिरे हुए दुःख के बादलों के अन्तर्गत सुख चपला के समान क्षण भर चमका करता है।[४] सारा अग-जग ही दुखिया है, क्योंकि यहाँ पृथ्वी जलती है, पर्वत तपते है, प्रति पग पर काँटे बिखरे हुए हैं और मार्ग की बालू भी जलती रहती है।[५] इस विपुला धरणी पर सर्वत्र दुःख ही दुःख है, यह धरा दुःख का भार ही नित्य वहन करती रहती है और अपने आँसुओं से करुणा-सागर को भरती रहती है।[६] यह वसुधा चिर-दग्ध दुःखी है[७], वेदनापूर्ण है[८] और मेरी यह वेदना चौदह भुवनों में घूमकर देख आई, परन्तु उसे कहीं भी सुख दिखाई नहीं दिया।[९] यह सारा संसार पीड़ा और दुःख के ताण्डव नृत्य से भरा है।[१०] यहाँ प्रेम का अभाव है, स्नेह का अभाव है, धन का अभाव है, शरीर-रक्षा की आवश्यक वस्तुओं का अभाव है और इन्ही अभावों के कारण यहाँ सर्वत्र पीड़ा और दुःख चारों ओर दिखाई पड़ता है।[११] यहाँ कोई जीव यदि सुख खोजने का प्रयत्न भी करता है तो उसे दुःख ही मिलता है।[१२] यह सारा संसार दुःख से ही भरा है।[१३] यहाँ सदैव दुःख की आँधी और पीड़ा की लहरें उठती रहती हैं।[१४] प्रसाद ने इस दुःख का कारण बताते हुए लिखा है कि जब अपना सुख अथवा औरों का सुख अधिक बढ़ जाता है, तब वही दुःख में परिणत हो जाता है।[१५] इस दुःख की ओर ले जाने वाली तृष्णा है, जो अनल शिखा की भाँति जीवों के हृदय में जलती रहती है, रक्तिम यौवन के दृश्य दिखलाती रहती है[१६] और जीव मतवाला होकर पतंग की तरह रूप की कड़ी ज्वाला में जा गिरता है।[१७] यह तृष्णा अनन्त है, भीषण है और उस शूकरी के समान है जो संसार की कितनी ही कीचड़ों पर लहराने वाली जल की पतली तहों में लोट चुकी है, पर लुहार की तपाई हुई छुरी जैसे सान रखने के लिए बुझाई जाती है, वैसे ही यह बुझकर भी बराबर तीखी होती चली जाती है।[१८] इस तरह यह तृष्णा ही दुःख का मूल कारण है। यह दुःख सत्य है और इस दुःख को समझाने के लिए तथा दुःख से छुटकारा पाने का उपाय बताने के लिए ही तथागत बुद्ध यहाँ अवतीर्ण हुए थे।[१९]

१. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६५। २. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २१।
३. **झरना**, पृष्ठ ७। ४. **लहर**, पृष्ठ ४८।
५. **लहर**, पृष्ठ ५०। ६. **आँसू**, पृष्ठ ४८।
७. **आँसू**, पृष्ठ ५५। ८. **वही**, पृष्ठ ६२।
९. **वही**, पृष्ठ ५३। १०. **तितली**, पृष्ठ ६०।
११. **तितली**, पृष्ठ १२९-१३०। १२. **कंकाल**, पृष्ठ ५९।
१३. **कंकाल**, पृष्ठ, २१५; **इन्द्रजाल**, पृष्ठ १११-११२; **आँधी**, पृष्ठ १४।
१४. **कामायनी**, पृष्ठ २२३। १५. **कामायनी**, पृष्ठ २१०।
१६. **लहर**, पृष्ठ ४६। १७. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १९८।
१८. **कंकाल**, पृष्ठ २९१। १९. **लहर**, पृष्ठ १२; **अजातशत्रु**, पृष्ठ ८३।

उन्होंने जीवन के अतिवाद को छोड़कर मध्यम प्रतिपदा के मार्ग को अपनाने का उपदेश दिया था, जिससे सभी प्राणी दुःख से मुक्त हो सकते हैं और उनके भव-बंधन टूट सकते हैं।[1]

बौद्ध दर्शन का तीसरा प्रमुख सिद्धान्त अनात्मवाद है, जिसके आधार पर बौद्ध दार्शनिक किसी भी वास्तविक सत्ता में विश्वास नहीं करते और आत्मा जैसा कोई पदार्थ नहीं मानते।[2] बुद्ध जी ने कहा था कि जो यह मेरा आत्मा अनुभवकर्त्ता, अनुभव का विषय है और जहाँ-तहाँ (अपने) भले-बुरे कर्मों के विपय को अनुभव करता है, यह मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा, यह भिक्षुओ! केवल भरपूर बाल-धर्म (मूर्ख विश्वास) है।[3] प्रसाद ने भी इसी कारण बौद्ध धर्म को अनात्मवादी कहा है[4] और लिखा है कि अनात्म को मानने के कारण ही बौद्ध किसी भी शाश्वत सत्ता में विश्वास नहीं करते थे।[5] इस अनात्मवाद के कारण व्यक्ति आत्म-शक्ति से विस्मृत होने लगे थे और वे भूल गये थे कि शाश्वत सत्ता के सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह की नित्य लीला से समस्त अवकाश भरा हुआ है[6] और यह शाश्वत शक्ति इस विश्व के रूप में ही अभिव्यक्त होकर नित्य लीलामयी आनन्द-क्रीड़ाएँ यहाँ करती रहती है[7], इसी अनात्मवाद के कारण अनीश्वरवादी विचारों को प्रश्रय मिला और बौद्ध लोग किसी भी सत्ता को शाश्वत नहीं मानते थे, सभी को परिवर्तनशील कहते थे। प्रसाद ने इसी-लिए मनु के मुख से कहलवाया है कि न तो हम देवता थे, न ये विश्वदेव, सविता, पूषा आदि देवता हैं, सब परिवर्तन के पुतले हैं।[8] इस तरह बौद्धों ने किसी भी पदार्थ को आत्मा न मानकर सबको अनात्म माना है।[9]

उक्त तीनों सिद्धान्तों के अतिरिक्त बौद्धों ने करुणा पर अत्यधिक बल दिया है। प्रसाद ने इसी कारण मानवी सृष्टि का मूल रहस्य करुणा घोषित किया[10] और बताया कि संसार में करुणा सब कुछ कर सकती है, वही प्राणी मात्र में समदृष्टि उत्पन्न करती है, उसी के बल पर निष्ठुरता पर विजय प्राप्त होती है, उसी से मानव का महत्व जगती पर फैलता है और उसी से हिंसा से रँगी हुई वसुन्धरा स्वच्छ होती है तथा उसकी कलंक-कालिमा धुलती है।[11] उस करुणा से ही मानव को विवेक एवं

---

१. **लहर**, पृष्ठ १२-१३; **इरावती**, पृष्ठ ३८।
२. **बौद्ध-दर्शन—बलदेव उपाध्याय**, पृष्ठ ६१-६८।
३. **बौद्ध-दर्शन—राहुल सांकृत्यायन**, पृष्ठ ३६।
४. **इरावती**, पृष्ठ १६; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ १४६।
५. **इरावती**, पृष्ठ ५८-५६।
६. **इरावती**, पृष्ठ ५८।
७. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।
८. **कामायनी**, पृष्ठ २५।
९. **का० नि०**, पृष्ठ ६२।
१०. **अजातशत्रु**, पृष्ठ २४।
११. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ३०।

बोध प्राप्त होता है।[१] वह करुणा अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं।[२] दुःख के गर्त में पड़े हुए जीवों को करुणा ही पार लगाया करती है।[३] करुणा-सागर में नहा कर ही जीव पापों से छूटता है।[४] करुणा की गोद में ही जीव को शान्ति और विश्राम प्राप्त होता है।[५] करुणा-कादम्बिनी की वर्षा से ही दुःख से जलती हुई धरणी प्रमुदित होती है।[६] करुणा ही नव मनमोहन वेश बनाकर दीनों को गले से लगाती है, स्नेह बढ़ाती है और विश्व को सुखी बनाती है।[७] करुणा ही जगत् का मंगल करती है और भव की व्याकुलता दूर करती है।[८] करुणा ही शीतातप को मिटाती है, शान्ति प्रदान करती है और भ्रान्त पथिक को सीधी राह पर ले जाती है।[९] करुणा ही दुःखी हृदय के नीरव क्रन्दन को अन्तरात्मा की श्रवणेन्द्रिय को सुनने के लिए बाध्य करती है।[१०] करुणा की ही विजय दरिद्रता पर होती है और करुणा ही सबकी रक्षा करती है।[११]

बौद्ध दर्शन में करुणा के साथ-साथ अहिसा, मुदिता, सेवा, दया, विश्वमैत्री, धर्माचरण आदि पर भी अत्यधिक बल दिया गया है। प्रसाद ने भी अहिंसा का प्रतिपादन किया है[१२], निरीह प्राणियों का निर्दयता से बध करना पाप कहा है[१३], नर-हत्या को भी पाप कहा है[१४], युद्ध को भयंकर कहा है, क्योंकि इसमें कितने ही प्राणियों का विनाश होता है[१५], हिंसा के दारुण दृश्य को बड़ा ही हृदय-विदारक बतलाया है[१६] और लिखा है कि यज्ञों में जीवों की बलि देकर हम बड़ा अन्याय करते हैं। यह तो बड़ा ही धोखा है, क्या उन जीवों को जीवित रहने का अधिकार नहीं ? यज्ञ, होम आदि में पशु-बलि देना पाशविकता है, मानवता नहीं है।[१७] इन निरीह प्राणियों का बध न करके हमें इनको उपयोगी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। उनके ऊन से हम वस्त्र बनाएँ और उनका दूध हम पीने के काम में लें, तो वे हमारे लिए अधिक

---

१. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ८९।
२. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १२५।
३. **करुणालय**, पृष्ठ १९।
४. **राज्यश्री**, पृष्ठ ५५।
५. **राज्यश्री**, पृष्ठ ५५-५६।
६. **वही**, पृष्ठ ७५।
७. **झरना**, पृष्ठ, ४४, ५१।
८. **लहर**, पृष्ठ ३२।
९. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ १४।
१०. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ३९।
११. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ४६, ५४।
१२. **अजातशत्रु**, पृष्ठ २५ ; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ९८।
१३. **आजातत्रत्रु**, पृष्ठ ११९; **छाया**, पृष्ठ ७९।
१४. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६४।
१५. **राज्यश्री**, पृष्ठ ५८, ६४; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ६६, **स्कं०**, पृष्ठ ५२।
१६. **कामायनी**, पृष्ठ ११६।
१७. **कामायनी**, पृष्ठ १३० ; **स्कंदगुप्त**, पृष्ठ १२२, १३५।

उपकारी हो सकते हैं।[1] इसी तरह प्रसाद ने सेवा पर बल दिया है[2], विश्वमैत्री के महत्त्व का प्रतिपादन किया है[3], उपकार, समवेदना, प्रेम और पवित्रता को ग्रहण करने की सलाह दी है[4], क्षमा के महान् बल का उल्लेख किया है[5], विनय और शील को अपनाने का आग्रह किया है[6], मन को संयत करके श्लाघा और आकांक्षा के पथ को छोड़ देने का अनुरोध किया है,[7] स्नेह और ममता के महत्त्व का प्रतिपादन किया है[8] और बताया है कि दुराचारी भी सदाचार को अपनाने से अथवा धर्माचरण करने से शुद्ध हो जाता है।[9]

इस प्रकार प्रसाद ने बौद्ध दर्शन में मान्य अधिकांश विचारों, सिद्धान्तों एवं मतों का उल्लेख तो यत्र तत्र किया है, परन्तु बौद्ध दर्शन को पूर्णतया अंगीकार नहीं किया है। प्रसाद को बौद्धों की करुणा, अहिंसा, सेवा, विश्वमैत्री आदि उन्नत भावनाओं ने तो इतना अधिक प्रभावित किया है कि वे स्थान-स्थान पर इनके महत्त्व का प्रतिपादन करते रहे हैं, परन्तु अन्य सिद्धान्त प्रसाद को मान्य नहीं है। प्रसाद ने बौद्धों के क्षणिकवाद का घोर विरोध किया है और बताया है कि न तो जगत् असत्य है और न जीवन। जीवन सत्य है, संवेदन सत्य है, आत्मा के आलोक में असत्य और अन्धकार कुछ नहीं हैं।[10] यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में भी यहाँ चेतन प्रकाशित है और अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है।[11] यहाँ जड़ हो या चेतन सभी पदार्थों के रूप में एक चेतन तत्व ही व्यक्त होता है।[12] क्षणिक का इतना अर्थ तो लिया जा सकता है कि यहाँ सतत परिवर्तन होता रहता है, परन्तु क्षणिक से असत्य, अस्तित्व-हीन, सत्ताहीन या सारहीन अर्थ नहीं ले सकते, क्योंकि परिवर्तनमय होकर भी यह जगत् मंगलमय है[13], भले ही यह सैकड़ों रूप बदलता रहता है, परन्तु चिति या परमात्म-शक्ति का रूप होने के कारण यह जगत् नित्य है[14], अपने दुःख-सुख से पुलकित होकर भी यह चिति का मंगलमय स्वरूप है, सत्य है, सतत चिर सुन्दर है।[15] इस

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ १४६-१४७।
२. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ६३, १११; **राज्यश्री**, पृष्ठ ६६; **झरना**, पृष्ठ ६४; **कंकाल**, पृष्ठ १५४, २७८; **कामायनी**, पृष्ठ १३२।
३. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ८५, ९१, ११९।
४. **वही**, पृष्ठ ९५, १११, ११५।
५. **वही**, पृष्ठ १२६, १३०।
६. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १२०; **इरावती**, पृष्ठ ६२, ७९; **राज्यश्री**, पृष्ठ २१; **विशाख**, पृष्ठ ३३।
७. **राज्यश्री**, पृष्ठ ७४।
८. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ९८।
९. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ ७२।
१०. **इन्द्रजाल**, पृष्ठ ११३।
११. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १३।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ ३।
१३. **कामायनी**, पृष्ठ २३६।
१४. **वही**, पृष्ठ २४२।
१५. **वही**, पृष्ठ २८८।

जगत् की भाँति जग का जीवन भी क्षणिक नहीं है, यह भी शाश्वत है, जीव न कहीं आता है और न कहीं जाता है।[१] वह ब्रह्म ही स्वयं जीव के अन्दर छिपा है और वही इसे विविध प्रकार के आकार प्रदान करता है।[२] जीवन आत्मा के साकार रूप का ही नाम है, क्योंकि आनन्दातिरेक से आत्मा जब साकारता ग्रहण करती है, इसी को जीवन कहते हैं।[३] अतएव जब आत्मा क्षणिक एवं नश्वर नहीं है तब यह जीवन कैसे क्षणिक एवं नश्वर हो जायेगा ? इस जीवन-धारा का प्रवाह सत्य है, सतत प्रवाहित रहने वाला है, प्रकाशपूर्ण है, सुखद है और अथाह है।[४] अतएव जब न जगत् क्षणिक है और न जीवन क्षणिक है, तब फिर जगत् के अन्य पदार्थ कैसे क्षणिक हो सकते हैं ? यहाँ सभी जड़ या चेतन पदार्थों में एक चिति या चेतनता सुन्दर साकार होकर सतत विलास करती रहती है'[५], यहाँ सर्वत्र वही शुद्ध चेतन व्यक्त हो रहा है, जिसे हम जड़ कहते हैं, वह भी चेतन का ही अगतिमय एवं अप्रकाशित रूप है। अतएव यहाँ जड़ता कहीं भी नहीं है। यह तो एक भ्रमात्मक कल्पना है। जब शुद्ध चेतन ही सर्वत्र सभी पदार्थों में अभिव्यक्त हो रहा है, तब फिर इन्हें क्षणिक तथा नश्वर कहना सर्वथा हास्यास्पद है।[६] उस चेतन की सत्ता सर्वत्र व्याप्त रहने के कारण जगत् शाश्वत है, जीवन शाश्वत है और जगत् के सभी पदार्थ शाश्वत हैं। जब तक हमारी भेद-बुद्धि रहती है तब तक पदार्थ नष्ट होते दिखाई देते है, किन्तु अभेद-बुद्धि के प्राप्त होते ही सर्वत्र एक चेतनता का दर्शन होने लगता है, फिर न कोई नष्ट होता हुआ दिखाई देता है और न क्षणिक, अपितु सभी शाश्वत एवं अविनाशी प्रतीत होने लगते हैं।

इसी प्रकार प्रसाद ने बौद्धों के दुःखवाद का निराकरण किया है। प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है कि 'मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आये हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।'[७] प्रसाद का मत है कि सभी धर्मों ने, सभी दार्शनिकों ने जो यह दुःखवाद का पचड़ा गाया है, उसका रहस्य है जीवों में डर उत्पन्न करना, विभीषिका फैलाना, जिससे स्निग्ध जल में अबाध गति से तैरने वाली मछली-सी विश्व-सागर की मानवता चारों ओर जाल ही जाल देखे, उसे जल न दिखाई पड़े और वह डरी हुई, संकुचित-सी, सबसे भयभीत एवं सशंक होकर अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे।[८] अतएव हमें काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुःख के काजल आँखों के आँसू में घोलकर

---

१. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४८। २. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०६।
३. **एक घूँट**, पृष्ठ ३२। ४. **कामायनी**, पृष्ठ २४१।
५. **कामायनी**, पृष्ठ २६४।
६. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२-१३।
७. **एक घूँट**, पृष्ठ १६। ८. **एक घूँट**, पृष्ठ ३१-३२।

सृष्टि के सुन्दर कपोलों को कलुषित नहीं करना चाहिए।[1] यह दुःख भूठा है, इससे चौंकना नहीं चाहिए।[2] हम व्यर्थ में अज्ञान जटिलताओं का अनुमान करके दुःखी हुआ करते हैं, किन्तु दुःख की यह रजनी अधिक देर नहीं रहती, जैसे ही सुख का नवल प्रभात विकसित हुआ कि दुःख की रजनी समाप्त हो जाती है। यदि दुःख दिखाई भी देता है, तो यह कोई अभिशाप नहीं है, अपितु यह तो ईश्वर का रहस्य-मय वरदान है। यहाँ दुःख और सुख दोनों विकसित होते हैं और दोनों ही उस भूमा के मधुमय दान है।[3] अतएव अकेले दुःख की ही सत्ता मानकर दुःखी होना उचित नहीं। यह विश्व तो उस समरस अखंड आनन्दमयी सत्ता का स्वरूप है[4], जहाँ चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है, आनन्द ही आनन्द है, जहाँ विश्व का उज्ज्वल पक्ष अन्धकार की भूमिका पर नृत्य करता रहता है और सबको आलिंगित करके आत्मा का आनन्द सदैव स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहता है तथा जहाँ सर्वत्र शिव ही शिव है, कहीं अशिव एवं अमंगल नहीं है।[5] यह वह विश्व है जहां दुःख का अन्धकार नटराज के अग्नि-तांडव से जल रहा है, उस चेतन-शक्ति की लीला से जहाँ समस्त अवकाश भरा हुआ है और जहाँ सर्वत्र आनन्द की अग्नि प्रज्वलित हो रही है।[6] अतएव दुःख नहीं, अपितु यहाँ आनन्द का प्राधान्य है, वह आनन्द-अम्बुनिधि ही सर्वत्र विद्यमान है और जो उसे जानकर उस आनन्द-अम्बुनिधि में घुल-मिल जाता है, फिर उसे न क्षणिक दुःख सताता है, न क्षणिक वियोग सताता है और न अभाव रहते हैं, अपितु अखंड आनन्द एवं अखंड शान्ति मिलती है।[7]

जैसे प्रसाद ने क्षणिकवाद तथा दुःखवाद का विरोध किया है, वैसे ही बौद्धों के अनात्मवाद का भी घोर विरोध किया है। प्रसाद ने लिखा है कि अनात्म के वाता-वरण में पलने वाला क्षणिक विज्ञान उस शाश्वत सत्ता में संदेह करने लगा[8], वह मानव-जीवन की चैतन्य ज्वाला को निर्वाण में बुझ जाने मे ही उपयोगिता का अनुभव करने लगा[9], उसने हमे संसार से विच्छिन्न करके वैराग्य और अपनी पवित्रता के अभिमान में अद्‌भुत परिस्थिति में डाल दिया, जिससे हमारा विश्व से सामंजस्य होना असम्भव हो गया और हमें शंकाओं तथा निषेधो से जकड़ कर काल्पनिक उच्च आदर्शो के लिए वामन की तरह उचकते रहने की हास्यास्पद स्थिति में डाल दिया।[10] बौद्धों के इस अनात्मवाद के प्रचार से आर्य-संस्कृति का चिरन्तन स्वरूप जीर्ण हो गया, उसका आरम्भिक उल्लासमय रूप नष्ट होने लगा और मानव अलस-अवसाद-

---

१. **एक घूँट**, पृष्ठ १६।
२. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४८।
३. **कामायनी**, पृष्ठ ५३–५४।
४. **कामायनी**, पृष्ठ २५४।
५. **इरावती**, पृष्ठ १०४।
६. **इरावती**, पृष्ठ ५८–५९।
७. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५–२६; **कामायनी**, पृष्ठ २९४।
८. **इरावती**, पृष्ठ ५८।
९. **इरावती**, पृष्ठ ६३।
१०. **वही**, पृष्ठ १०३।

ग्रस्त अपनी कायरता के कारण विवेक का ढोंग करने लगा। बौद्धों की इस अहिंसा, अनात्म एवं अनित्यता के कारण मानवों में कायरता, विश्वासहीनता और निराशा का प्रचार होने लगा और मानव निर्वीर्य हो गया।[१] बौद्ध लोग प्रतिपद सशंक, भयभीत, निष्ठुरता से शासित प्राणी जैसे हो गए और उनके हृदय से यह विचार जाता रहा कि हम आत्मावान् है और हमारा भविष्य आशामय है।[२] इन अनात्मवादी बौद्धों ने हठात् युवक-युवतियों को संन्यास की दीक्षा दी, किन्तु उनके हृदय में सौन्दर्य और काम की पिपासा जाग्रत रही तथा वे व्यर्थ अकर्मण्य बना दिये गये।[३] अनात्मवादी बौद्ध स्वयं आगे चलकर इस अनात्मवाद से विचलित हो उठे और उनके एक दल ने, जो कि महायान का अनुयायी था, शुद्ध बुद्धिवाद के पश्चात् कर्मकाण्डात्मक उपासना और देवताओं की भी कल्पना की। लोकनाथ आदि देवी-देवताओं की उपासना इसी का फल था।[४] इस तरह अनात्मवादी बौद्धों ने आत्मा की अवहेलना करके भी आगे चलकर वैदिक अम्बिका आदि देवियों के अनुकरण पर कितनी ही शक्तियों की सृष्टि की[५], वे प्रज्ञापारमिता-स्वरूप उग्र तारा आदि की उपासना में लीन होकर धर्माचरण के नाम पर दुराचरण करने लगे तथा योगाचार-संघ आदि स्थापित करके नवयुवकों को बहकाने, नवयुवतियों के साथ बलात्कार करने और महाश्मशान में नर-बलि देकर हिंसा करने में प्रवृत्त हो गये।[६] इतना ही नहीं, ये ही अनात्मवादी बौद्ध बड़े-बड़े मठों के महन्त बनकर राज्य से प्रभूत सम्पत्ति प्राप्त करके विलासी और दुराचारी हो गये[७] तथा धर्म की आढ़ में भोलीभाली जनता को ठगकर, [illegible] आदि मन्त्रों से जनता को बहका कर चाँदी-सोना लूटने लगे[८], चैत्यों एवं विहारों की आढ़ में पतिव्रता नारियों को गुमराह करने लगे और उनके साथ बलात्कार करने लगे।[९]

इस प्रकार प्रसाद ने बौद्ध दर्शन की करुणा, समता, विश्वमैत्री, अहिंसा, शील, विनय, सदाचार आदि अच्छी-अच्छी बातों को तो अपनाया है, किन्तु क्षणिकवाद, दुःखवाद तथा अनात्मवाद और उनके प्रव्रज्या लेने एवं असमय में ही युवक-युवतियों को संन्यासी बनाने का घोर विरोध किया है तथा यहाँ तक लिखा है कि 'बौद्धधर्म के कुहर में मनुष्य जीवन प्राप्त नहीं कर पाता, न जाने इस कुक्कुटाराम की प्राचीर कब गिरेगी और बन्दिनी मानवता कब मुक्त होगी।'[१०] प्रसाद यह मानते है कि निस्संदेह बुद्धजी ने संसार को दुःखमय बताकर उससे छूटने का उपाय अवश्य सिखाया,

---

१. **इरावती**, पृष्ठ २१।

२. **वही**, पृष्ठ २२।

३. **राज्यश्री**, पृष्ठ ३०।

४. **का० नि०**, पृष्ठ ५६।

५. **का० नि०**, पृष्ठ ६१।

६. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ २६, ८७, ६१।

७. **विशाख**, पृष्ठ २६।

८. **विशाख**, पृष्ठ ८१-८२।

९. **वही**, पृष्ठ ६७।

१०. **इरावती**, पृष्ठ ६३।

कीट से लेकर इन्द्र तक की समता भी घोषित की, अपवित्रों एवं अछूतों को भी पवित्र बनाने का प्रयत्न किया, दुखियों को गले लगाया और अपनी दिव्य करुणा की वर्षा से विश्व को प्लावित किया, किन्तु अहिंसा, अनात्म एवं अनित्यता के नाम पर जिस कायरता, विश्वास के अभाव और निराशा का प्रचार किया, उससे मानव की बड़ी दुर्गति हुई। पारिवारिक बन्धनों को तोड़कर जनता जिस मुक्ति या निर्वाण-प्राप्ति की आशा में दौड़ने लगी, उससे समाज में अव्यवस्था, अनाचार एवं अविश्वास बढ़ता चला गया और शील एवं विनय के स्थान पर दुःशीलता एवं दुश्चरित्रता पनपती चली गई। इसी कारण प्रसाद ने बौद्धों के क्षणिकवाद के स्थान पर शाश्वतवाद का प्रचार किया है, जिसमें जीव तथा जगत् को महाचेतना का स्वरूप घोषित करके सबको नित्य, सत्य एवं शाश्वत बताया गया है; दुःखवाद के स्थान पर आनन्दवाद का प्रचार किया है, जिसमें अभाव, निराशा, दुःख आदि को तनिक भी अवकाश नहीं है और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द एवं शिव ही शिव का साक्षात्कार करने पर बल दिया गया है और बौद्धों के अनात्मवाद के स्थान पर सर्वात्मवाद की स्थापना की है, जिसमें सर्वत्र उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को देखने पर बल दिया गया है और उस आत्मा को जीवन और जगत् मे सर्वत्र लीलामय आनन्द करते हुए घोषित किया है।

प्रसाद और सांख्य-योग

जिस तरह बौद्ध दर्शन ने प्रसाद को प्रभावित किया है, उस तरह सांख्य-योग-दर्शन ने प्रसाद को प्रभावित तो नहीं किया है, किन्तु सांख्य-योग की तत्व-गणना को शैवदर्शन मे अपनाने के कारण प्रसाद पर भी सांख्य-योग-दर्शन का यत्किंचित् प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। शैवों ने जिन छत्तीस तत्वों का विवेचन किया है, उनमें से पच्चीस तत्वों के नाम वे ही हैं, जिनको सांख्य-योग-दर्शन मे अपनाया गया है। इन पच्चीस तत्वों में से प्रकृति और पुरुष को सांख्य-योग-दर्शन के अन्तर्गत प्रथम मूल तत्वों के रूप में स्वीकार किया गया है, जबकि शैव दर्शन में शिव और शक्ति मूल तत्व है और प्रकृति तथा पुरुष तत्व इनसे ही विकसित हुए हैं। सांख्य-दर्शन में दो प्रमेय माने गये है—पुरुष और प्रकृति। इन दोनों की मूल सत्ता मानी गई है, जिनमें से प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है। पुरुष चेतन है, स्थाणु है, साक्षी है, केवल है, मध्यस्थ है, द्रष्टा है और अकर्त्ता है[१], जबकि प्रकृति जड़ है, क्रियाशील है और महत् से लेकर धरणि पर्यन्त सम्पूर्ण तत्वों की जन्मदात्री है, त्रिगुणात्मिका है, सृष्टि की उत्पादिका है, अज एवं अनादि है तथा शाश्वत एवं अविनाशी है।[२] पुरुष इससे सर्वथा पृथक् है[३], परन्तु अन्ध-पंगु-न्याय से जब दोनों का संयोग होता है तब यह उस संयोग से ही सृष्टि को उत्पन्न करती है।[४] प्रसाद ने सांख्य-योग से प्रभावित होकर ही प्रकृति को जड़ कहा है[५] और 'पर जड़ प्रकृति सब जीव में सब ओर ही

१. **सांख्य-तत्व-कौमुदी, कारिका १८-१९।**
२. **वही, कारिका ११, १२, १४।**
३. **सांख्य-तत्व-कौमुदी, कारिका १७।**
४. **सांख्य-तत्वकौमुदी, कारिका २०।**
५. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ २।

अनमिल रही' कह कर उसे समस्त जीवों अथवा पुरुषों से अनमिल एवं पृथक् रहने वाली बतलाया है।[1] प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है कि 'पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतन्त्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है।'[2] इस तरह प्रसाद ने सांख्य-दर्शन से प्रभावित होकर कई स्थलों पर पुरुष को निर्लिप्त[3], स्वानुभूति का साक्षी[4], चेतन[5], निष्क्रिय[6], द्रष्टा[7], स्थिर एवं स्थाणु या कूटस्थ[8] आदि कहा है और प्रकृति को जड़[9] होकर भी सृष्टि का निर्माण करने वाली[10], मालिनी बनकर जगत् को नैसर्गिक सुषमा से सुसज्जित करने वाली[11], सद्य पुष्पों से अपने यौवन का शृंगार करने वाली[12], अतुलित वैभव से परिपूर्ण[13], जड़ होकर भी चेतन आनन्द मनाने वाली[14], पुरुष की सहचरी बनकर क्रीड़ा करने वाली[15], पुरुष से पृथक् होकर आगतपतिका की भाँति अपने रूप को सजाने वाली[16], नाना प्रकार के प्रलोभन देकर पुरुषों को अपने जाल में फँसाने वाली[17], नेत्र-ताराओं से अपनी सृष्टि की सुषमा निरखने वाली[18], अदृश्य एवं अव्यक्त रहने वाली[19], वैषम्य की सृष्टि करके विषमता की पीड़ा से जगत् को स्पंदित बनाने वाली[20], नियामिका शक्ति बनकर कृत्रिम स्वार्थ-सिद्धि में रुकावट उत्पन्न करने वाली[21], जगत् की रक्षा करने वाली[22] और सृष्टि का विनाश करने के लिए उत्पात मचाने वाली[23], आतंक फैलाने वाली[24] तथा तांडव-लीला करने वाली[25] घोषित किया है।

प्रसाद ने प्रकृति और पुरुष से सम्बन्धित उक्त विचार सांख्य तथा योग-दर्शन से प्रभावित होकर भले ही लिखे हों, किन्तु जहाँ तक प्रसाद के प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी

---

१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ५३।
२. **का० नि०**, पृष्ठ २६।
३. **कामायनी**, पृष्ठ २६४।
४. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६४।
५. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६४।
६. **वही**, पृष्ठ ११; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४६।
७. **वही**, पृष्ठ ११।
८. **वही**, पृष्ठ ६२।
९. **झरना**, पृष्ठ १६; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६४; **कामायनी**, पृष्ठ १४५, १६३।
१०. **चि०**, पृष्ठ १४१; **एक घूँट**, पृष्ठ २६; **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४६; **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २३०; **प्र०**, पृष्ठ २०; **इ०**, पृष्ठ ८३।
११. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २।
१२. **कामायनी**, पृष्ठ ५५।
१३. **कामायनी**, पृष्ठ ५६।
१४. **वही**, पृष्ठ ५६।
१५. **करुणालय**, पृष्ठ ३; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ११।
१६. **करुणालय**, पृष्ठ १।
१७. **करुणालय**, पृष्ठ ७।
१८. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ४३।
१९. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६८।
२०. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।
२१. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३।
२२. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २३०।
२३. **कामायनी**, पृष्ठ १८६।
२४. **कामायनी**, पृष्ठ १८९।
२५. **वही**, पृष्ठ १९५।

सिद्धान्त का प्रश्न है, वहाँ वे वस्तुतः प्रकृति को पुरुष से कभी पृथक् नहीं मानते, उनकी तो स्पष्ट घोषणा है कि वह चेतन-पुरुष पुरातन अथवा चेतन-ब्रह्म प्रकृति से परे नहीं, अपितु उससे पूर्णतया हिला-मिला है[१], उस चेतन की ही चित्कला सृष्टि के रूप में व्यक्त होती है[२], यह व्यक्त जगत् और कुछ नहीं वही शुद्ध-चेतना या चिति है, जो सृष्टि के रूप में यहाँ सतत लीलामय आनन्द कर रही है[३] और यह प्रकृति उसी महाचिति या शिव की परा-शक्ति है, जो उनकी गोद में विकसित होकर अथवा उसी शुद्ध चेतन के अन्तर्गत अभिव्यक्त होकर शोभा पा रही है।[४] अतएव विश्व की यह समस्त लीला प्रकृति की नहीं, अपितु प्रकृति-नाथ की है, विश्व-नियन्ता की है, विश्व में शुभ्रज्योति से सत्पथ का निर्धारण करने वाले शिव की है, जिसमें सारी प्रकृति और सारा विश्व समाया हुआ है और जिसके जानते ही समस्त बन्धन छूट जाते हैं।[५] इसके अतिरिक्त सांख्य-दर्शन में अनेक पुरुषों की कल्पना की गई है।[६] प्रसाद भी पुरुष को जीव मानते हैं और जीवों की अनेकता में विश्वास करते हैं, किन्तु पुरुष को यदि ब्रह्म या शुद्ध चेतन माना जाय, तो वह अनेक नहीं अपितु एक है, केवल है, स्वच्छ है, निर्मल है[७], जड़ हो चेतन—सबके अन्तर्गत उस एक तत्व का ही प्राधान्य है[८] और उस अकेले ने ही विश्वरूप में अपना यह विस्तार किया है।[९] इस प्रकार प्रसाद चेतन पुरुष तथा प्रकृति और ब्रह्म तथा जगत् को पृथक्-पृथक् न मान कर दोनों की अभिन्न सत्ता स्वीकार करते हैं।

प्रकृति और पुरुष की एकता के साथ-साथ प्रसाद सिद्धान्ततः प्रकृति को जड़ नहीं, अपितु चेतन मानते हैं। वैसे भी जब प्रकृति और पुरुष एक ही हैं और पुरुष चेतन है तो प्रकृति कैसे जड़ रह सकती है? उस शुद्ध चेतन की जहाँ सत्ता अप्रकाशित रहती है, उसे जड़ कह दिया जाता है, परन्तु वास्तव में वह भी जड़ नहीं है। सर्वत्र एक शुद्ध चेतन है। इसी कारण जगत् पूर्ण सत्य है।[१०] जब न ब्रह्म जड़ है, न विश्व जड़ है, तब प्रकृति कैसे जड़ हो सकती है? प्रसाद इसी कारण प्रकृति को भी पूर्णतया चेतन मानते हैं, तभी तो प्रकृति कभी उषा-नागरी बनकर अपना घूँघट खोलती, इधर-उधर झाँकती, अरुण अपांगों से देखती, हँसती और प्राची के प्रांगण में टहलती है[१२] तथा अम्बर-पनघट में तारा-घट डुबोया करती है[११], सृष्टि को सुनहरा मद्य पिलाया करती है[१३], हेम-कुम्भ लेकर जगती के सुखों को भर-भर कर ढुलकाया करती

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २८६।
२. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६४।
३. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।
४. **चित्राधार**, पृष्ठ ७२।
५. **करुणालय**, पृष्ठ २६।
६. **सांख्य-तत्व-कौमुदी**, कारिका १८।
७. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४८।
८. **कामायनी**, पृष्ठ ३।
९. **वही**, पृष्ठ १०६।
१०. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२--१३।
११. **झरना**, पृष्ठ ११।
१२. **लहर**, पृष्ठ १६।
१३. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १०८।

है[१], प्राची के प्रांगण में वह नित्य रजनी के बालों से बिखरे हुए मोती बटोरने आया करती है[२] और विजयलक्ष्मी के समान उदय होकर अपने सुनहरे तीरों की वर्षा किया करती है।[३] ऐसे ही कभी प्रकृति अस्ताचल पर युवती संध्या बनकर अपनी घुँघराली अलकें खोलकर घूमती है[४], पक्षियों के नाद से शान्ति को बुलाती है[५], विश्व में स्वप्नलोक का सृजन करती है[६], अपनी घुंघराली अलकों से सर्वत्र सुख बिखराती है[७] और बल्कल-वसन पहनकर तारों से अलक गूँथकर तथा कदम्ब की रसना धारण करके जब वह संध्या-सुन्दरी के रूप में मानसरोवर के किनारे आती है, तब उसे आता देख खग-कुल किलकारी भरने लगता है, कलहंस कलरव करने लगते हैं और प्रतिध्वनियाँ किन्नरियाँ बनकर अभिनव तानें लेती हुई नृत्य करने लगती हैं।[८] यही प्रकृति जब रजनी का रमणीय रूप धारण करके आती है, तब चन्द्र के प्याले में मदिरा-पान करती है[९], एक श्यामा युवती की तरह तारक-खचित नीलपट का परिधान ओढ़कर लालसा की दीप्त मणियों से ज्योतिर्मयी, हास-विलासमयी बनकर आती है[१०], चन्द्र-ज्योत्स्ना के रूप में विकल खिलखिलाकर हँसती है, रजत-कुसुम की धूल उड़ाती है, समीर के बहाने हाँफती हुई-सी अपने किसी प्रिय के पास जाती है, घूँघट उठा मुसक्याती और किसी को देखती हुई मार्ग में ठिठकती-सी चलती है और उस तीव्र गति में रजनी-रानी का नीलांचल छूट जाता है, जिससे तारों की मणियाँ बिखर जाती हैं, उसके अंग खुल जाते हैं और उसकी भोली-भाली छवि को अकिंचन जगत् लूटने लगता है।[११] इतना ही नहीं, प्रकृति की सचेतनता को व्यक्त करते हुए प्रसाद ने लिखा है कि सागर की लहरें अम्बर के कानों में निश्छल प्रेम-कथा कहती हैं[१२], सुरधनु-रंजित नव-जलधर से भरे क्षितिज सरिता के हरित कूल रूपी युग-अधरों को चूमते हैं[१३], सिंधु-लहरें कूल का आलिंगन करती हैं[१४], भौंरे फूलों पर आनन्द-भैरवी गाते हैं[१५], बादल चपला की व्याकुलता और चातक का करुण विलाप लेकर गगन के तारा-आँसू पोंछता हुआ किसी के दुःख से आप ही रोया करता है[१६], अनिल कली के कपाट खोलकर मीठी बातें करता हुआ बरजोरी उसका रस छीना करता है[१७], पारिजात-वृक्ष अपने सौरभ से दक्षिण-पवन में कम्प उत्पन्न करता हुआ कलियों को

---

१. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०७।
२. **कंकाल**, पृष्ठ ८५।
३. **कामायनी**, पृष्ठ २३।
४. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४०।
५. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २३०।
६. **आकाशदीप**, पृष्ठ १२।
७. **कामायनी**, पृष्ठ २२१।
८. **कामायनी**, पृष्ठ २८५।
९. **झरना**, पृष्ठ ११।
१०. **लहर**, पृष्ठ ६१।
११. **कामायनी**, पृष्ठ ३९--४०।
१२. **लहर**, पृष्ठ १४।
१३. **लहर**, पृष्ठ २७।
१४. **वही**, पृष्ठ ३४।
१५. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ७९।
१६. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ११८।
१७. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २०।

चटकाकर झूम-झूमकर नाचता है[1], चन्द्रकिरणें और लहरियाँ परस्पर वार्तालाप करते हैं और पवन चुपचाप इनकी बातें सुनकर नदी के बहाव की ओर मर्यादा मारकर संदेश कहने को भागता है[2], मधुपों की टोलियाँ जूही की प्यालियों में मकरन्द-मदिरा पीकर लड़खड़ाती है, दक्षिण पवन मौलसिरी के फूलों की कौड़ियाँ फेंकता है और कमर से झुकी हुई अलबेली कलियाँ नाचती है[3], वल्लरियाँ नृत्य में तल्लीन हो जाती हैं, जिनकी सुगन्धि की लहरें बिखर उठती हैं, जिन पर मधुकर मदमाते होकर नूपुर से गूंजते है और उन्मद मलयानिल गिरता-पड़ता दौड़ता है[4] इत्यादि। अतः प्रसाद के विचार मे न तो प्रकृति जड़ है और न यह प्रकृति-कृत जगत् ही जड़ है, अपितु शुद्ध-चेतन से परिव्याप्त होने के कारण समस्त प्रकृति एवं उसकी प्रतिकृति रूप विश्व चेतन है, सत्य है तथा सतत चिर सुन्दर है।'[5]

इस प्रकार प्रसाद ने जगत् एवं प्रकृति को सत् रूप मानकर सांख्य-योग की ही भाँति सत्कार्यवाद की पुष्टि तो अवश्य की है, परन्तु जैसे सांख्य-योग-दर्शन में जगत् को सत् प्रकृति का सत्-कार्य मानकर भी सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों की सत्ता मानसिक व्यापार या चित्तवृत्ति से सर्वथा भिन्न, पृथक् या स्वतन्त्र रूप में स्वीकार की है और इसे बाह्यार्थवाद कहा है[6], वैसे प्रसाद इस बाह्यार्थवाद को स्वीकार नहीं करते। प्रसाद तो प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से अधिक प्रभावित हैं और वहाँ पर जैसे चिति या ब्रह्म को अपनी इच्छा से ही अपनी भित्ति पर विश्व का उन्मीलन करने वाली अथवा अपने अन्तर्गत ही विश्व की अभिव्यक्ति करने वाली घोषित किया गया है[7], वैसे ही प्रसाद भी उस महाचिति को सजग होकर विश्व के रूप में अभिव्यक्त होते हुए तथा लीलामय आनन्द करते हुए मानते है और कहते हैं कि यह विश्व उसी का अभिराम उन्मीलन है[8], उसी की इच्छा का परिणाम है[9] और यह विश्व स्वयं ईश्वर है।[10] अतएव प्रसाद बाह्य पदार्थो अथवा जगत् को चित्तवृत्ति से अथवा मानसिक व्यापार से अथवा अन्तश्चेतना से तनिक भी पृथक् नहीं मानते, अपितु समरसता के सिद्धान्त को अपनाने के कारण अभेद-रूप से शुद्ध-चेतन का ही सर्वत्र विलास स्वीकार करते है।

---

१. **स्कन्दगुप्त**, पृष्ठ ४०।
२. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ४२।
३. **कंकाल**, पृष्ठ ४३।
४. **कामायनी**, पृष्ठ २६२।
५. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।
६. **सांख्य-तत्व-कौमुदी**. कारिका ४२।
७. **स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र** २।
८. **विश्व का उन्मीलन अभिराम। —कामायनी**, पृष्ठ ५३।
९. **सर्ग, इच्छा का है परिणाम। —कामायनी**, पृष्ठ ५३।
१०. **प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।**
—प्रेम-पथिक, पृष्ठ २४।

इसके अतिरिक्त प्रसाद भी कैवल्य अथवा मुक्ति को मानते हैं, परन्तु सांख्य-योग-दर्शन में जैसे बताया गया है कि साधक जैसे ही यह अनुभव कर लेता है कि कर्त्री, भोक्त्री एवं परिणामिनी प्रकृति से अकर्त्ता, अभोक्ता एवं अपरिणामी पुरुष (मैं) सर्वथा विविक्त या पृथक् हूँ, वैसे ही पुरुष प्रकृति से उदासीन हो जाता है और प्रकृति भी पुरुष की ओर से उपरत हो जाती है अर्थात् अपने भोगादि व्यापार बंद कर देती है।[1] उस क्षण पुरुष को विशुद्ध ज्ञान होता है, जिससे उसके संचित धर्म, अधर्म आदि कर्मो का बीज-भाव फलोत्पादकत्व नष्ट हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध-कर्म के अवशिष्ट संस्कार भोग से ही नष्ट होते हैं। उस समय दण्ड से चलाये गये कुम्हार के चाक के समान वह शरीर धारण किये रहता है, परन्तु शरीर-पात होते ही भोग एवं अपवर्ग दोनों ही प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने के कारण प्रकृति उस ज्ञानी के प्रति प्रवृत्त होना वन्द कर देती है और वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न अपने चेतन रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के कारण ऐकान्तिक अथवा आत्यन्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अनुभवात्मक या [illegible] ज्ञान होने से लेकर शरीर नष्ट होने तक के बीच की स्थिति जीवन्मुक्ति कहलाती है और शरीर-पात होने के उपरान्त की अनवधि एवं अनन्त की स्थिति विदेह-मुक्ति कहलाती है। इस तरह सांख्य-योग-दर्शन में प्रकृति से भिन्न चिति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना कैवल्य या मोक्ष कहलाता है[2], परन्तु प्रसाद का मत इससे सर्वथा भिन्न है। प्रसाद का मत है कि जैसे ही साधक सतत साधना द्वारा अथवा आणव, शाक्त और शांभव उपायों के द्वारा जीव और ब्रह्म, ब्रह्म और जगत् तथा जीव और जगत् की एकता एवं अभिन्नता का ज्ञान प्राप्न करता हुआ अपने विस्मृत रूप को जान लेता है और सर्वत्र एक चेतनता को विलास करती हुई देखने लगता है, उस क्षण उसे प्रकृति और पुरुष पृथक्-पृथक् नहीं, अपितु समरस, अभेद एवं अभिन्न जान पड़ते हैं तथा अपने ही अन्तर्गत व्याप्त चेतनता के अन्दर दिखाई पड़ते हैं, तब वह उस अभिन्नता एवं समरसता का अनुभव करता हुआ मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है और अखंड आनन्द स्वरूप हो जाता है।[3]

इस प्रकार प्रसाद सांख्य और योग-दर्शन से यत्किंचित् प्रभावित होते हुए भी प्रकृति और पुरुष की भिन्नता नहीं, अपितु अभिन्नता एवं अभेदता में विश्वास करते हैं, प्रकृति को जड़ नही, अपितु चेतन मानते हैं, प्रकृति की सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता न स्वीकार करके शिव की अनुचरी-शक्ति अथवा शिव से उत्पन्न एक तत्व स्वीकार करते हैं, जगत् को जड़ न कहकर चेतन मानते हैं, प्रलय के समय प्रकृति को पुरुष या शुद्ध-चेतन में पूर्ण विलीन हो जाने वाली स्वीकार करते हैं, सम्पूर्ण बाह्य पदार्थो की सत्ता को मानसिक जगत् से पृथक् स्वतन्त्र रूप में न मानकर मन या आत्मा के

---

१. **सांख्य-तत्व-कौमुदी, कारिका** ६२।

२. **सांख्य-तत्व-कौमुदी, कारिका** ६७-६८; **पातंजलि योगदर्शन** ४।३४

३. **कामायनी**, पृष्ठ २८८, २८९, २९४।

अन्तर्गत ही मानते हैं और मोक्ष-काल में प्रकृति और पुरुष को पृथक् नहीं, अपितु समरस, अभेद एवं अखंड रूप से एक मानते हैं। प्रसाद का तो शिव-शक्ति का समाहार अथवा प्रकृति-पुरुष का एक हो जाना ही मोक्ष है और यह मुक्तावस्था या मोक्ष सांख्यवादी या योगी जनों की भाँति शुष्क एवं नीरस नहीं, अपितु अखण्ड आनन्द-पूर्ण है।

प्रसाद और न्याय-वैशेषिक

प्रसाद के दार्शनिक विचारों पर जहाँ सांख्य एवं योग-दर्शन का प्रभाव पड़ा है, वहाँ वे न्याय एवं वैशेषिक दर्शन से भी यत्किंचित् प्रभावित जान पड़ते हैं। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन मे प्रमाण, प्रमेय, तर्क आदि सोलह पदार्थो के द्वारा जिस तत्व-ज्ञान अथवा सत्य के जानने पर बल दिया गया है और बताया गया है कि इसी ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त हो जाता है[1], प्रसाद ने भी 'सदा समर्थन करती उसकी तर्कशास्त्र की पीढ़ी, ठीक यही है सत्य यही है' आदि कहकर इस तत्व-ज्ञान अथवा सत्य-रूप के जानने का समर्थन किया है।[2] इसके अतिरिक्त न्याय एवं वैशेषिक दर्शन जिस तरह सृष्टि की उत्पत्ति के लिए परमाणुवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते है और दो परमाणुओं के योग से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकों के योग से त्र्यणुक, चार त्र्यणुकों से चतुरणुक और चतुरणुकों के योग से अन्य स्थूल पदार्थो की सृष्टि का होना मानते हैं[3] उसी तरह प्रसाद भी शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश को परमाणुओं से निर्मित बताते है[4], स्थूल भूतों की रचना परमाणुओं से सिद्ध करते हैं[5] और सम्पूर्ण सृष्टि का विकास परमाणुओं से मानते हैं।[6]

प्रसाद की उक्त मान्यताओं के आधार पर यह कहना किसी प्रकार भी न्याय-संगत प्रतीत नही होता कि प्रसाद न्याय एवं वैशेषिक दर्शन से पूर्णतया प्रभावित हैं। यह माना कि प्रसाद ने न्याय एवं वैशेषिक मत में मान्य प्रमाण आदि का यत्किंचित् समर्थन किया है, परन्तु वे उनके प्रामाण्यवाद से तनिक भी सहमत नही है, क्योंकि न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान और उस ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को परतः स्वीकार किया गया है। उनका मत है कि ज्ञान का ग्रहण सर्वत्र मानस व्यापार रूप 'अनुव्यवसाय' से और प्रामाण्य का ग्रहण 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान' से होता है। इसलिये ज्ञान और प्रामाण्य का ग्रहण भिन्न-भिन्न सामग्री से होने के कारण 'ज्ञानग्राहकातिरिक्त अनपेक्षत्व' रूप स्वतः प्रामाण्य नहीं, अपितु

---

१. प्रमाणादि षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति।

—तर्कभाषा, पृष्ठ ८।

२. कामायनी, पृष्ठ ११०।

३. तर्कभाषा, पृष्ठ १८१।

४. चन्द्रगुप्त, पृष्ठ ९९।

५. जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ १२।

६. कामायनी, पृष्ठ ७२-७३।

'ज्ञानग्राहकातिरिक्त अनपेक्षत्व' रूप स्वतः प्रामाण्य ही मानना चाहिए।[1] परन्तु प्रसाद इसके विपरीत स्वतः प्रामाण्य की ओर ही इंगित करते हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि प्रसाद पूर्णतया अभेदवादी हैं, वे ज्ञान और ज्ञान के प्रामाण्य में सहयोग देने वाली सामग्री में कोई भेद मानने को तैयार नहीं है। उनका तो यही कथन है कि जब मन कोई अपना मत निश्चित कर लेता है, तब वह सदैव बुद्धि के बल द्वारा उसके प्रमाणों की खोज किया करता है और उसे वैसे ही प्रमाण भी मिल जाते है।[2] अतएव आत्मा की एकरूपता एवं अभिन्नता को सर्वत्र देखने के कारण तथा ज्ञान और ज्ञान के आधार को एक मानने के कारण ज्ञान और ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य को परतः न मानकर स्वतः मानना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है।[3]

यह माना कि प्रसाद ने परमाणुओं से सृष्टि का विकास स्वीकार किया है, परन्तु जिस तरह न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में परमाणु को ही सबसे सूक्ष्म और नित्य प्राकृतिक मूल तत्व माना गया है[4], वैसे प्रसाद परमाणु को सबसे सूक्ष्म और नित्य-मूल तत्व न मानकर उस चिति या चेतना-शक्ति को मूल तत्व मानते हैं, जिसकी प्रेरणा से सृष्टि के परमाणु परस्पर मिलकर सृष्टि का विकास करते हैं।[5] प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है कि 'सत्ता कभी लुप्त भले ही हो जाय, किन्तु उसका नाश नहीं होता। गृह का रूप न रहेगा तो ईटें रहेंगी, जिनके मिलने पर गृह बने थे। वह रूप परिवर्तित हुआ तो मिट्टी हुई, राख हुई, परमाणु हुए। उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती और न उसका चेतनमय स्वभाव उससे भिन्न होता है।'[6] इस तरह परमाणुओं के रूप में भी वही शुद्ध चेतन सदैव विद्यमान रहता है। प्रलय में ये परमाणु बिखर जाते हैं[7] और सृष्टि के समय मिल जाते हैं, जिनसे विविध प्रकार के भूत-समुदाय का निर्माण होता है।[8] इस तरह न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में परमाणु को ही मूल तत्व मानने के कारण ईश्वर एवं परमात्म-शक्ति को नहीं स्वीकार किया गया है[9] जबकि प्रसाद पूर्णतया परमात्म-शक्ति अथवा ईश्वर को मानते हैं, जिनसे सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है और जो सर्वथा स्वतन्त्र, विभु एवं व्यापक है।[10]

इसी तरह न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में केवल जीवात्मा को अणु, चेतन, विभु, नित्य आदि तो कहा है, परन्तु परमात्मा के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है।[11] प्रसाद भी जीवात्मा को परमात्मा का ही रूप मानने के कारण उक्त सभी गुणों से युक्त तो स्वीकार करते हैं, परन्तु जीवात्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। शुद्ध

---

१. **तर्कभाषा**, पृष्ठ १४२।
२. **कामायनी**, पृष्ठ ११०।
३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।
४. **तर्कभाषा**, पृष्ठ १८०।
५. **कामायनी**, पृष्ठ ७२।
६. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२-१३।
७. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ७०; **कामायनी**, पृष्ठ २०।
८. **कामायनी**, पृष्ठ ७३।
९. **तर्कभाषा**, पृष्ठ १५४।
१०. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३।
११. **तर्कभाषा**, पृष्ठ १५२-१५३।

'ज्ञानग्राहकानिरिक्त अनपेक्षत्व' रूप स्वतः प्रामाण्य ही मानना चाहिए।[१] परन्तु प्रसाद इसके विपरीत स्वतः प्रामाण्य की ओर ही इंगित करते हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि प्रसाद पूर्णतया अभेदवादी है, वे ज्ञान और ज्ञान के प्रामाण्य में सहयोग देने वाली सामग्री में कोई भेद मानने को तैयार नहीं हैं। उनका तो यही कथन है कि जब मन कोई अपना मत निश्चित कर लेता है, तब वह सदैव बुद्धि के बल द्वारा उसके प्रमाणों की खोज किया करता है और उसे वैसे ही प्रमाण भी मिल जाते है।[२] अतएव आत्मा की एकरूपता एवं अभिन्नता को सर्वत्र देखने के कारण तथा ज्ञान और ज्ञान के आधार को एक मानने के कारण ज्ञान और ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य को परतः न मानकर स्वतः मानना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है।[3]

यह माना कि प्रसाद ने परमाणुओं से सृष्टि का विकास स्वीकार किया है, परन्तु जिस तरह न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में परमाणु को ही सबसे सूक्ष्म और नित्य प्राकृतिक मूल तत्व माना गया है[४], वैसे प्रसाद परमाणु को सबसे सूक्ष्म और नित्य-मूल तत्व न मानकर उस चिति या चेतना-शक्ति को मूल तत्व मानते हैं, जिसकी प्रेरणा से सृष्टि के परमाणु परस्पर मिलकर सृष्टि का विकास करते हैं।[५] प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है कि 'सत्ता कभी लुप्त भले ही हो जाय, किन्तु उसका नाश नहीं होता। गृह का रूप न रहेगा तो ईटें रहेगी, जिनके मिलने पर गृह बने थे। वह रूप परिवर्तित हुआ तो मिट्टी हुई, राख हुई, परमाणु हुए। उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती और न उसका चेतनमय स्वभाव उससे भिन्न होता है।'[६] इस तरह परमाणुओं के रूप में भी वही शुद्ध चेतन सदैव विद्यमान रहता है। प्रलय में ये परमाणु बिखर जाते हैं[७] और सृष्टि के समय मिल जाते हैं, जिनसे विविध प्रकार के भूत-समुदाय का निर्माण होता है।[८] इस तरह न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में परमाणु को ही मूल तत्व मानने के कारण ईश्वर एवं परमात्म-शक्ति को नहीं स्वीकार किया गया है[९] जबकि प्रसाद पूर्णतया परमात्म-शक्ति अथवा ईश्वर को मानते हैं, जिनसे सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है और जो सर्वथा स्वतन्त्र, विभु एवं व्यापक है।[१०]

इसी तरह न्याय एवं वैशेपिक दर्शन में केवल जीवात्मा को अणु, चेतन, विभु, नित्य आदि तो कहा है, परन्तु परमात्मा के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है।[११] प्रसाद भी जीवात्मा को परमात्मा का ही रूप मानने के कारण उक्त सभी गुणों से युक्त तो स्वीकार करते हैं, परन्तु जीवात्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। शुद्ध

---

१. **तर्कभाषा**, पृष्ठ १४२। २. **कामायनी**, पृष्ठ ११०।
३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६४। ४. **तर्कभाषा**, पृष्ठ १८०।
५. **कामायनी**, पृष्ठ ७२। ६. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२-१३।
७. **प्रतिध्वनि**, पृष्ठ ७०; **कामायनी**, पृष्ठ २०।
८. **कामायनी**, पृष्ठ ७३। ९. **तर्कभाषा**, पृष्ठ १५४।
१०. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३। ११. **तर्कभाषा**, पृष्ठ १५२-१५३।

चेतन ही षट् कंचुकों एवं त्रिविध मलों से आवृत्त होने पर जीवात्मा का रूप ग्रहण कर लेता है। अतएव जब षट् कंचुकों एवं त्रिविध मलों का आवरण हटा दिया जाता है तब निर्विकार होकर जीवात्मा भी 'चेतन का साक्षी' होने के कारण वही शुद्ध चेतन एवं महाचिति रूप हो जाता है।[1] अतः प्रसाद की दृष्टि में आत्मा अथवा जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, अपितु वह भी शुद्ध-चेतन एवं महाचिति का ही रूप है।

इसके अतिरिक्त न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में इक्कीस प्रकार से दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति का नाम मोक्ष या अपवर्ग कहा है[2], किन्तु प्रसाद केवल दुःखों की ही आत्यंतिक निवृत्ति को मोक्ष नहीं कहते, अपितु दुःख-सुख, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य ज्ञान आदि सभी के घुल-मिल जाने अथवा समरस हो जाने पर जो अखंड आनंद की उपलब्धि होती है, उसे मोक्ष मानते हैं।[3]

इस प्रकार प्रसाद ने न्याय एवं वैशेषिक दर्शन से प्रभावित होकर प्रमाण की मान्यता तथा परमाणुओं से सृष्टि-क्रम का विकास अवश्य दिखलाया है, परन्तु प्रसाद उक्त दर्शन से सर्वथा भिन्न विचार रखते हैं। इसी कारण वे न्याय एवं वैशेषिक मत के परतः प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के स्थान पर स्वतः प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के अधिक निकट जान पड़ते हैं। वे परमाणु को ही चरम सत्ता नहीं मानते, जीवात्मा को स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार नहीं करते, अपितु ईश्वर की सत्ता में पूर्ण विश्वास रखते हैं तथा परमाणु एवं जीवात्मा को भी उसी ईश्वर एवं शुद्ध चेतन का स्वरूप मानते हुए एक मात्र चिति अथवा शुद्ध चेतन की ही सर्वोच्च सत्ता अथवा मूल सत्ता स्वीकार करते हैं और उसी शुद्ध चेतन को विविध रूपों में विकसित होता हुआ मानते हैं। इसके साथ ही प्रसाद का स्पष्ट मत है कि जीवात्मा को किसी भी प्रकार यदि तत्व-ज्ञान हो जाता है और वह अपने विस्मृत रूप को जान लेता है तो वह मुक्त हो जाता है, शुद्ध चेतन स्वरूप हो जाता है और न्याय एवं वैशेषिक दर्शन की भाँति उसकी केवल दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति ही नहीं होती, अपितु वह अखंड आनंद में भी निमग्न हो जाता है।

प्रसाद और शांकर वेदान्त

प्रसाद के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वे शांकर वेदान्त-दर्शन से भी बहुत कुछ प्रभावित हुए हैं। शांकर वेदान्त-दर्शन में कहा

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २८६।

२. **मोक्षोऽपवर्गः। स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्य आत्यंतिकी निवृत्तिः।**
—**तर्कभाषा**, पृष्ठ २३२।

३. **कामायनी**, पृष्ठ २५४, २८६, २९४।

गया है कि ब्रह्म सच्चिदानंद-स्वरूप हैं[१], अद्वितीय, विशुद्ध विज्ञानघन, निर्मल, शान्त, आदि-अंत-रहित, मायाकृत समस्त भेदों से रहित, नित्य-सुख-स्वरूप, अरूप, अव्यक्त, अनाम, अक्षय तेज-सम्पन्न, स्वयं प्रकाशित, अनंत, निर्विकल्प एवं केवल है[२] तथा अप्रमेय, अज्ञेय, अव्यय, निरुपाधि, निरवयव एवं देश-काल-परिच्छेद-रहित है।[३] वह विश्व के जन्म, स्थिति और संहार का कारण है[४] तथा पूर्ण अद्वैत, एकरूप एवं कूटस्थ है।[५] ईश्वर सगुण है तथा ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज, ज्ञान आदि से संयुक्त है[६] और यह सृष्टि उसकी लीला का विलास है।[७] माया उस परमेश्वर की अनिर्वचनीय शक्ति है, जो विश्व की रचना करती है और जीवों को बंधन में डाला करती है।[८] इस माया से ही महत्तत्त्व आदि के क्रम से सृष्टि की रचना हुई है।[९] यह माया ही प्रकृति है और ईश्वर उसका प्रेरक है।[१०] जीव ईश्वर के अंश तथा अनेक हैं।[११] यह जीव ही कर्त्ता तथा भोक्ता है और कर्मानुसार अनेक रूप धारण करता रहता है।[१२] जीवात्मा नित्य है तथा जिस तरह कोई व्यक्ति जीर्ण वस्त्र उतार कर नवीन वस्त्र धारण करता है उसी तरह यह जीर्ण शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण करता रहता है।[१३] यह अविद्या के कारण दुःखी होता है और अविद्या के नष्ट होते ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है[१४], किन्तु अविद्या का नाश कर्मों से नहीं होता, अपितु ज्ञान से होता है।[१५] ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।[१६] आत्म-साक्षात्कार होने पर

---

१. **तैत्तिरीयोपनिषद्** २।६।१, २।८।४; **विवेक-चूड़ामणि** २३९।
२. **विवेक-चूड़ामणि** २३९-२४१।
३. **श्वेताश्वर उपनिषद्** ६।१९; **छांदोग्य उपनिषद्** ६।२।२; **मुंडक उपनिषद्** १।१।६; **ऐतरेयोपनिषद्** १।१।१; **केनोपनिषद्** १।३ **तथा ब्रह्मसूत्र** ४।३।१४ **पर शांकर भाष्य।**
४. **तैत्तिरीयोपनिषद्** ३।१, ३।६ **और ब्रह्मसूत्र** १।१।२ **पर शांकर भाष्य।**
५. **विवेक-चूड़ामणि** २२८; **ब्रह्मसूत्र** १।३।१९; **छांदोग्य उपनिषद्** ६।२।१-२; **ईशावास्योपनिषद्** ४ **पर शांकर भाष्य।**
६. **गीता पर शांकर भाष्य का उपोद्घात।** ७. **ब्रह्मसूत्र** २।१।३३ **पर शांकर भाष्य।**
८. **विवेक-चूड़ामणि** ११०-११४। ९. **विवेक-चूड़ामणि** १२४-१२५।
१०. **श्वेताश्वतर उपनिषद्** ४।१० **पर शांकर भाष्य।**
११. **ब्रह्मसूत्र** १।३।१५,२।३।४३ **और गीता** ४।१०-११ **पर शांकर भाष्य।**
१२. **ब्रह्मसूत्र** २।३।३३-३९; **श्वेताश्वतरोपनिषद्** ४।६; **ईशोपनिषद्** ३ **और गीता** २।५१ **पर शांकर भाष्य।**
१३. **गीता** २।२२-२४ **पर शांकर भाष्य।**
१४. **ब्रह्मसूत्र** २।३।४६ **पर शांकर भाष्य; विवेक-चूड़ामणि** ५५९।
१५. **ब्रह्मसूत्र** १।१।४, ४।१।१३; **गीता** ४।१९,३७ **पर शांकर भाष्य।**
१६. **ब्रह्मसूत्र** १।३।३९, २।१।११; **श्वेताश्वतरोपनिषद्** ३।८, ६।१३-१५ **तथा गीता** ४।३३, ३९ **पर शांकर भाष्य।**

देहपात से पूर्व ही आत्मा जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर लेती है।[1] मुक्तात्मा ब्रह्म-स्वरूप हो जाती है तथा उसे सच्चिदानंद-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।[2]

शांकर वेदान्त के उक्त विचारों से प्रसाद के दार्शनिक विचारों का साम्य होने पर भी प्रसाद केवलाद्वैतवादी नहीं हैं, क्योंकि शंकर के अद्वैतवाद में निर्गुण और सगुण ब्रह्म में भेद माना गया है[3], जबकि प्रसाद ब्रह्म या शिव को निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों में देखते हैं। उनके ब्रह्म अलख[4], अरूप[5], अव्यक्त[6], अनस्तित्व[7], अदृष्ट[8], निराकार[9], अमूर्त[10] और सबसे परे भी है[11] और सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान एवं अनुग्रह नामक पंच कृत्यों को नित्य करने के लिए विश्व-रूप एवं विश्व-शरीरी भी हैं[12], वे शिव-रूप धारण करके जगत् का कल्याण करते हैं[13], रुद्र-रूप धारण करके भयंकर नाराच लेकर प्रलय मचाते हैं[14] और नटराज का रूप धारण करके आनन्दपूर्ण सुन्दर तांडव-नृत्य करते हैं, जो उनके सृजन और संहार का प्रतीक है तथा जिसमें घुल-मिलकर प्रकृति अपना सुन्दर एवं रमणीय रूप धारण करती है।[15]

शांकर मत में 'ईश्वर' को मायोपाधिक अथवा अज्ञानोपहित चेतन माना गया है और ईश्वर तथा ब्रह्म में भेद किया गया है[16], जबकि प्रसाद ब्रह्म तथा ईश्वर में कोई भेद नहीं मानते। प्रसाद के मतानुसार परम शिव ही सृष्टि-कर्त्ता के रूप में मायोपाधिक हो जाते हैं और विराट् विश्व का रूप धारण कर लेते हैं।[17] वैसे वे विश्वोत्तीर्ण एवं

---

१. **विवेक-चूड़ामणि** ४२६-४४२, **गीता** २।५१ **पर शांकर भाष्य।**
२. **मुंडकोपनिषद्** ३।२।६ **पर शांकर भाष्य, विवेक-चूड़ामणि** ४७५।
३. **ब्रह्मसूत्र** १।२।१४, ४।३।१४ **पर शांकर भाष्य।**
४. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६८। ५. **लहर**, पृष्ठ २०।
६. **चित्राधार**, पृष्ठ ७२।
७. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १४२; **कामायनी**, पृष्ठ २०।
८. **लहर**, पृष्ठ २२, ७७; **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २२६; **आकाशदीप**, पृष्ठ ६४; **ध्रुवस्वामिनी**, पृष्ठ १३।
९. **चित्राधार**, पृष्ठ ७२।
१०. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ३४।
११. **लहर**, पृष्ठ २०; **चित्राधार**, पृष्ठ १२४, १३६; **विशाख**, पृष्ठ ३१; **राज्यश्री**, पृष्ठ ६८।
१२. **चित्राधार**, पृष्ठ २६, ७२; **इरावती**, पृष्ठ १०४; **कामायनी**, पृष्ठ १८५।
१३. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २३। १४. **कामायनी**, पृष्ठ १८५, २०२।
१५. **कामायनी** पृष्ठ २५३, २५४।
१६. **पंचदशी** १।१६, **वेदान्तसार**, पृष्ठ ३।
१७. **चित्राधार**, पृष्ठ १२४; **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०६; **झरना**, पृष्ठ ५०; **कामायनी**, पृष्ठ २८८।

गया है कि ब्रह्म सच्चिदानंद-स्वरूप हैं[1], अद्वितीय, विशुद्ध विज्ञानघन, निर्मल, शान्त, आदि-अंत-रहित, मायाकृत समस्त भेदों से रहित, नित्य-सुख-स्वरूप, अरूप, अव्यक्त, अनाम, अक्षय तेज-सम्पन्न, स्वयं प्रकाशित, अनंत, निर्विकल्प एवं केवल है[2] तथा अप्रमेय, अज्ञेय, अव्यय, निरुपाधि, निरवयव एवं देश-काल-परिच्छेद-रहित है।[3] वह विश्व के जन्म, स्थिति और संहार का कारण है[4] तथा पूर्ण अद्वैत, एकरूप एवं कूटस्थ है।[5] ईश्वर सगुण है तथा ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज, ज्ञान आदि से संयुक्त है[6] और यह सृष्टि उसकी लीला का विलास है।[7] माया उस परमेश्वर की अनिर्वचनीय शक्ति है, जो विश्व की रचना करती है और जीवों को बंधन में डाला करती है।[8] इस माया से ही महत्तत्त्व आदि के क्रम से सृष्टि की रचना हुई है।[9] यह माया ही प्रकृति है और ईश्वर उसका प्रेरक है।[10] जीव ईश्वर के अंश तथा अनेक हैं।[11] यह जीव ही कर्त्ता तथा भोक्ता है और कर्मानुसार अनेक रूप धारण करता रहता है।[12] जीवात्मा नित्य है तथा जिस तरह कोई व्यक्ति जीर्ण वस्त्र उतार कर नवीन वस्त्र धारण करता है उसी तरह यह जीर्ण शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण करता रहता है।[13] यह अविद्या के कारण दुःखी होता है और अविद्या के नष्ट होते ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है[14], किन्तु अविद्या का नाश कर्मों से नहीं होता, अपितु ज्ञान से होता है।[15] ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।[16] आत्म-साक्षात्कार होने पर

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् २।६।१, २।८।४; विवेक-चूड़ामणि २३९।
२. विवेक-चूड़ामणि २३९-२४१।
३. श्वेताश्वर उपनिषद् ६।१९; छांदोग्य उपनिषद् ६।२।२; मुंडक उपनिषद् १।१।६; ऐतरेयोपनिषद् १।१।१; केनोपनिषद् १।३ तथा ब्रह्मसूत्र ४।३।१४ पर शांकर भाष्य।
४. तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१, ३।६ और ब्रह्मसूत्र १।१।२ पर शांकर भाष्य।
५. विवेक-चूड़ामणि २२८; ब्रह्मसूत्र १।३।१९; छांदोग्य उपनिषद् ६।२।१-२; ईशावास्योपनिषद् ४ पर शांकर भाष्य।
६. गीता पर शांकर भाष्य का उपोद्घात। ७. ब्रह्मसूत्र २।१।३३ पर शांकर भाष्य।
८. विवेक-चूड़ामणि ११०-११४। ९. विवेक-चूड़ामणि १२४-१२५।
१०. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।१० पर शांकर भाष्य।
११. ब्रह्मसूत्र १।३।१५, २।३।४३ और गीता ४।१०-११ पर शांकर भाष्य।
१२. ब्रह्मसूत्र २।३।३३-३९; श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।६; ईशोपनिषद् ३ और गीता २।५१ पर शांकर भाष्य।
१३. गीता २।२२-२४ पर शांकर भाष्य।
१४. ब्रह्मसूत्र २।३।४६ पर शांकर भाष्य; विवेक-चूड़ामणि ५५९।
१५. ब्रह्मसूत्र १।१।८, ४।१।१३; गीता ४।१९,३७ पर शांकर भाष्य।
१६. ब्रह्मसूत्र १।३।३९, २।१।११; श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।८, ६।१३-१५ तथा गीता ४।३३, ३९ पर शांकर भाष्य।

देहपात से पूर्व ही आत्मा जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर लेती है।[1] मुक्तात्मा ब्रह्म-स्वरूप हो जाती है तथा उसे सच्चिदानंद-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।[2]

शांकर वेदान्त के उक्त विचारों से प्रसाद के दार्शनिक विचारों का साम्य होने पर भी प्रसाद केवलाद्वैतवादी नहीं हैं, क्योंकि शंकर के अद्वैतवाद में निर्गुण और सगुण ब्रह्म में भेद माना गया है[3], जबकि प्रसाद ब्रह्म या शिव को निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों में देखते हैं। उनके ब्रह्म अलख[4], अरूप[5], अव्यक्त[6], अनस्तित्व[7], अदृष्ट[8], निराकार[9], अमूर्त्त[10] और सबसे परे भी हैं[11] और सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान एवं अनुग्रह नामक पंच कृत्यों को नित्य करने के लिए विश्व-रूप एवं विश्व-शरीरी भी हैं[12], वे शिव-रूप धारण करके जगत् का कल्याण करते हैं[13], रुद्र-रूप धारण करके भयंकर नाराच लेकर प्रलय मचाते हैं[14] और नटराज का रूप धारण करके आनन्दपूर्ण सुन्दर तांडव-नृत्य करते हैं, जो उनके सृजन और संहार का प्रतीक है तथा जिसमें घुल-मिलकर प्रकृति अपना सुन्दर एवं रमणीय रूप धारण करती है।[15]

शांकर मत में 'ईश्वर' को मायोपाधिक अथवा अज्ञानोपहित चेतन माना गया है और ईश्वर तथा ब्रह्म में भेद किया गया है[16], जबकि प्रसाद ब्रह्म तथा ईश्वर में कोई भेद नहीं मानते। प्रसाद के मतानुसार परम शिव ही सृष्टि-कर्त्ता के रूप में मायोपाधिक हो जाते हैं और विराट् विश्व का रूप धारण कर लेते हैं।[17] वैसे वे विश्वोत्तीर्ण एवं

---

१. **विवेक-चूड़ामणि** ४२६-४४२, **गीता** २।५१ **पर शांकर भाष्य।**
२. **मुंडकोपनिषद्** ३।२।९ **पर शांकर भाष्य, विवेक-चूड़ामणि** ४७५।
३. **ब्रह्मसूत्र** १।२।१४, ४।३।१४ **पर शांकर भाष्य।**
४. **राज्यश्री**, पृष्ठ ६८। ५. **लहर**, पृष्ठ २०।
६. **चित्राधार**, पृष्ठ ७२।
७. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १४२; **कामायनी**, पृष्ठ २०।
८. **लहर**, पृष्ठ २२, ७७; **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २२९; **आकाशदीप**, पृष्ठ ६४; **ध्रुवस्वामिनी**, पृष्ठ १३।
९. **चित्राधार**, पृष्ठ ७२।
१०. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ३४।
११. **लहर**, पृष्ठ २०; **चित्राधार**, पृष्ठ १२४, १३९; **विशाख**, पृष्ठ ३१; **राज्यश्री**, पृष्ठ ६८।
१२. **चित्राधार**, पृष्ठ २९, ७२; **इरावती**, पृष्ठ १०४; **कामायनी**, पृष्ठ १८५।
१३. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २३। १४. **कामायनी**, पृष्ठ १८५, २०२।
१५. **कामायनी** पृष्ठ २५३, २५४।
१६. **पंचदशी** १।१६, **वेदान्तसार**, पृष्ठ ३।
१७. **चित्राधार**, पृष्ठ १२४; **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०९; **झरना**, पृष्ठ ५०; **कामायनी**, पृष्ठ २८८।

विश्व से परे होने के साथ-साथ शुद्ध चेतन हैं और माया एवं अज्ञान से सर्वथा रहित हैं।[1]

शांकर वेदान्त में जो मायावाद बौद्ध अनात्मवाद तथा वैदिक आत्मवाद के मिश्रित उपकरणों से संगठित हुआ था, उसी के फलस्वरूप जगत् को मिथ्या—दुःखमय—मानकर सच्चिदानंद की जगत् से परे कल्पना की गई[2] और जगत् को स्वप्न एवं माया-रचित गन्धर्व-नगर के समान पूर्णतया मिथ्या एवं असत्य घोषित किया गया, रज्जु में सर्प अथवा शुक्ति में रजत की भाँति ब्रह्म में सत्य भासता हुआ बताया गया तथा इसे माया का 'विवर्त' स्वीकार किया गया, किन्तु व्यवहारतः सत्य बताया गया।[3] प्रसाद के मतानुसार यह जगत् चिति का ही स्वरूप है। यह परिवर्तनशील अवश्य है, किन्तु अपने दुःख-सुख से पुलकित होता हुआ भी यह चिति का मंगलमय विराट् शरीर है, सत्य है और सतत चिर सुन्दर है।[4] इसका मूल कारण यह है कि इस जगत् रूपी शरीर में चिति सदैव आत्मा के रूप में विद्यमान रहती है और यह चिति का ही 'आभास' है।[5] अतः शांकर वेदान्त में इसे माया का 'विवर्त' कहकर असत्य एवं मिथ्या कहा गया है, किन्तु यह शिव का आभास होने के कारण कैसे असत्य एवं मिथ्या हो सकता है, क्योंकि जिस किसी पदार्थ का सम्बन्ध परम शिव से रहता है, वह कभी असत् हो ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त जगत् के रूप में कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न नही होता, जो पदार्थ पहले था, उसी की तो अभिव्यक्ति होती है। वह पहला पदार्थ परम शिव ही है, जो जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है। यही कारण है कि यह जगत् सत्य, नित्य एवं शाश्वत है।

शांकर वेदान्त में माया को ब्रह्म की त्रिगुणात्मिका, अनादि अविद्या-रूपा एवं जगत् की उत्पादिका परा-शक्ति कहा गया है, उसे अव्यक्त, अनादि और अनन्त बतलाया गया है तथा वह न सत् है, न असत् है और न सदसत् उभयरूपा है; वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभयरूपा है; वह न अंग-सहित है, न अंग-रहित है और न साङ्गानङ्ग उभयात्मिका ही है, अपितु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीय रूपा है—कहकर पूर्णतया अनिर्वचनीय स्वीकार किया गया है।[6] प्रसाद माया को अनिर्वचनीय नहीं मानते। वे इसे शिव से ही प्रादुर्भूत शिव की एक शक्ति

---

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३; **लहर**, पृष्ठ ३७; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२-१३; **कामायनी**, पृष्ठ १७०।

२. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ६०।

३. **ब्रह्मसूत्र** २।१।१४, २।२।२९; **गीता १५।३ पर शांकर भाष्य**, **विवेक-चूड़ामणि** १४०, १४१, ४०५; **वेदान्त-सार**, पृष्ठ ८।

४. **कामायनी**, पृष्ठ २३६, २४२, २८८।

५. **कामायनी**, पृष्ठ ५३, ६६; **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ८३; **लहर**, पृष्ठ ४३; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०९।

६. **विवेक-चूड़ामणि** ११०, १११; **वेदान्त-सार**, पृष्ठ २।

मानते हैं, जो उन्हीं की प्रेरणा से जगत् का निर्माण करती है[1], अपने प्रपंच के जाल में जीवों को फँसाती है[2] और ब्रह्म तथा जीव में भेद उत्पन्न किया करती है।[3] किन्तु जैसे ही जीव सतत साधना द्वारा माया के इस रूप को जान लेता है, वैसे ही वह इसके चंगुल से छूटकर तथा षट् कंचुकों एवं त्रिविध मलों से रहित होकर सद्-विद्या अथवा शुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में पहुँच जाता है, जहाँ फिर माया अपना दूषित एवं मलिन प्रभाव नहीं डालती[4], अपितु वह जगत् अर्थात् त्रिभुवन के वास्तविक रूप से परिचित होकर सर्वत्र महाचिति के अनाहत नाद को सुनने लगता है और तन्मयी अवस्था में पहुँच जाता है।[5] इस प्रकार माया अनिर्वचनीय नहीं है और इसकी प्रवृत्ति भी आकस्मिक नहीं है, अपितु यह आत्मा अथवा ब्रह्म का स्वातन्त्र्यमूलक एवं स्वेच्छा-परिगृहीत रूप है और इससे कभी अद्वैत भंग नहीं होता।

इसके अतिरिक्त शांकर वेदान्त में जीव को ब्रह्म का स्वरूप न कहकर माया से उपहित चैतन्य-स्वरूप ईश्वर का अंश घोषित किया गया है और जीवों की संख्या अनेक मानी गई है।[6] प्रसाद भी जीवों की संख्या अनेक मानते हैं, परन्तु प्रसाद समस्त चेतन समुदाय जीवों को ईश्वर के अंश न कहकर उस शुद्ध चेतन या परम शिव के ही रूप मानते हैं, क्योंकि परम शिव ही जब माया, काल, नियति, राग, विद्या और कला नामक षट् कंचुकों से अपने को सीमित कर लेते है, तभी वे जीव-भाव को प्राप्त होते हैं। प्रसाद का मत है कि जिस तरह समुद्र में असंख्य लहरें उठती रहती हैं और समुद्र तथा लहरों में पूर्ण अभेद एवं अभिन्नत्व रहता है, अथवा जिस तरह ज्योत्स्ना के सागर में तारे बुद्‌बुद् करके अपनी-अपनी आभा अलग-अलग चमकाते रहते है, परन्तु सामूहिक रूप से एक ही आलोक के विविध रूप हैं, वैसे ही विविध जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार यहाँ व्यक्तिगत छाप के कारण विविध आकारो में दिखाई देते हैं, किन्तु वे सब एक ही चेतन या चिति के विविध रूप है और अन्त में इस अभेद-सागर के अन्तर्गत घुल-मिलकर वह शुद्ध-चेतन ही रसमय चरम भाव के रूप में विद्यमान रहता है।[7] अतएव समस्त जीव अभिन्न एवं अभेद रूप में उसी एक शुद्ध चेतन के स्वरूप हैं, जो आत्म-साक्षात्कार करके बंधन से छूट जाते है, विमुक्त हो जाते है और आवागमन के चक्र से छूटकर पूर्णरूपेण शिव होकर परमानन्द अथवा अखण्ड आनन्द को प्राप्त कर लेते हैं।

इसके अलावा शांकर-मत में ब्रह्मभावरूपा मुक्ति को माना गया है, जिसमें जीव अपने को और सम्पूर्ण जगत् को उस अद्वितीय ब्रह्म मे निरन्तर अखण्ड रूप से

---

१. **चित्राधार**, पृष्ठ १२१; **विशाख**, पृष्ठ ८६।
२. **कामायनी**, पृष्ठ २६४। ३. **झरना**, पृष्ठ ५४।
४. **वही**, पृष्ठ २६०। ५. **कामायनी**, पृष्ठ २७३।
६. **ब्रह्मसूत्र** १।३।१५, २।३।४३ **और गीता** ४।१०-११ **पर शांकर भाष्य**।
७. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।

स्थित देखता है और यह समझने लगता है कि 'मैं न यह हूँ, न वह हूँ, अपितु इन दोनों का प्रकाशक, बाह्याभ्यन्तर शून्य, पूर्ण, शुद्ध, नित्यानन्दैकरसस्वरूप, सत्य और अद्वितीय परब्रह्म हूँ।[1] इस तरह **जीव** के परमात्मा में पूर्ण विलय को मोक्ष कहा जाता है। प्रसाद भी जीव और ब्रह्म, जीव और जगत् एवं जीव, जगत् तथा ब्रह्म तीनों के अभेद की स्थिति को मोक्ष कहते हैं, किन्तु जहाँ अद्वैत वेदान्त में 'अद्वैत' पर बल दिया गया है, वहाँ प्रसाद-दर्शन में 'समरसता' एवं 'अभेद' पर बल दिया गया है। यहाँ जीव, जगत् और ब्रह्म तीनों घुल-मिलकर समरस हो जाते हैं, उनका पार्थक्य मिट जाता है, जड़ या चेतन का अलग-अलग भेद नहीं रहता, अपितु सर्वत्र एक शुद्ध चेतनता विलास करती हुई दृष्टिगोचर होती है और साधक या जीव अखंड आनन्द में निमग्न होकर शिवरूप हो जाता है।[2] अतएव जीवात्मा परमात्मा के समकक्ष होकर शाश्वत आनन्दमयी स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार शांकर वेदान्त और प्रसाद-दर्शन में बहुत कुछ साम्य होने पर भी पर्याप्त अन्तर है। प्रथम, शांकर वेदान्त में जहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति पर बल दिया गया है, वहाँ प्रसाद-दर्शन में 'शिवोऽहम्' की स्थिति पर बल दिया गया है। दूसरे, शांकर वेदान्त में ब्रह्म को सच्चिदानन्द, सत्य, निर्मल, अनादि, अनन्त, स्वतंत्र आदि मानते हुए भी कर्त्तृत्वहीन स्वीकार किया गया है, जबकि प्रसाद-दर्शन में शिव सच्चिदानन्द, सर्वज्ञ आदि होते हुए सर्वकर्त्ता भी हैं और वे अपनी शक्ति द्वारा सृष्टि के सारे कार्य करते है। यह शक्ति शिव की समवर्तिनी है और शिव से पूर्णतया अभिन्न है। विमर्श शिव का स्वभाव है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों उनके लिए समान हैं और चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियों से युक्त होकर वे सतत सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान तथा अनुग्रह नामक पाँच कार्यों में तल्लीन रहते हैं। तीसरे, शांकर वेदान्त में माया को अनिर्वचनीय कहने के कारण उसके आदि और अंत का कुछ पता नहीं चलता, जबकि प्रसाद-दर्शन में उसे स्पष्ट ही शिव की एक शक्ति माना गया है, जो शिव से उत्पन्न होकर सृष्टि-निर्माण का कार्य किया करती है। चौथे, शांकर-मत में जिस जगत् को मिथ्या कहा गया है, प्रसाद-दर्शन में उसी जगत् को शिव या शुद्ध चेतन का शरीर मानकर 'सत्य सतत चिर सुन्दर'[3] स्वीकार किया गया है। यहाँ विश्व का शिव के साथ पूर्ण तादात्म्य नहीं होता। विश्व शिव का शरीर है और शिव उसकी आत्मा हैं। पाँचवें, शांकर मत में मोक्ष-प्राप्ति के समय जहाँ जीवात्मा का परमात्मा में पूर्ण विलय स्वीकार किया गया है, वहाँ प्रसाद-दर्शन में परमात्मा के समक्ष जीवात्मा की शाश्वत आनन्दमयी स्थिति स्वीकार की गई है।

इस तरह प्रसाद-दर्शन शांकर अद्वैत-दर्शन की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है।

---

१. **विवेक-चूड़ामणि**, पृष्ठ ४७९, ४९३-४९४।

२. **कामायनी**, पृष्ठ २८९ और २९४। ३. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।

प्रसाद ने शांकर वेदान्त पर टीका-टिप्पणी करते हुए लिखा भी है—"मैं कहता हूँ कि वह वेदान्त पिछले काल का साम्प्रदायिक वेदान्त है, जो तर्कों के आधार पर अन्य दार्शनिक को परास्त करने के लिए बना। सच्चा वेदान्त व्यावहारिक है। वह जीवन-समुद्र-आत्मा को उसकी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ समझना है।"[1] निस्संदेह प्रसाद ने आत्मा को उसकी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ समझने के लिए ही समरसता के सिद्धान्त को अपनाया है और अद्वैत के स्थान पर अभेद को महत्व दिया है, जिससे जीव और जगत् का महत्व भी ब्रह्म के साथ-साथ बना रहे और प्रत्येक जीव जगत् को मिथ्या या भ्रम मानकर उदासीन न हो, अपितु ब्रह्म की विभूति रूप संसार को सत्य मानकर पूर्ण विश्वास के साथ काम करे और जगत् एवं अपने रूप का साक्षात्कार करके अन्त में समरसता एवं अभिन्नता की स्थिति को प्राप्त होकर अखंड आनन्द का अनुभव कर सके। शांकर वेदान्त से प्रसाद-दर्शन में यही विशिष्टता है कि यहाँ जगत् की इस सृष्टि के पीछे एक महान् नैतिक एवं आध्यात्मिक उद्देश्य माना गया है।[2] अतएव इसे केवल माया नहीं समझा जा सकता और मिथ्या कहकर इसे झुठलाना सर्वथा असम्भव है।

प्रसाद और शैव-दर्शन

यह निर्विवाद सत्य है कि प्रसाद के दार्शनिक विचारों को सर्वाधिक शैव दर्शन ने प्रभावित किया है। इसका मूल कारण यह है कि प्रसाद ने एक ऐसे परिवार में जन्म लिया था, जो प्रारम्भ से ही शैव था। प्रसाद-परिवार के सभी व्यक्ति शिव को परात्पर और देवाधिदेव मानते थे तथा शैव सिद्धान्तों के दार्शनिक तत्वों पर अगाध श्रद्धा एवं विश्वास रखते थे। इस परिवार में प्रायः दक्षिण भारत तथा कश्मीर में लिखे गए शैवागमों की भी चर्चा होती थी और यह परिवार मुख्यतः काश्मीर शैव-दर्शन को अधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखता था।[3] ऐसे परिवार में जन्म लेने के कारण शैवों के दार्शनिक चिंतन का प्रसाद के विचारों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था, परन्तु दक्षिण और उत्तर में कई शैव दर्शन लिखे गये, जिनमें से दक्षिण शैव दर्शन, नकुलीश पाशुपत-दर्शन, रसेश्वर-दर्शन, वीरशैव अथवा लिंगायत-दर्शन, काश्मीर शैव दर्शन आदि प्रमुख हैं।[4] इनमें से पारिवारिक श्रद्धा एवं विश्वास के कारण प्रसाद काश्मीर शैव दर्शन की ओर ही अधिक उन्मुख हुए।

काश्मीर शैव दर्शन त्रिक्-दर्शन भी कहलाता है, क्योंकि यह तीन भागों में विभक्त है—आगम-शास्त्र, स्पन्द-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र। आगम-शास्त्र का प्रवर्तन मालिनी-विजयोत्तर-तन्त्र, स्वच्छन्द-तन्त्र, विज्ञान-भैरव, नेत्रतंत्र आदि आगम-

---

१. **तितली**, पृष्ठ ६४। २. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२।
३. **प्रसाद की याद**—**हिमालय, दीपावली अंक**, सं० २००३, पृष्ठ ५-६।
४. **सर्व-दर्शन-संग्रह**, पृष्ठ १४४-१८६; **हिन्दुत्व**, पृष्ठ ६६१।

ग्रन्थों के आधार पर हुआ है, जिसमें ज्ञान और क्रिया के सिद्धान्त का बाहुल्य है और ऐसा माना जाता है कि गुरु-शिष्य परम्परा से यह शास्त्र या दर्शन युगों से चला आ रहा है।[1] दूसरे, स्पन्द-शास्त्र के प्रवर्तक वसुगुप्त माने जाते हैं, जिन्होंने स्पन्दसूत्र लिखे हैं, जो 'स्पन्दकारिका' में संकलित है और जिनमें शैवों के दार्शनिक चिंतन को शिव-सूत्रों की अपेक्षा कहीं विस्तार के साथ बतलाने का प्रयत्न किया गया है।[2] तीसरे, प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के प्रवर्तक सोमानन्द माने जाते हैं, जिन्होंने शैव दर्शन के तात्विक सिद्धान्तों का केवल प्रवर्तन ही नहीं किया है, अपितु अन्य दार्शनिक मतों का खंडन करते हुए स्व-मत का उचित समर्थन भी किया है। सोमानन्द कृत 'शिवदृष्टि' इस दर्शन का प्रथम ग्रन्थ है। उत्पलदेव कृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, प्रत्यभिज्ञाहृदयम् तथा अभिनवगुप्ताचार्य कृत तन्त्रालोक, तन्त्रसार आदि इस दार्शनिक सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं।[3] इनमें से स्पन्द-दर्शन और प्रत्यभिज्ञा-दर्शन दोनों ही आगमों को तो प्रमाण मानते हैं, किन्तु इनमें प्रमुख भेद यह है कि स्पन्द-दर्शन में तो ध्यान के द्वारा मन से समस्त मलों के दूर हो जाने पर भैरव स्थिति अथवा शिव-साक्षात्कार की स्थिति का उत्पन्न होना स्वीकार किया गया है, जबकि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में यह माना गया है कि जैसे ही जीव को यह प्रत्यभिज्ञान हो जाता है कि 'मैं शिव हूँ', वैसे ही उसे शिव-साक्षात्कार की स्थिति प्राप्त हो जाती है।[4] प्रसाद भी यही मानते हैं कि जीव जिस समय अपने विस्मृत रूप को जान लेता है और भेद-भाव को भूल कर उसे यह ज्ञान हो जाता है कि 'यह मैं हूँ', उसी समय वह शिव का साक्षात्कार कर लेता है।[5] इस दृष्टि से प्रसाद काश्मीर शैव दर्शनों में से केवल प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से ही सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं।

शैव दर्शनों को तीन भागों में और विभाजित किया जाता है—अभेदवादी दर्शन, भेदवादी दर्शन और भेदाभेदवादी दर्शन। इनमें से अभेदवादी दर्शन तो पूर्णाद्वैत को मानते हैं, भेदवादी दर्शनों में पशु, पाश और पशुपति तीनों की पृथक्-पृथक् सत्य सत्ता मानी गई है और भेदाभेदवादी दर्शनों में उक्त तीनों पदार्थों का भेद और अभेद दोनों स्वीकार किये गये हैं।[6] काश्मीर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पूर्णतया अभेदवादी दर्शन है, जो ईश्वराद्वयवाद अथवा ईश्वराद्वैत भी कहलाता है और प्रसाद भी पूर्ण अभेदवादी होने के कारण इसी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से सर्वाधिक प्रभावित जान पड़ते हैं।

कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण प्रसाद ने शिव या ब्रह्म, जीव और जगत् के बारे में प्रायः वैसे ही विचार व्यक्त किए है, जो

---

१. **काश्मीर शैविज्म**, पृष्ठ ७-१४।
२. **वही**, पृष्ठ १५-१६।
३. **काश्मीर शैविज़म**, पृष्ठ १७-२१।
४. **कलैक्टिव वर्क्स ऑफ सर आर० जी० भंडारकर**, **भाग** ४, पृष्ठ १८४-१८६।
५. **कामायनी**, पृष्ठ २८६।
६. **काश्मीर शैविज़म**, पृष्ठ ५।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में मान्य हैं। इस दृष्टि से प्रसाद-दर्शन और प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में पूर्ण साम्य प्रतीत होता है, परन्तु प्रसाद ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के समस्त सिद्धान्तों को पूर्ण-रूपेण ग्रहण नहीं कर लिया है, उनमें पर्याप्त अंतर भी दृष्टिगोचर होता है और प्रसाद ने उन्हें अधिक सर्व-जन-सुलभ बनाने का भी प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, जैसे प्रसाद ने शैव दर्शन के छत्तीस तत्व तो स्वीकार किये हैं, परन्तु शिव से लेकर सद्विद्या तक शैव दर्शन में शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या नामक जिन पाँच तत्वों का निरूपण किया गया है, उनमें प्रसाद कोई विशेष भेद नहीं मानते। उन्हें वे एक महाचिति के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लेते हैं और इसी कारण प्रसाद ने उक्त पाँच तत्वों का कहीं भी पृथक्-पृथक् उल्लेख न करके सामूहिक रूप से चिति, महाचिति, चेतनता या शुद्ध चेतन कहकर ही निरूपण किया है।[1] इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में माना गया है कि परम शिव तो आप्तकाम हैं, आत्माराम हैं और उनमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं है। अतः जगत् के निर्माण में उनका कोई प्रयोजन या उद्देश्य नहीं है। वे केवल क्रीड़ा के लिए ही इस सृष्टि की रचना किया करते हैं।[2] किन्तु प्रसाद का स्पष्ट मत है कि सृष्टि का निर्माण निष्प्रयोजन एवं निरुद्देश्य नहीं है। प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है कि 'सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है। उसका कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य है।'[3]

प्रसाद ने जिस 'नियतिवाद' का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है, उसका मूला-धार प्रत्यभिज्ञा-दर्शन है, परन्तु प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में तो 'नियति' को सृष्टि-विकास की दृष्टि से ग्यारहवाँ तत्व माना गया है। इसे विशिष्ट-विशिष्ट कार्यों की योजना करने वाली[4] और प्रत्येक जीव को अपने-अपने कार्यों में लगाने वाली बताया गया है।[5] साथ ही यह परमेश्वर की नित्यत्व शक्ति को संकुचित करने वाला तत्व स्वीकार किया गया है[6], परन्तु प्रसाद नियति को कहीं अधिक व्यापक एवं महान् शक्ति के रूप में मानते हैं; जो इस व्यथित विश्व के आँगन में अपना अतृप्त मन भरने के लिए एक नटी के समान कंदुक-क्रीड़ा-सी करती रहती है,[7] यह सम्राटों से भी अधिक प्रबल है।[8] यह सदैव कुछ न कुछ अदृष्ट का सृजन किया करती है।[9] यह इतनी शक्तिमती है कि जब यह विश्व में उथल-पुथल मचाना चाहती है, तब इसकी भौंहों में बल पड़ने लगते हैं और इसके भीषण अभिनय की छाया नृत्य करने लगती है।[10]

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ५३, २४२, २५३, २८८, २६४; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२।

२. **शिवदृष्टि** १।३६-३८

३. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२।

४. **तंत्रालोक**, ६, ६।२०२

५. **मालिनीविजयोत्तर तंत्र**, पृष्ठ ४।

६. **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, पृष्ठ २२।

७. **लहर**, पृष्ठ ६३; **आँसू**, पृष्ठ ५१।

८. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १८८।

९. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ २१२।

१०. **वही**, पृष्ठ ८०; **कामायनी**, पृष्ठ १५८।

यह नियति चिरकाल से अतीत को वर्तमान से क्षणभर में जोड़ देती है[१] और जब विकर्षणमयी बनती है तब इसके त्रास से सारा विश्व काँपने लगता है।[२] जगत् के समस्त कार्य इसी नियमन-शक्ति के इंगितों पर चलते है। यह वह परमात्म-शक्ति है जो सदा उत्थान का पतन और पतन का उत्थान किया करती है, क्योंकि यह नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्मशक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य किया करती है।[३]

इस तरह प्रसाद नियति को एक संकुचित शक्ति नहीं, अपितु ऐसी महान् परमात्म-शक्ति मानते हैं, जिसके नियमों का पालन सारा जगत् करता है। प्रसाद की यह नियति शैव-दर्शन की नियति की अपेक्षा 'योगवाशिष्ठ' में वर्णित नियति के समकक्ष है। 'योगवाशिष्ठ' में इस नियति को 'यथा स्थितं ब्रह्मतत्वं सत्ता नियतिरुच्यते' कहकर ब्रह्म की एक ऐसी सत्ता मानी गयी है, जो सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहती है। इतना ही नहीं, 'योगवाशिष्ठ' में इसे महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महोद्भव, महास्पन्द आदि भी कहा है[४] और तृण से लेकर महारुद्र पर्यन्त समस्त विश्व इसके नियमों का पालन करने वाला बतलाया गया है।[५] प्रसाद के भी विचार पूर्णतया 'योगवाशिष्ठ' से ही मिलते हैं। इसी कारण प्रसाद ने इस नियति को विश्व-नियंता की एक ऐसी शक्ति कहा है, जो एक ओर तो सम्पूर्ण विश्व के जीवन-क्रम की योजना करती है और दूसरी ओर विश्व में उत्पन्न दम्भ, अहंकारादि का भी नियमन करती है[६] तथा इसके सम्पूर्ण कार्य पूर्णतया बन्धन-मुक्त एवं स्वतन्त्र होते हैं।[७] नियति जब चाहती है, तभी शूद्र राज्य सिंहासन से हटाये जाते हैं और सच्चे क्षत्रिय राज्य पर बैठते हैं।[८] ब्रह्म का रूप होकर भी जीव इस नियति का दास है।[९] इसी के संकेत पर किसी की पवित्रता पंकिल होती है[१०], तम जीवन को उलझाता है[११], सारा कर्म-चक्र चलता है[१२] और जगत् के सम्पूर्ण कार्य होते हैं।[१३] अतएव प्रसाद की

१. **तितली**, पृष्ठ ७०। २. **कामायनी**, पृष्ठ २००।

३. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३।

४. **महासत्तेतिकथिता महाचितिरिति स्मृता।**
महाशक्तिरिति ख्याता महादृष्टिरिति स्थिता॥
महाक्रियेति गदिता महोद्भव इति स्मृता।
महास्पन्द इति प्रौढ़ा महात्मैकतयोदिता॥ —योगवाशिष्ठ ३।६२।१०,११

५. **आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमिति स्थितैः।**
आतृणापद्मजस्पदं नियमान्नियतिः स्मृता॥ —योगवाशिष्ठ ६।३७।२१

६. **कामायनी**, पृष्ठ १५८; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३-७४।

७. **कामायनी**, पृष्ठ ८३। ८. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ ८०-८१।

९ **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४४, ५६।

१०. **आँधी**, पृष्ठ ५१। ११. **आँसू**, पृष्ठ ६०।

१२. **कामायनी**, पृष्ठ २६८। १३. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७५।

नियति परमात्म-शक्ति होने के कारण शैव दर्शन के नियति-तत्व से कहीं अधिक महान् और कहीं अधिक गौरवमयी है। शैव दर्शन की नियति तो जीव की नित्यता को ही संकुचित करती है, जबकि प्रसाद की नियति जीव और जगत् के उन सभी कार्यों के करने की क्षमता रखती है और उन्हें किया भी करती है, जिन्हें परमात्मा की शक्ति अथवा महाचिति किया करती है। यही कारण है कि प्रसाद का नियतिवादी दृष्टिकोण शैव दर्शन से सर्वथा भिन्न है।

इसके अतिरिक्त प्रसाद ने समरसता का सिद्धान्त भी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से ही ग्रहण किया है, परन्तु प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जहाँ शिव और शक्ति की समरसता अथवा जीवात्मा और परमात्मा की समरसता के द्वारा अखंड आनन्द की उपलब्धि का वर्णन किया गया है[1], वहाँ प्रसाद ने समरसता के इस सिद्धान्त को मानव-कल्याण के लिए अत्यधिक उपयोगी जानकर मानव के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन से लेकर समाज तथा विश्व के अन्तर्गत भी इस सिद्धान्त की उपयुक्तता का निरूपण किया है।

प्रसाद का मत है कि जहाँ कोई व्यक्ति अपने जीवन में सुख-दुःख, श्रेय-प्रेय, तृष्णा-तृप्ति तथा इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि के सामरस्य द्वारा तन्मयी अवस्था को प्राप्त होकर अखण्ड आनन्द को प्राप्त कर सकता है[2], वहाँ समाज में भी यदि व्यक्ति अपने परिवार में इस समरसता के सिद्धान्त को अपनाकर पुरुषत्व के मोह का परित्याग करे और अपनी पत्नी तथा अन्य परिवार के सदस्यों की भी सत्ता को अपने ही समान समझकर व्यवहार करे तथा एक अधिकारी अपने अधिकारों के लिए ही अधिक जागरूक न रहे, अपितु अपने अधिकृत व्यक्तियों के अधिकारों की भी चिंता करता हुआ उनके साथ सामरस्य स्थापित करके अपने कर्त्तव्य का पालन करे, तो समाज में भी पूर्णतया समरसता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और सारा समाज आनन्द का उपभोग कर सकता है।[3] ऐसे ही यदि किसी राष्ट्र के अन्तर्गत शासक और शासित परस्पर सहयोग एवं सद्भावना के साथ व्यवहार करें, अपने मन में किसी प्रकार के वर्ग-भेद या ऊँच-नीच के भाव को न आने दें तथा सबकी समरसता का प्रचार करते हुए अपना जीवन व्यतीत करें, तो उन्हें किसी भी प्रकार का संकट कभी सता नहीं सकता, सभी का भाग्योदय हो सकता है और राष्ट्र के सभी सुसंगठित प्राणी सामरस्य के कारण ही सदैव कल्याण, श्री-वृद्धि एवं अभ्युदय के साथ-साथ निःश्रेयस् को प्राप्त करते हुए अखण्ड आनन्द की स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण प्रसाद ने श्रद्धा के मुख से 'सबकी समरसता कर प्रचार'[4] का मूल-मन्त्र

---

१. **नेत्रतंत्र, भाग** १, पृष्ठ १९८; **शिव-सूत्र-विमर्शिनी** २।३; **शिवदृष्टि** १।२३; **तंत्रालोक, भाग** १, **आह्निक** २, पृष्ठ २९; **बोधसार**, पृष्ठ १०७।

२. **कामायनी**, पृष्ठ २७२-२७३। ३. **कामायनी**, पृष्ठ १६२।

४. **वही**, पृष्ठ २४४।

मानव को दिलवाया है, जिसके फलस्वरूप इड़ा के उजड़े हुए सारस्वत राष्ट्र में पुन: सब समृद्धि एवं अभ्युदय के साथ-साथ नि:श्रेयस् को भी प्राप्त होते हैं और सभी को अखण्ड आनन्द की उपलब्धि होती है ।[१]

इसके अतिरिक्त प्रसाद ने इस समरसता के सिद्धान्त को सम्पूर्ण विश्व के लिए भी अत्यधिक श्रेयस्कर माना है और बताया है कि यदि सम्पूर्ण विश्व के मानवों में से कोई भी व्यक्ति किसी को पराया न समझे, सभी एक दूसरे को अपना कुटुम्बी मानें, शरीर के अवयवों की भाँति सभी व्यक्ति सबको परस्पर सम्बद्ध समझें, सबकी सेवा को कोई पराई न समझे, विश्व के अणु-अणु एवं कण-कण को सब अपना समझें, अपनी चेतनता सबका स्पर्श करती हुई सी रहे और सभी प्राणी निर्विकार होकर सबसे सहृदयतापूर्वक मिलें, तो यह सारा विश्व एक नीड़ बन जायेगा, जहाँ कोई भी न तो शापित रहेगा, न तापित पापी रहेगा, अपितु सम्पूर्ण [illegible] समतल हो जायेगी और जो जहाँ पर है, पूर्ण समरसता की स्थिति को प्राप्त कर लेगा । इससे प्रत्येक व्यक्ति इस विश्व के अभेद-सागर में अपने जीवन को लहरों की तरह बिखरा हुआ देखकर भी पूर्ण अभिन्नता एवं अद्वयता का अनुभव करने लगेगा और इस सचराचर मूर्त विश्व को चिति का मंगलमय एवं 'सत्य सतत चिर सुन्दर' विराट् शरीर मानता हुआ तथा सम्पूर्ण भेदभाव को भूलकर दु:ख-सुख को दृश्य बनाता हुआ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अनुभव करने लगेगा ।[२] इतना ही नहीं, उस क्षण ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट् विश्व, जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करेगा[३] और विराट् विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि सबको एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा को भूल जाने के कारण जो यहाँ विषमता का विषमम द्वन्द्व मचा करता है, वह समाप्त हो जायेगा,[४] वसुधा के सभी प्राणी परस्पर जाने-पहचाने से लगने लगेंगे, जड़ हो या चेतन सभी पदार्थ समरस होकर सुन्दर साकार बने से प्रतीत होंगे, सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई जान पड़ेगी और सारा विश्व अखण्ड आनन्द में निमग्न हो जायगा ।[५] इस तरह प्रसाद ने शैव-दर्शन के इस दार्शनिक सिद्धान्त को अत्यधिक व्यापक एवं विस्तृत रूप देकर एक व्यक्ति के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन तक ही सीमित नहीं रखा है, अपितु इसे प्रत्येक परिवार, प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र के लिए कल्याणकारी मानते हुए सम्पूर्ण विश्व के लिए श्रेयस्कर घोषित किया है ।

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २९४ ।
२. **कामायनी**, पृष्ठ २८७-२८९ ।
३. **कामना**, पृष्ठ ९८ ।
४. **कामायनी**, पृष्ठ २९४ ।
५. **कामायनी**, पृष्ठ २९४ ।

ऐसे ही यद्यपि प्रसाद का आनन्दवाद प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से पर्याप्त प्रभावित है, क्योंकि प्रसाद ने जीव की मुक्तावस्था के समय जिस अखण्ड आनन्द में लीन होने का वर्णन किया है[1], वह पूर्णतया प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से साम्य रखता है[2], तथापि प्रसाद का आनन्दवादी दृष्टिकोण शैवागमों की अपेक्षा उपनिषदों पर अधिक आधारित है, क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद् में जिस प्रकार लिखा है कि अन्तवर्त्ती आत्मा आनंदमय है। उस आनन्दमय के द्वारा यह पूर्ण है। वह यह आनन्दमय भी पुरुषाकार ही है। उसकी पुरुषाकारता के समान ही यह पुरुषाकार है। उसका प्रिय ही शिर है, मोद दाहिना पंख है, प्रमोद बाँया पंख है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पूँछ है।[3] इतना ही नहीं, इसी उपनिषद् में आगे चलकर बतलाया गया है कि आनन्द ब्रह्म है ऐसा जानो, क्योंकि आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते है, उत्पन्न होने पर आनंद के द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं।[4] इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा को आनन्दमय कहकर जिस तरह सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आनन्द में ही स्वीकार की है, उसी तरह प्रसाद भी यही स्वीकार करते हैं कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनन्द है[5], विश्व की कामना का मूल रहस्य 'आनन्द' ही है[6], यह आनन्द अन्तरात्मा का प्रसन्न-गम्भीर उल्लास है[7] और आनन्दातिरेक से आत्मा का साकारता ग्रहण करना ही जीवन है।[8] वह महाचिति अथवा आत्मा ही यहाँ विश्व के रूप में अभिव्यक्त होकर लीलामय आनन्द कर रही है, यह विश्व उसी आनन्दात्मा का अभिराम उन्मीलन है और इसी कारण इसमें सब अनुरक्त होते हैं।[9] यह सारी सृष्टि आनन्द से परिपूर्ण है, क्योंकि यहाँ जो कर्म का भोग किया जाता है और भोगों के लिए कर्म किये जाते हैं, वे ही जड़ के चेतन आनन्द को प्रस्तुत करते है।[10] अन्त में मुक्त होकर सभी जीव उस आनन्द-अम्बुनिधि में मिल जाते हैं और वहाँ ऐसा अक्षय सम्मेलन होता है कि फिर कभी वियोग नहीं होता।[11]

अतएव जैसे वह आत्मा या चिति आनंदमय है और आनंद की तरंगों में विहार करती है[12], वैसे ही यह विश्व भी आनंद-मन्दिर है[13] और जीव भी आनंदरूप है, क्योंकि जब जीव के अन्तर्निहित आनंद की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, तब उसमें जीव के समस्त मलिन कर्म भस्म हो जाते हैं और पाप फिर उस आनंद के समीप

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २६४।
२. **नेत्रतंत्र, भाग १**, पृष्ठ १६८।
३. **तैत्तिरीयोपनिषद्** २।५।१
४. **तैत्तिरीयोपनिषद्** ३।६।१
५. **एक घूँट**, पृष्ठ १७।
६. **एक घूँट**, पृष्ठ १७।
७. **वही**, पृष्ठ ३१।
८. **वही**, पृष्ठ ३२।
९. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।
१०. **कामायनी**, पृष्ठ ५६।
११. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २५-२६।
१२. **चित्राधार**, पृष्ठ १५३,१५५।
१३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ३०।

आने से डरते हैं।[१] इसके अतिरिक्त उपनिषद् में जिस तरह आनंद के साथ-साथ प्रेम और प्रमोद की कल्पना की गई है उसी तरह प्रसाद भी यही मानते हैं कि स्वास्थ्य, सरलता, सौन्दर्य और प्रेम के एकत्र होने पर 'आनंद' का उत्स खुल जाता है[२], क्योंकि आनंद का अन्तरंग सरलता है और बहिरंग सौन्दर्य है।[३] इस तरह प्रसाद उपनिषद् के स्वर में स्वर मिलाकर ही यह कहते हैं कि यहाँ कहीं भी 'अशिव नहीं, सर्वत्र शिव है, सर्वत्र आनंद है।'[४] इसके साथ ही प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है कि आनंद-भावना, प्रिय-कल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी।'[५] प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलाप में आनंद, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे और आज के भी अन्य देशीय तरुण आर्य-संघ आनंद के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं।[६]

अपनी इसी विचारधारा के आधार पर प्रसाद ने यहाँ तक लिखा है कि 'उपनिषदों में आनंद की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना की गई है, जो आनन्द-सिद्धान्त के लिए आवश्यक है।'[७] प्रसाद ने इसी आधार पर अपने 'प्रेम-पथिक' काव्य में चमेली और प्रेम-पथिक के सात्विक प्रेम एवं प्रमोद का पर्यवसान अखंड आनंद में दिखाया है[८], 'विशाख' नाटक में विशाख और चन्द्रलेखा के सात्विक प्रेम एवं प्रमोद की समाप्ति अखंड शान्ति एवं अखंड आनंद में होती है[९], 'कामना' नाटक में सन्तोष एवं कामना के सात्विक प्रेम एवं मधुर प्रमोद की परिसमाप्ति मधुर स्मिति एवं अखंड आनंद में होती है[१०] और 'कामायनी' में भी कल्याणमयी श्रद्धा और मननशील मनु के सात्विक प्रेम एवं सात्विक प्रमोद का पर्यवसान अखंड आनंद में होता है।[११]

अतएव यह स्वतः सिद्ध है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में प्रतिपादित आनंद-भावना प्रेम और प्रमोद से उतनी परिव्याप्त नहीं है, जितनी कि तैत्तिरीयोपनिषद् में है और प्रसाद के आनंदवादी दृष्टिकोण पर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का उतना प्रभाव नहीं पड़ा है, जितना कि उपनिषदों का पड़ा है। यही कारण है कि प्रसाद के आनंदवाद को प्रत्यभिज्ञा-दर्शन अथवा आगमों की पूर्णतः देन न मानकर उपनिषदों अथवा निगमों की देन मानना अधिक समीचीन एवं उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि आगमों को भी यह आनंदवादी धारा निगमों से ही प्राप्त हुई है[१२] और प्रसाद उसी आनंदवादी धारा के अनुयायी हैं, जो वेदों और उपनिषदों से निकल कर शैव एवं शाक्त आगमों एवं

---

१. **इरावती**, पृष्ठ ५६।
२. **एक घूँट**, पृष्ठ २३।
३. **एक घूँट**, पृष्ठ १५।
४. **इरावती**, पृष्ठ १०४।
५. **का० नि०**, पृष्ठ ४६।
६. **का० नि०**, पृष्ठ ४६।
७. **वही**, पृष्ठ ५२।
८. **प्रेम-पथिक**, पृष्ठ २६।
९. **विशाख**, पृष्ठ ६२-६३।
१०. **कामना**, पृष्ठ १००।
११. **कामायनी**, पृष्ठ २६४।
१२. **काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ६४।

अन्य दर्शनों में प्रवाहित हुई है तथा जिसे प्रसाद ने अपनी प्रतिभा एवं अनुभव-शक्ति द्वारा मानव-जीवन की चिरंतन समस्या से सम्बद्ध करके बड़ी कुशलता के साथ अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया है।[1]

सारांश यह है कि प्रसाद का दार्शनिक चिंतन अन्य भारतीय दर्शनों से प्रभावित होते हुए भी पर्याप्त मौलिक एवं स्वतन्त्र है, उसमें पर्याप्त गहनता एवं गम्भीरता है, उसमें पर्याप्त विलक्षणता एवं मननशीलता है तथा उसमें पर्याप्त व्यावहारिकता एवं युगानुकूलता है। प्रसाद ने भारतीय दर्शनों का गहन-गम्भीर अध्ययन किया और उनके गूढ़ तत्त्वों को हृदयंगम करके एक सारग्राही विद्वान् की भाँति भारतीय दर्शन के उन तात्विक विचारों एवं सिद्धान्तों को ग्रहण किया, जिन्हें वे आधुनिक वैज्ञानिक युग के मानवों के लिए कल्याणकारी समझते थे तथा जिन्हें अपनाकर आज का मानव अपना अभ्युदय करता हुआ उस चरम सत्य का भी अन्वेषण सुगमता से कर सकता है, जिसे प्राप्त करके फिर और कुछ पाना शेष नहीं रहता। प्रसाद-दर्शन में प्रायः अन्य दर्शनों के उन सभी विचारों का समावेश दृष्टिगोचर होता है, जो मानव के ऐहिक एवं आमुष्यिक अथवा लौकिक एवं पारलौकिक दोनों जीवनों के लिए श्रेयस्कर हैं।

अतएव प्रसाद ने बौद्धों के करुणावाद, सांख्य के प्रकृतिवाद, न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद, शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद और शैव-दर्शन के अभेदवाद को लेकर अपने एक ऐसे आनंदवादी दर्शन का निर्माण किया है, जिसका मूल तत्व 'आनंद' है, उस आनंद से ही जीव और जगत् का उद्भव एवं विकास होता है, उस आनंद में ही सम्पूर्ण सृष्टि अपना जीवन यापन करती है और अंत में उस आनंद में ही सब विलीन हो जाते हैं। जब किसी की सत्ता ही उस आनन्द से भिन्न नहीं है और आनन्द ही चिति, महाचिति अथवा परम ब्रह्म है, तब फिर कोई भी पदार्थ असत् या मिथ्या कैसे हो सकता है? इसी कारण प्रसाद ने उस आनंदमयी सत्ता के साथ-साथ उसमें स्थित जीव एवं जगत् को भी 'सत्य सतत चिर सुंदर' कहा है और बताया है कि इस दृश्य जगत् को सत्य मानकर अपने अभ्युदय के लिए और उस चेतन आनंद की उपलब्धि के लिए सदैव कर्म का भोग, भोग का कर्म करो[2], भीतर जो काम का और जीवन का युद्ध चलता है, उसमें जीवन को विजयी बनाओ[3], जीवन की अतृप्ति पर विजय पाने का प्रयत्न करो[4], प्रसन्नता और आनंदपूर्ण उत्साह के साथ आत्म-लाभ

---

१. **नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका**, केशव-स्मृति-अंक, वर्ष ५६, अंक ३–४, सं० २००८, पृष्ठ १३५।

२. **कामायनी**, पृष्ठ ५६।

३. **तितली**, पृष्ठ ६४।

४. **तितली**, पृष्ठ ६५।

के लिए धर्माचरण करो[1] और जीवन को युद्ध न बनाकर समझौता, संधि या मेल करने का प्रयत्न करो[2], तब देखोगे कि स्वतः पारस्परिक सहायता और सेवा की कल्पना उदय होगी[3], हृदयों में समरसता का भाव जाग्रत होगा, जड़ और चेतन का भेद मिट जायेगा, कोई भी पराया नहीं दिखाई देगा, सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई प्रतीत होगी तथा मानव अखंड आनंद को प्राप्त कर लेगा। अतएव प्रसाद का यह दार्शनिक चिन्तन, जिसे 'आनंदवाद' की संज्ञा दी जा सकती है, पूर्णतया युगानुकूल, सर्व-जन-ग्राह्य एवं सर्व-जन-सुलभ है।

---

१. **तितली**, पृष्ठ ९५।
२. **तितली**, पृष्ठ ९५।
३. **वही**, पृष्ठ ९५।

सप्तम प्रकरण

उपसंहार

- प्रसाद का दार्शनिक योगदान—
- सर्वचेतनता
- नियति में दृढ़ विश्वास
- जीव की नित्यता
- जगत् की सत्यता
- अभेदवादी दृष्टिकोण
- समरसता
- जीवन का चरम लक्ष्य—आनन्द

सप्तम प्रकरण

उपसंहार

प्रसाद का दार्शनिक योगदान

प्रसाद आधुनिक युग के सर्वोत्कृष्ट कवि-दार्शनिक हैं। वे पहले कवि और फिर दार्शनिक हैं। उन्होंने आधुनिक विज्ञान-युग के मानवों की सम्पूर्ण समस्याओं का अत्यन्त गहनता एवं गूढ़ता के साथ अध्ययन किया था और उन समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने के लिए ही अपने प्रभूत साहित्य का सृजन किया था। प्रसाद मानवतावादी थे। वे मानव-कल्याण के लिए ही सतत उद्योगशील रहे और अपने विस्तृत साहित्य द्वारा मानवता को विजयिनी बनाने का प्रयत्न करते रहे। प्रसाद ने देखा कि आज विश्व का मानव अत्यन्त पीड़ित एवं संतप्त है। वह नाना प्रकार के आविष्कार एवं अनुसंधान करने के उपरान्त भी अतृप्त, असंतुष्ट एवं अशान्त दिखाई देता है, उसके चिर दग्ध-दुःखी जीवन में सुख और आनन्द के दर्शन तक नहीं होते और वह अधिकाधिक वैज्ञानिक प्रगति करने के उपरान्त भी बेचैन एवं व्यथित दिखाई देता है। आज उसके पास पर्याप्त वैभव है, अपार शक्ति है, प्रभूत धन है और इस समस्त समृद्धि को एकत्र करने के लिए उसके पास पर्याप्त वैज्ञानिक साधन है, फिर भी उसका जीवन सतत संघर्ष, असफलता, निराशा, अनिश्चितता, असन्तोष आदि का शिकार बना हुआ है। वह जीवन को अधिकाधिक सुखी बनाने के लिए प्रचुर भौतिक सामग्री संकलित कर रहा है और विश्व-कल्याण के लिए अनेकानेक साधनों को अपना रहा है, फिर भी अभी तक उसके लिए सुख, आनन्द अथवा लोक-कल्याण आकाश-पुष्प बना हुआ है। प्रसाद ने आधुनिक मानव की इस भीषण समस्या को, जीवन की इस विषम विडम्बना को अथवा मानवता की इस सतत विफलता को भली प्रकार समझने का प्रयत्न किया और इसका निराकरण करने के लिए अपने साहित्य के माध्यम से एक ऐसे दार्शनिक चिंतन का आविष्कार किया, जिसे 'आनन्दवाद' के नाम से अभिहित करना सर्वथा समीचीन एवं उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रसाद का यह 'आनन्दवाद' सर्वथा नवीन एवं स्वतन्त्र दार्शनिक चिंतन तो नहीं है, क्योंकि वेदों और उपनिषदों से निकलकर जो आनन्दवादी विचारधारा आगमों

एवं अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में प्रवाहित हो रही है, प्रसाद उसी विचारधारा के अनुयायी हैं और प्रसाद ने उसी के सर्वथा अनुकूल इस 'आनन्दवाद' का निरूपण किया है। परन्तु प्रसाद का यह 'आनन्दवाद' भारतीय दर्शनों की पुरातन परम्परा में पल्लवित होकर भी अत्यधिक मौलिक, स्वाभाविक, व्यावहारिक एवं युगानुकूल है, क्योंकि प्रसाद के इस दार्शनिक चिन्तन में श्रुति-स्मृति तथा आगमों द्वारा प्रतिपादित विचार-धारा के साथ-साथ आधुनिक मानवतावादी दार्शनिक विचारों का भी समावेश हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप प्रसाद का यह 'आनन्दवाद' सनातन होकर भी नवीन है, परम्परागत होकर भी स्वतन्त्र है और अन्य दर्शनों से प्रभावित होकर भी सर्वथा मौलिक है। प्रसाद ने अपने इस 'आनन्दवाद' द्वारा आज की चिर दग्ध-दुःखी वसुधा को वह पुनीत मार्ग बतलाने का प्रयास किया है, जिस पर चलकर आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों से अतृप्त एवं असंतुष्ट मानव अपार सुख एवं संतोष प्राप्त कर सकता है, मानवता का कल्याण कर सकता है और अपने साथ-साथ सम्पूर्ण वसुधा को अखंड आनन्द की उपलब्धि करा सकता है। प्रसाद ने गहन एवं गम्भीर चिन्तन-मनन के द्वारा अपने इस 'आनन्दवाद' का आविष्कार करके जगती का कल्याण करने के लिए हमें जो दार्शनिक विचार दिये हैं, वे इस प्रकार है :—

(१) **सर्वचेतनता**—प्रसाद का विचार है कि सृष्टि में सर्वत्र एक चेतनता विलास कर रही है।[1] वह चिति, महाचिति, चेतना, शुद्ध चेतन, चैतन्य शक्ति आदि अनेक नामों से अभिहित की जाती है।[2] विश्व में सर्वत्र उस चेतन की चित्कला ही प्रकट हो रही है[3] और वह चेतन-सत्ता विश्व के रूप में प्रकट होकर यहाँ सदैव लीला-मय आनन्द करती रहती है।[4] यह सारी सृष्टि उस चेतना का विराट् स्वरूप है।[5] वही समस्त आलोक, चैतन्य और प्राण-शक्ति की प्रदाता है और मृत्यु के द्वारा वही इसे लौटा लेती है।[6] वह चेतनता ही यहाँ अपनी लीला से जल, थल और नभ का रूप धारण कर रही है, उसी ने इस प्रेम और आनन्द से परिपूर्ण निराधार ब्रह्मांड को आधार प्रदान किया है, सम्पूर्ण जीवों में वही अतीव सुन्दर परछाईं के समान खेल रही है, वही हमारे अन्तर्गत छिपकर हमें विविध आकार प्रदान करती है, उसी की सत्ता को हम 'अहमिति' द्वारा पूर्णानुभव करते हैं और उसी ने 'तू मैं ही हूँ' इस चेतन का प्रणव मध्य गुंजार किया है।[7] जब सर्वत्र वह चेतनता विद्यमान है, तब जड़ और चेतन का भेद करना व्यर्थ है। यहाँ कोई भी पदार्थ जड़ नहीं है, सभी चेतन है, क्योंकि हम भ्रम से उन पदार्थों को जड़ कहने लगते हैं, जिनकी शक्ति अप्रकाशित

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २६४।
२. **वही**, पृष्ठ ५३, २४२, २८८; **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२, १३, १०६।
३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ६४।
४. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।
५. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।
६. **चन्द्रगुप्त**, पृष्ठ १०३।
७. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०६।

रहती है। किन्तु जब वे जड़ पदार्थ ही किसी विशेष मात्रा में मिलते हैं तब उनमें से भी एक अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है, विचित्र स्पंदन होता है, उसे किसी भी तरह जड़ता नहीं कह सकते। इसी कारण सृष्टि में कहीं भी जड़ता नहीं है, अपितु सर्वत्र शुद्ध चेतन है। उस चेतन की स्फूर्ति यहाँ सदैव रहती है। यह दूसरी बात है कि वह चेतनता कभी लुप्त भले ही हो जाय, किन्तु उसका नाश कभी नहीं होता। उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती और न उसका चेतनमय स्वभाव कभी उससे भिन्न होता है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ रूप में भी वही चेतनता प्रकाशित होती है।[1] अतएव जड़ या चेतन कोई पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं है, अपितु एक शुद्ध चेतनता का ही यहाँ प्राधान्य है।[2] प्रसाद ने अपने इस सर्वचेतनता सम्बन्धी दार्शनिक विचार द्वारा मानवों को जड़त्व के लौह पाश से मुक्त किया है, उन्हें सदैव सचेत एवं सावधान रहने के लिए संकेत किया है, सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि के द्वन्द्वों से मुक्त किया है और प्रत्येक प्राणी को अनंत चैतन्य शक्ति से सम्पन्न घोषित किया है, जिससे वह विश्व में अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रह सकता है।

(२) **नियति में दृढ़ विश्वास**—जब तक मानव को यह भय न हो कि उसके जीवन का नियन्त्रण करने वाली कोई अलक्ष्य शक्ति है, तब तक वह स्वयं को प्रभूत शक्ति-सम्पन्न समझकर दीन-दुर्बलों पर अत्याचार एवं अनाचार करता है, जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकांड-तांडव करता है, व्यर्थ महत्व की आकांक्षा में लिप्त रहता है, अपनी नीची किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे संतोष नहीं होता और वह नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी उसे परवाह नहीं।[3] प्रसाद ने इसीलिए मानव की निरंकुशता, अनियमितता एवं अनाचारिता का नियंत्रण करने के लिए एक ऐसी नियामिका-शक्ति में सुदृढ़ विश्वास प्रकट किया है, जो सम्पूर्ण विश्व का नियमन करती है, दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य को अपना क्रीड़ा-कंदुक बनाती है, कर्त्तृत्व-मद से मत्त मनुष्यों की कर्म-शक्ति को अनुचरी बनाकर उनसे ही अपना कार्य कराती है, सदैव उत्थान का पतन एवं पतन का उत्थान करती हुई दम्भ का दमन करती है और कृत्रिम स्वार्थ-सिद्धि में रुकावट उत्पन्न करती है।[4] किन्तु यह नियामिका-शक्ति कभी किसी का अहित नहीं करती, क्योंकि समस्त परिवर्तनों में 'सर्वभूतहित' की कामना पर ही इसका लक्ष्य होता है।[5] प्रसाद की यह नियति भाग्य से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि भाग्य का शासन तो जीवों तक ही सीमित है, जबकि नियति सम्पूर्ण सृष्टि का नियमन करती है। इसका प्रवाह सदैव मानवता और सृष्टि के कल्याण के लिए है, जब कि भाग्य द्वारा अकल्याण एवं अमंगल भी होता है।

---

१. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२-१३।

२. **एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।—कामायनी**, पृष्ठ ३।

३. **अजातशत्रु**, पृष्ठ २८। ४. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३।

५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ७३।

प्रसाद की नियति जीवन के प्रति आस्था एवं अविरोध उत्पन्न करती है, जिससे मनुष्य नियति की डोरी पकड़कर निर्भय कर्म-कूप में कूदने को भी तैयार रहता है, क्योंकि उसे यह विश्वास रहता है कि जो होना है, वह तो होगा ही, फिर वह अकर्मण्य और कायर क्यों बने तथा कर्म से विरक्त क्यों हो ?[१] किन्तु भाग्य या प्रारब्ध सदैव जीवन के प्रति निर्वेद, वैराग्य एवं अनास्था उत्पन्न किया करता है और इसके वशीभूत मानव प्रायः अकर्मण्य, कायर एवं निरुत्साही बन जाता है। नियति सदैव मानव के अतिवाद को रोककर विश्व की अबाध प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया करती है, जबकि भाग्य सदैव मानव की प्रगति का बाधक बनकर उसे कभी-कभी अत्याचार एवं अनाचार की ओर भी उन्मुख कर देता है, क्योंकि भाग्यवादी व्यक्ति अपने सौभाग्य एवं अपनी भौतिक समृद्धि के लिए अनर्थ करने के लिए भी तत्पर देखे जाते हैं। प्रसाद की नियति मानवों को सामाजिक कार्य करने की पूरी छूट देती है और कहीं भी लौकिक न्याय की प्राप्ति में बाधक नहीं बनती। किसी भी सीमा रेखा पर जाकर पूर्वजन्म और उसके कर्मों की दुहाई देना और मनुष्य को सामाजिक न्याय के मार्ग में पूरी दूरी तक जाने देने से रोकना प्रसाद की नियति का कार्य नहीं है[२], जबकि भाग्य सदैव मानवों को कर्म-बंधन से बाँधे रहता है, पूर्वजन्म के संचित कर्मों और प्रारब्ध के सहारे उसकी प्रगति का लेखा-जोखा बताया करता है तथा मानवों को अपने पुरुषार्थ पर भरोसा न कराकर उनकी सामाजिक प्रगति में सदैव बाधक बना करता है।

इस तरह प्रसाद ने 'नियति' के रूप में मानवों को एक ऐसी शक्ति प्रदान की है, जिससे मानव सदैव सत्कर्म की ओर प्रवृत्त रह सकता है, क्योंकि जैसे ही वह असत्कर्मों की ओर उन्मुख होगा, यह नियामिका-शक्ति उसके पथ में गतिरोध उत्पन्न करके उसे लोक-हित के मार्ग पर ले आयेगी। इस नियति-शक्ति में आस्था एवं विश्वास रखने वाला व्यक्ति कभी अकर्मण्य नहीं बन सकता, वह सदैव अपने पुरुषार्थ द्वारा अभ्युदय को प्राप्त कर सकता है और इस नियामिका-शक्ति के वास्तविक स्वरूप को जानकर तथा इसके नियंत्रण से मुक्त होकर अखंड आनन्द को भी प्राप्त कर सकता है। इस नियति का शासन सांसारिक व्यक्तियों तथा जगत् तक ही सीमित रहता है, किन्तु जो व्यक्ति सतत साधना द्वारा माया-जन्य भेद-बुद्धि से मुक्त होकर शिवत्व को प्राप्त कर लेता है और अपने आनन्दमय आत्म-स्वरूप को पहचान लेता है, उस पर इस नियामिका-शक्ति का ज़ोर नहीं चलता, क्योंकि वह इसके नियंत्रण से सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसे फिर ये नियति के विविध खेल देखने नहीं पड़ते।[३] अतएव प्रसाद ने नियति में सुदृढ़ विश्वास प्रकट करके एक ऐसी नियामिका-शक्ति का स्वरूप हमें बताया है जिसके नियंत्रण में रहकर भी जीव सदैव लोकहित एवं मानव-कल्याण के साथ-साथ अपने भी कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है और इसी

---

१. **अजातशत्रु**, पृष्ठ ३८। २. **आधुनिक साहित्य**, पृष्ठ ६५।
३. **कामायनी**, पृष्ठ २६०।

लोक में अभ्युदय एवं निःश्रेयस् को भी प्राप्त कर सकता है। इस तरह भाग्यवाद के द्वारा जो निराशा, असन्तोष, अकर्मण्यता आदि दुर्गुण भारतीय समाज में फैल रहे थे, उन्हें दूर करने के लिए तथा तत्कालीन समाज को स्वातंत्र्य-प्राप्ति के लिए कर्मठ एवं प्रगतिशील बनाने के लिए प्रसाद की यह नियति-सम्बन्धी दार्शनिक देन भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

(३) **जीव की नित्यता**—अधिकांश भारतीय दार्शनिकों ने यहाँ के जन-जीवन में ये विचार कूट-कूट कर भर दिये थे कि मानव-जीवन पानी का बबूला है, क्षणिक है, क्षणभंगुर है, नश्वर है और देखते ही देखते विलीन हो जाता है। अतएव इस जीवन पर गर्व नहीं करना चाहिए, इसके लिए अधिक प्रयत्नशील भी नहीं होना चाहिए और न इसे अधिक समृद्ध एवं सशक्त बनाने का ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मृत्यु के इस क्षुद्र अंश में जब स्थायित्व हो नहीं है, सदैव यह अभाव एवं असफलताओं का ही शिकार बना रहता है[1] तथा श्रममय कोलाहल एवं पीड़नमय व्याकुलता में ही लिप्त रहता है[2], तब इसे इतनी गहरी नींव देने की क्या आवश्यकता है ?[3] इसे तो चुपचाप एकान्त में किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिले फूल के समान खिलना चाहिए, जिससे संसार की भी दृष्टि इस पर न पड़े और यह पवन की किसी लहर को सुरभित करके चुपचाप धीरे से उस थाले में चू पड़े, जहाँ यह एकाकी विकसित हुआ है। ऐसा करने से न तो फिर संसार में हलचल होगी, न कहीं करुण क्रंदन सुनाई पड़ेगा और न फिर भीषण चीत्कार ही होगा। वह अपने अस्तित्व को अनस्तित्व के साथ मिलाकर बड़ा सुखी होगा।[4] परन्तु प्रसाद उक्त विचार के समर्थक न थे। प्रसाद यह जानते थे कि जीवन की क्षणभंगुरता के विचार ने कितने तरुण युवकों एवं युवतियों के मस्तिष्क को विकृत कर दिया है, आर्य-धर्म के आरम्भिक उल्लासमय स्वरूप को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है और उसके स्थान पर अलस, अवसाद-ग्रस्त कायरता के कारण विवेक के ढोंग को प्रोत्साहन दिया है, जिससे अनन्त शक्ति-सम्पन्न जीवों का जीवन शिथिल होकर जैसे किसी को कुचल न देने का मिथ्या अभिनय करता लड़खड़ाता हुआ जीवन-देवता को ही कुचल रहा है।'[5]

इस अनित्यता के नाम पर भारत में जिस कायरता, अविश्वास और निराशा का प्रचार हो रहा था, प्रसाद उससे पूर्णतया अवगत थे और वे चाहते थे कि इस अनित्यता के स्थान पर भारतीय जन-जीवन में जीव की नित्यता एवं मानव-जीवन की शाश्वत सत्ता का प्रचार किया जाय, जिससे मानवों में उत्साह, साहस और

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ १८-१९।
२. **कामायनी**, पृष्ठ २६६।
३. **अजातशत्रु**, पृष्ठ २८।
४. **अजातशत्रु**, पृष्ठ १४२।
५. **इरावती**, पृष्ठ २१।

आत्म-विश्वास की प्रतिष्ठा हो[१], आर्य-संस्कृति के वे चिरन्तन विचार फिर से जन-जीवन में फैल जायें, जिनके फलस्वरूप वे उस हानि से बचने का प्रयत्न करें, जो अनित्यता के मिथ्या विवेक द्वारा उत्पन्न अतिवाद के कारण हो रही है और जिससे मानवता पद-पद पर ठोकर खाकर असफलता को प्राप्त हो रही है।[२] आज अनित्यता के विचार के कारण प्रत्येक जीव जो प्रतिपद सशंक, भयभीत और निष्ठुरता से शासित प्राणी के समान जीवन व्यतीत कर रहा है, उसके मस्तिष्क में जीव की नित्यता का विचार भरकर उसे निश्शंक, निर्भय एवं स्वतंत्र प्राणी बनाना है, उसके भविष्य को आशामय करना है[३] और उसे गीता की उस अमर वाणी का जयघोष सुनाना है जिसमें कहा गया है कि यह जीवात्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है, न कभी उत्पन्न होकर अभाव को प्राप्त होता है, अपितु यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है और शरीर का नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता। इस जीवात्मा को अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय अर्थात् विकार-रहित समझना चाहिए, जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का त्याग करके नवीन वस्त्रों को धारण कर लेते हैं, वैसे ही यह जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर नवीन शरीरों को ग्रहण करता रहता है। इसे न तो शस्त्र काट सकते है, न आग जला सकती है, न जल भिगो सकता है और न वायु आर्द्र द्रव्य का शोषण करके इसे नष्ट कर सकता है, अपितु यह तो अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य एवं अशोष्य होने के कारण नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल एवं सनातन है।[४]

गीता के उक्त विचारों से सहमत होते हुए प्रसाद ने जीव की नित्यता घोषित की और बताया कि जीव का जीवन अनंत है, अखंड है और अछेद्य है, इसे छिन्न करने का अधिकार किसी को भी नहीं है।[५] जीवन की सीमामयी प्रतिमा बड़ी मधुर होती है। यह जीवन तो सौभाग्य है, अलभ्य है। इस जीवन को प्राप्त करने के लिए तो सारी सृष्टि भीख माँगती है। जैसे वनराजी नित्य अपने दलों का आँचल पसार कर ओस के समान जीवन की एक-एक बूँद माँगा करती है। भयंकर क्रंदन करता हुआ समुद्र भी एक बूढ़े भिखारी के समान नित्य सरिताओं से जीवन की मीठी-मीठी धारा माँगा करता है। इतना ही नहीं, यह विश्व भी अन्धकार से व्याकुल होकर नित्य प्रभात वेला में प्रभायुक्त जीवन की स्वर्णमयी किरण माँगा करता है। इससे स्पष्ट है, जीवन सौभाग्य है और यह जीवन सभी को प्रिय है।[६] इसलिए जीव की नित्यता घोषित करते हुए प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है कि जीव स्ववश है, वह सुरीले शुद्ध नाद के तुल्य विकार-हीन है, वह चेतन है, वह स्वामी है, वह केवल है, वह स्वच्छ एवं निर्मल है,[७]

---

१. **इरावती**, पृष्ठ २१।
२. **इरावती**, पृष्ठ २१।
३. **वही**, पृष्ठ २२।
४. **गीता** २।२०-२४
५. **लहर**, पृष्ठ ७०।
६. **लहर**, पृष्ठ ७०-७१, ७३।
७. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४८।

वह स्वतन्त्र कर्त्ता है और वह न कभी जन्म लेता है और न मरता है।[1] जीव के जीवन की यह सुन्दर धारा सत्य है, सतत है, प्रकाशमय है, सुखद है और अथाह है।[2] जो यह समझता है कि मैं किसी जीव को मार रहा हूँ और ये जीव मरेंगे, यह सब भ्रान्ति है, क्योंकि एक सतत गतिशील यन्त्र के समान यह जीव ईश्वर से पूर्णतया अभिन्न है।[3] जीवों का यह जीवन उस चेतन-समुद्र में लहरों के समान बिखर रहा है, प्रत्येक जीव अपनी व्यक्तिगत छाप के कारण एक आकार में निर्मित दिखाई देता है, किन्तु ये समस्त जीव नक्षत्रों के समान अपनी-अपनी आभा चमकाते रहते हैं और जैसे समस्त नक्षत्र उस ज्योत्स्ना के जलनिधि में बुद्‌बुद् के समान विद्यमान हैं, वैसे ही ये समस्त जीव उस अनन्त चेतन के अन्तर्गत नाना रूपों में दिखाई देते हैं। इस तरह सम्पूर्ण जीव उस अनन्त चेतन से पूर्णतया अभिन्न हैं, उनमें कोई भेद नहीं है और अन्त में सब घुल-मिल कर उसी अनन्त चेतन का रूप इस तरह धारण कर लेते हैं, जिस तरह विविध प्रकार के संचारी भाव, अनुभाव और विभाव मिलकर किसी एक स्थायी भाव या चरम भाव का पोषण करते हुए किसी एक रस की अभिव्यक्ति किया करते हैं और उस रस में वह चरम भाव ही प्रधान रहता है।[4]

इस प्रकार प्रसाद ने चेतन के साक्षी मानव को अथवा जीव को नित्य, शाश्वत, निर्विकार, अनंत, अखंड, अव्यय, अज, अविनाशी, सर्वव्यापक, अमर, सनातन आदि घोषित करके मानवों के हृदय से निराशा, असमर्थता, भाग्यहीनता, दीनता, भ्रान्ति, जड़ता, कायरता, अविश्वास, शिथिलता, अकर्मण्यता, आलस्य, अवसाद आदि दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न किया, जीवों की जीवन-धारा को सत्य और सतत कहकर मानवों के हृदय से क्षण-भंगुरता के दूषित एवं निराशा-जन्य विचार का निराकरण किया, मानवों को 'अमृत संतान' या 'अमर' कहकर निर्भय एवं निडर बनाते हुए मंगलमय वृद्धि की ओर अग्रसर किया और जीवों को 'विधाता की कल्याणी सृष्टि' के चेतन अंश कहकर तथा सबको उस अनन्त चेतन के अभिन्न एवं अभेद रूप बताकर मानवता को विजयिनी बनाने का प्रयत्न किया।[5] यही कारण है कि प्रसाद का यह जीवों की नित्यता सम्बन्धी दार्शनिक विचार आधुनिक प्रगतिशील एवं उन्नतशील समाज के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

(४) **जगत् की सत्यता**—बौद्ध-दर्शन ने 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं' कहकर सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों की जो क्षणभंगुरता सिद्ध की थी और शांकर वेदान्त ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'[6] के उद्‌घोष द्वारा ब्रह्म की सत्यता और जगत् की असत्यता एवं अनित्यता का जो प्रचार किया था, उसका प्रभाव प्रायः समस्त भारतीय संतों एवं भक्तों पर पड़ा और संतों एवं भक्तों के उपदेशों एवं उनकी बानियों को सुन-सुन कर जनसाधा-

---

१. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४८।
२. **कामायनी**, पृष्ठ २४१।
३. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ११६।
४. **वही**, पृष्ठ २८८।
५. **कामायनी**, पृष्ठ ५८–५९।
६. **विवेक-चूड़ामणि**, पृष्ठ १२।

रण में जगत् के मिथ्यात्व की एक ऐसी गहन भावना घर कर गई कि वह किसी तरह भी निकालने से नहीं निकल सकी। यह भावना संत और असंत, सज्जन और दुर्जन, धनी और निर्धन, विद्वान् और मूर्ख, ग्रामीण और नागरिक तथा शिक्षित और अशिक्षित सभी प्रकार के व्यक्तियों में दिखाई देती थी। भारतीय साहित्यकार भी प्रायः इस भावना से अनुप्राणित होकर अपने-अपने ग्रन्थों का निर्माण करने लगे थे। जगत् के मिथ्यात्व की इस भावना से दुष्परिणाम भी पर्याप्त मात्रा में हुआ, क्योंकि प्रायः जनसाधारण में जगत् और जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव जाग्रत हो गया, वे भौतिक उत्कर्ष को हेय समझकर तुच्छ दृष्टि से देखने लगे, उन्होंने अपने राष्ट्र एवं समाज की उन्नति के बारे में विचार करना छोड़ दिया, वे परतंत्रता की बेड़ियो में जकड़ते चले गये और भारत का जन-जोवन निराशा, कायरता, शिथिलता, आलस्य, पलायनवादिता, संदिग्धता, निष्ठुरता, शंका, अविश्वास आदि का शिकार बन गया। जगत् की अनित्यता ने उनके सहज उत्साह, साहस और आत्मविश्वास को नष्ट कर दिया। वे जगत् को पानी के बबूले अथवा सेंमर के फूल की तरह क्षणिक एवं निस्सार समझने लगे, जेबरी के साँप अथवा मृगतृष्णा के जल की भाँति भ्रमपूर्ण मानने लगे और स्वप्न की सृष्टि की तरह मिथ्या एवं असत्य रूप में देखने लगे। किन्तु आधुनिक युग में आकर जगत् के मिथ्यात्व की भावना का घोर विरोध हुआ और परतंत्रता की बेड़ियों में आबद्ध जनसाधारण को सचेत एवं सावधान करने के लिए यहाँ ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, ब्रह्म-विद्या-समाज, आर्य-समाज, रामकृष्ण मिशन आदि सुधारवादी संस्थाओं तथा तिलक, गांधी, टैगोर, अरविंद, विवेकानन्द प्रभृति अनेक विद्वानों ने भारतीय जीवन में नवजागरण का शंख फूँक दिया तथा उन्हें स्वतंत्रता के उन्मुक्त वातावरण में साँस लेने के लिए तैयार किया।

नवजागरण की इसी बेला में कविवर प्रसाद ने पदार्पण किया और यह अनुभव किया कि जब तक सर्वसाधारण के हृदय से यह भावना दूर नहीं हो जाती कि यह जगत् मिथ्या है, निस्सार है, भ्रम है, क्षणिक है अथवा असत्य है, तब तक वे तत्परता और लगन के साथ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के आन्दोलन में कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि जगत्-सम्बन्धी इस दूषित भावना के कारण ही उनके हृदय से उत्साह लुप्त हो गया है, उनमें साहस नही दिखाई देता, वे आत्मविश्वास-हीन दिखाई देते हैं, उनमें जगत् से पलायन की प्रवृत्ति बढ़ती चली जा रही है, वे उदासीन होते चले जा रहे हैं और किसी भी काम को विश्वासपूर्वक नहीं करते। यह सत्य भी है कि जगत् को मिथ्या और भ्रम मानने वाला मनुष्य दृढ़तापूर्वक कैसे आन्दोलन में भाग ले सकता है, कैसे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए बलिदान कर सकता है और कैसे अपने अन्तःकरण में चलने वाले काम और जीवन के युद्ध में जीवन को विजयी बना सकता है? इसीलिए प्रसाद ने जीव की नित्यता के साथ-साथ जगत् की सत्यता का दार्शनिक विचार संसार को प्रदान किया और बतलाया कि वेदान्त में जगत् की पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासक तीन सत्ताएँ मानी गई है। पारमार्थिक दृष्टि से जगत्

असत् है, व्यावहारिक दृष्टि से सत् है और प्रातिभासिक दृष्टि में जगत् सत् और असत् से अनिर्वचनीय है। प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है कि 'वह वेदान्त पिछले काल का साम्प्रदायिक वेदान्त है, जो तर्कों के आधार पर अन्य दार्शनिक को परास्त करने के लिए बना। सच्चा वेदान्त व्यावहारिक है। वह जीवन-समुद्र आत्मा को उसकी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ समझता है।'[1] अतएव प्रसाद ने वेदान्त के व्यावहारिक स्वरूप का समर्थन किया और जगत् को उस विराट् चिति का मंगलमय चिर सुन्दर रूप कहकर सत्य घोषित किया।[2] प्रसाद का तो यह स्पष्ट विचार है कि वह शुद्ध चेतन विश्व के रूप में अभिव्यक्त होता है।[3] वही धरा, कीलाल, वैश्वानर, आकाश, समीर, दिनेश, चन्द्र और मानव के रूप में अष्टमूर्ति धारण करके जगत् के रूप में सदैव विद्यमान रहता है।[4] वह शुद्ध चेतन ही जगत् का कारण है और वही कार्य है। जो इस जगत् को जड़ मानते हैं, वे भ्रम में हैं। यहाँ जब सर्वत्र शुद्ध चेतन है, तब जड़ता कहाँ? यह तो एक भ्रमात्मक कल्पना है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन ही प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है और असत्य का भ्रम दूर करना होगा।[5] इतना ही नहीं, मानवों को यह भी बताना होगा कि जगत् के दुःख और सुख सभी उस भूमा के मधुमय दान है, क्योंकि जब यह जगत् शुद्ध चेतन का स्वरूप है, तब इसके दुःख-सुख उससे पृथक् कैसे हो सकते हैं? वह शुद्ध चेतन दुःख-सुख द्वारा विषमता उत्पन्न करता हुआ यहाँ विविध प्रकार की क्रीड़ा किया करता है और इस विषमता से ही जगत् गतिशील रहता है।[6]

अतः प्रसाद ने यह स्पष्ट घोषणा की कि जगत् की असत्यता का विचार मिथ्या है, भ्रमात्मक है, जबकि जगत् उस शुद्ध-चेतन का सत्य स्वरूप होने के कारण पूर्णतया सत्य है। यहाँ विधाता का यह मंगल वरदान सर्वत्र गूँज रहा है कि "शक्तिशाली हो, विजयी बनो।" इस जगत् को सत्य मानकर अपने कार्यों को लगन के साथ करो, सफलता अवश्य मिलेगी, मंगलमय वृद्धि होगी और सारी समृद्धि स्वयं खिंचकर समीप चली आयेगी। इतना ही नहीं, आपके सत्कार्यों के द्वारा अखिल मानव-भावों के सत्य से भरा हुआ चेतना का सुन्दर इतिहास दिव्य अक्षरों में विश्व के हृदय-पटल पर अंकित होगा, विधाता की कल्याणी सृष्टि इस भूतल पर पूर्ण सफलता प्राप्त करेगी, सर्वत्र मानवता की कीर्ति-पताका फहरायेगी और मानव विश्व की दुर्बलता को बलवती बनाकर अपने अभ्युदय का उपाय करते हुए तथा शक्ति के समस्त विद्युत्कणों को एकत्र करते हुए मानवता को विजयिनी बनायेंगे।[7] इस तरह प्रसाद ने जगत् की सत्यता घोषित करके आधुनिक मानव को निराशा एवं उदासीनता के गहन अंधकार

---

१. **तितली**, पृष्ठ ६४।
२. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।
३. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १०६।
४. **चित्राधार**, पृष्ठ १३६-१४०।
५. **वही**, पृष्ठ १२-१३।
६. **कामायनी**, पृष्ठ ५३-५४।
७. **कामायनी**, पृष्ठ ५७-५६।

से निकाल कर आशा और उत्साह का दिव्य आलोक प्रदान किया, भ्रम और सन्देह के गर्त से निकालकर आत्मविश्वास की उच्च चोटी पर खड़ा किया, शिथिलता और पलायनवादिता के अंधकूप से निकालकर उन्नति एवं प्रगति का समतल मैदान प्रदान किया तथा परतन्त्रता और पराधीनता की घनीभूत पवन से रुद्ध श्वासों को स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता के उन्मुक्त पवन में पुनः चलने योग्य बनाया। यही कारण है कि जगत् की सत्यता सम्बन्धी प्रसाद का यह दार्शनिक विचार आधुनिक प्रगतिशील युग के लिए एक वरदान है।

अभेदवादी दृष्टिकोण—प्रसादयुगीन भारतीय समाज में भेद-भाव का बड़ा ही बोलवाला था। प्रायः जनता ऊँच-नीच, छूत-अछूत, शुद्ध-अशुद्ध, छोटा-बड़ा, धनी-निर्धन, पंडित-मूर्ख आदि के भेदों से कराह रही थी। धनी एवं सम्पन्न व्यक्ति अपने को सौभाग्यशाली समझते थे और दीन-हीन, अपाहिजों को दुर्भाग्यशाली मानते थे। उन तथाकथित सम्पन्न व्यक्तियों में इतना गर्व, इतना अहंकार और इतना अभिमान भरा रहता था कि यदि कोई निर्धन एवं दीन व्यक्ति उन्हें प्रणाम करता था तो उसका उत्तर तक नहीं देते थे। उसे यदि वे कुछ दान देते थे, तो बड़े कठोर शब्दों में उसे बुलाते थे। कोई मार्ग में पड़ा कराहता दिखाई देता था, तो उसे देखना तो दूर रहा उसकी कराह भी सुनना पसंद नही करते थे। यदि मलिन वस्त्रों में वह उनके घर पर आता था, तो अपने पास बिठाना या उसे उज्ज्वल वस्त्र देना तो दूर रहा, उसे देखते ही उनकी भ्रकुटियाँ चढ़ जाती थीं।[1] इस तरह समाज के मानवों में बड़ा भेद-भाव था। कुछ ऐसे सम्पन्न थे, जिनके घरों में सुगंध-जल के फौवारे छूटते थे और जाड़ों में बिजली से गरम कमरों में कपड़े उतार देने की आवश्यकता होती थी और दूसरी ओर कुछ ऐसे भी थे जो बरफ और पाले में दूकानों के चबूतरों के नीचे अर्ध-नग्नावस्था में रात्रि-निवास करते थे।[2]

प्रसाद के मत से मानव-समाज में इस भेद-भाव को जन्म देने वाली द्वैत भावना है। जब से मानव-समाज द्वैत की भावना में लिप्त होकर संकुचित दृष्टि वाला हुआ है, तभी से उसने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णों की सृष्टि की है, उसके सामने अनेक अनजान समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, वह अनंत कोलाहल का शिकार बना है, उसकी सामाजिक एकता विनष्ट होकर उसमें भेद उत्पन्न हुआ है और उसे अभिलषित वस्तु की प्राप्ति तो दूर रही, प्रत्युत अनिच्छित दुःखद खेद प्राप्त हुआ है। इस द्वयता के कारण ही मानवों के वक्षस्थल की जड़ता ने उनके हृदयों पर भी आवरण डाल दिया है, जिससे वे परस्पर पहँचानते नही, सब कुछ पास होते हुए भी उन्हें संतोष नही होता और उनकी यह संकुचित दृष्टि उन्हें सदैव दुःख प्रदान करती है। इस द्वैत भावना के कारण ही मानवों की अभिलाषाएँ कभी पूर्ण नहीं होतीं, उनके जीवन में प्रायः व्यथा एवं वेदना भरी रहती है, उनके लालसापूर्ण

---

१. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ४४-४५।   २. **तितली**, पृष्ठ १८।

यौवन के दिन भी पतझड़ के समान व्यतीत होते हैं, वे नये-नये संदेहों के उत्पन्न होने से सदैव संतप्त एवं भयभीत रहते है, उनके स्वजनों में भी विरोध रहता है, वे दुःखी होकर भी नित्य नये रंग बदलते रहते है और वे तृष्णा-ज्वाला के पतंग बन जाते हैं।[1] द्वैत में लिप्त मानवों के हृदय में कभी पुनीत प्रेम निवास नहीं करता, वे सदैव अपने स्वार्थों से आवृत रहते हैं, उनके हृदय की कल्याण-कामना संकुचित हो जाती है, वे सदैव निराशा से घिरे रहते हैं, वे अपने को सैकड़ों भागों में विभक्त करके किसी से राग और किसी से विराग प्रकट किया करते है, उनके मस्तिष्क और हृदय में कभी सद्भाव नहीं रहता, प्रत्युत दोनों एक दूसरे के विरुद्ध रहते है; क्योंकि जब मस्तिष्क कहीं चलने को कहता है, तब हृदय उसकी बात न मानकर कहीं और ही चल देता है, उनके सब वर्तमान क्षण रोकर ही बीतते हैं, उनके लिए अतीत सपना हो जाता है और सारी हार-जीत पैंगों में झूला करती है। इतना ही नहीं, द्वैतभाव के कारण उनकी असीम अमोघ शक्ति भी संकुचित हो जाती है और भेद के कारण उनका जीवन सदैव बाधाओं से परिपूर्ण रहता है, वे कभी अपूर्ण अहंता में अत्यधिक अनुराग रखने के कारण उसे महाशक्ति समझने लगते हैं, उनकी व्यापकता नियति की प्रेरणा से ससीमता में बदल जाती है, विद्या के द्वारा उनकी सर्वज्ञता अल्पज्ञता में परिणत हो जाती है, कला उनकी कर्त्तृत्वशक्ति को संकुचित कर देती है, काल उनकी नित्यता को विभाजित करके अनित्यता में परिवर्तित कर देता है और वे अज्ञान के आवरण से ऐसे ढक जाते हैं कि वे यह भी नहीं समझ पाते कि बुराई से शुभ इच्छा में बड़ी शक्ति होती है। उनकी तर्क से भरी हुई समस्त युक्तियाँ भी विफल हो जाती है।[2]

इतना ही नहीं, प्रसाद ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि द्वैतभाव के कारण ही मानव का सारा जीवन युद्ध बन जाता है, जिसके फलस्वरूप उसके भाव भी शुद्ध नहीं रहते, वह अपनी ही शंकाओं से व्याकुल होकर अपने ही विरुद्ध हो जाता है, वह वास्तविक स्वरूप को छिपाकर समाज को अपना कृत्रिम रूप दिखाया करता है तथा पृथ्वी पर चलते-फिरते दम्भ-स्तूप की भाँति प्रतीत होता है, वह संसृति के रहस्य को नहीं जान पाता, वह वर्तमान से वंचित होकर अपना भविष्य भी अवरुद्ध कर लेता है, उसे सारा प्रपंच ही अशुद्ध जान पड़ता है, वह जरा-मरण के चक्कर में चिर अशान्ति का अनुभव करने लगता है, वह अपनी अमरत्व भावना को भूल जाता है, वह अतिचारी होकर इस जगत् को मिथ्या मानता हुआ परलोक की प्रवंचना में फँस जाता है, उसकी समस्त आशाएँ निराशा में परिणत हो जाती हैं, उसकी बुद्धि सदैव भ्रान्त रहती है और वह सदैव श्रान्त होकर जीवन-यापन करता है।[3]

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ १६४। २. **कामायनी**, पृष्ठ १६५।
३. **वही**, पृष्ठ १६६।

अतएव प्रसाद ने द्वैत के कारण उत्पन्न होने वाली बुराइयों का उल्लेख करते हुए परिवार-भेद, समाज-भेद, वर्ग-भेद आदि के कारण उत्पन्न उस खाई की ओर भी संकेत किया, जो तत्कालीन समाज में फैलती चली जा रही थी, जिसके फलस्वरूप मानवों में परस्पर स्नेह-सौहार्द एवं सहानुभूति का अभाव होता चला जा रहा था और जो खाई इतनी गहरी हो गई थी कि उसका जुड़ना सर्वथा असम्भव-सा दिखाई देता था।[१] परन्तु प्रसाद ने मानव-मानव के बीच खाई उत्पन्न करने वाली इस द्वैत-भावना के विरुद्ध अपना अभेदवादी विचार प्रस्तुत किया और बताया कि यह द्वयता का भाव उसी समय तक विद्यमान रहता है, जिस समय तक मानव अपने वास्तविक रूप से विस्मृत रहता है। जैसे ही वह अपने रूप को पहँचान लेता है, वैसे ही वह अनेकता में एकता का अनुभव करता हुआ सबके समीप आने लगता है।[२] उसे सर्वत्र वह अनन्त चेतन उन्मद गति से नृत्य करता हुआ प्रतीत होता है और वह द्वयता से उत्पन्न विस्मृति का परित्याग करके उस अनन्त चेतन के साथ मिलकर नृत्य करने लगता है, वह क्षितिज के पर्दे को उठाकर ब्रह्मांड के विवर में प्रवेश करता है तथा इस विश्व-कुहर में गुंजारित घन-नाद को अथवा अनाहत नाद को सुनने लगता है, वह सबसे मिलकर चलने का अभ्यास करता है और अनजाने भी कभी विवादी स्वर नहीं छेड़ता।[3]

इतना ही नहीं, प्रसाद ने अपने इस अभेदवादी दृष्टिकोण को अद्वैतवाद से पृथक् सिद्ध करते हुए बयाया कि अद्वैतवाद में न तो जगत् को महत्व दिया गया है और न जीव की ही महत्ता स्वीकार की गई है, अपितु वहाँ केवल आत्मा की महत्ता का ही प्रतिपादन किया गया है। परन्तु प्रत्यक्ष में जीव और जगत् का भी महत्व है। अतः आज के वैज्ञानिक युग में ऐसा विचार कभी सर्वमान्य नहीं हो सकता, जिसमें व्यावहारिकता एवं स्वाभाविकता न हो। इसी कारण प्रसाद ने प्राचीन अद्वैत-वादी विचारधारा का निराकरण करते हुए आत्मा के साथ-साथ उसकी सम्पूर्ण विभूतियों अर्थात् जीव और जगत् की भी महत्ता का प्रतिपादन किया[४] और बताया कि जड़-चेतन से परिपूर्ण यह जगत् विविध रूपों में दिखाई अवश्य देता है, परन्तु यह शुद्ध-चेतन का अखंड व्यापार है[५], यहाँ प्रकृति के सुप्रांगण में जितनी मधु-क्रीड़ाएँ हो रही हैं, वे सब उसी विश्व-गृहस्थ की है[६], वह परा-प्रकृति में पूर्णतया मिला हुआ है,[७] उसी की महत्ता व्योम में ओतप्रोत है और वही विश्व-शरीरी है।[८] इसी कारण सम्पूर्ण जगत और जीवन उस अनन्त-सागर में अभेद रूप से घुले-मिले हैं।[९] जब सर्वत्र शुद्ध

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ १८६।
२. **कामायनी**, पृष्ठ १९२।
३. **वही**, पृष्ठ १९३।
४. **तितली**, पृष्ठ ९४।
५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १४।
६. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९२।
७. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।
८. **कानन-कुसुम**, पृष्ठ ९४।
९. **कामायनी**, पृष्ठ २८८।

चेतन है, तब जड़ और चेतन का भी भेद करना समीचीन नहीं। सर्वत्र अभेद-रूप से एक ही तत्व का प्राधान्य है, उसे चाहे जड़ और चाहे चेतन किसी भी नाम से अभिहित किया जा सकता है।[1]

इस तरह प्रसाद ने जड़ और चेतन, सुख और दुःख, दिन और रात, पाप और पुण्य आदि के समस्त द्वन्द्वों में दिखाई देने वाले भेद का निराकरण करते हुए बताया कि "द्वन्द्व तो कल्पित है, भ्रम है। उसी का निवारण होना आवश्यक है। देखो, दिन का अप्रत्यक्ष होना रात्रि है, आलोक का अदर्शन ही अन्धकार है। ये विपक्षी द्वन्द्व अभाव हैं। क्या तुम कह सकते हो कि अभाव की भी कोई सत्ता है? कदापि नहीं।"[2] इस तरह द्वन्द्व या द्वैत की सत्ता का निषेध करते हुए प्रसाद ने विश्वमात्र को अभेद रूप में देखने की सलाह दी, इस जगत् के सम्पूर्ण कार्यों को धर्म और भगवान् के कार्य समझ कर करने का आग्रह किया और बताया कि जो व्यक्ति इस विषमता एवं द्वन्द्वों से परिपूर्ण जगत् में समता एवं एकरूपता का दर्शन करता है, सम्पूर्ण कार्यों को भगवान् के कार्य समझकर करता है[3], समस्त अनु-अणु एवं कण-कण को अपना मानता है, सबकी सेवा को पराई नहीं समझता और एक अपनी चेतनता को ही सारी सृष्टि का स्पर्श करता हुआ देखता है, वह निर्विकार होकर सबके अन्तःकरण में प्रवेश करता है, सम्पूर्ण भेद-भावों को भूलकर सम्पूर्ण दुःख-सुख को हृदय बना लेता है, अपने वास्तविक रूप को जान लेता है, उसके लिए सारा विश्व एक नीड़ बन जाता है[4] और वह सर्वत्र अभेद का दर्शन करता हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है।[5] अतएव प्रसाद का यह अभेदवादी दृष्टिकोण न केवल सामाजिक समता एवं राष्ट्रीय एकता का द्योतक है, अपितु विश्वबंधुत्व को जाग्रत करता हुआ सर्वात्मवाद का भी प्रचारक है और सम्पूर्ण मानवों की एकरूपता सिद्ध करता हुआ मानवता के विकास के लिए भी कल्याणकारी है।

(६) **समरसता**—प्रसाद ने अपने ही जीवन-काल में विश्व के अन्तर्गत व्याप्त विषमता के उस विषमय संघर्ष को देखा था, जिसके परिणामस्वरूप मानव विराट् विश्व तथा विश्वात्मा की अभिन्नता को भूलकर अपने वैयक्तिक जीवन में कोलाहल एवं हाहाकार से परिपूर्ण कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहा था, उसके परिवार में पारस्परिक स्नेह एवं सौहार्द्र के स्थान पर स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष आदि का बोलबाला था, उसका सामाजिक जीवन भी पशुता के आतंक से ग्रस्त था और वर्ग-भेद, वर्ण-भेद, प्रान्तीय-भेद, धर्म-भेद आदि से जो श्रेणी-भेद उत्पन्न हो रहा था, उससे धर्म, संस्कृति एवं सभ्यता पर कुठाराघात हो रहा था और उसका राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन भी अत्यन्त दयनीय बन रहा था, क्योंकि मनुष्यता की रक्षा के लिए

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ ३। २. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२।
३. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १४। ४. **कामायनी**, पृष्ठ २८६।
५. **वही**, पृष्ठ १५।

तथा पाशवी वृत्तियों का दमन करने के लिए जिन राज्यों की अवतारणा हुई थी, उनकी आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों को सृष्टि हो रही थी, जनता अपने दायित्व को भूलकर संघर्षमय शासन को प्रोत्साहन दे रही थी, सर्वत्र दारिद्र्य, भुखमरी, देश-द्रोह, विप्लव, प्रताड़ना आदि की प्रधानता थी और शासित एवं शासकों में अत्यधिक भेद बढ़ता जा रहा था।[1] देश में धनवान और निर्धन, कठोर स्वामी और दयनीय दास, सैनिक-बल का प्रचंड प्रताप और किसानों की भारवाही पशु की-सी पराधीनता, ऊँच और नीच, अभिजात और बर्बर, असभ्य और सभ्य सभी प्रकार के व्यक्तियों के वर्ग बनते चले जा रहे थे और नये-नये संदेश, नये-नये उद्देश्य, नई-नई संस्थाओं के प्रचार आदि के द्वारा राष्ट्र सभ्यता के शिखर पर चढ़ रहे थे।[2] इस विषमता के कारण विश्व-मानव काल्पनिक महत्व के लिए दौड़ा चला जा रहा था, वह प्रकृति के कोष से अनावश्यक पदार्थ लेकर और उन प्राकृतिक पदार्थों का अपव्यय करके भावी जनता को दरिद्र ही नहीं बना रहा था, प्रत्युत उनकी वृत्ति का उद्गम ही बंद कर देने का प्रयत्न कर रहा था।[3] प्रायः सम्पत्ति-अधिकार और विद्या ने देशों में जाति-वर्ण और ऊँच-नीच की सृष्टि की थी, लोग इसे ईश्वर-कृत विभाग समझने लगे थे और अपनी छूँछी महत्ता पर इतराते हुए दूसरों को नीचा—अपने से छोटा समझने लगे थे, जिससे विषमता का विषमय प्रभाव समस्त राष्ट्रों में फैलने लगा था।[4] इस तरह इस विषमता के भयंकर विष के फैल जाने से सब लोग जीवन में अभाव ही अभाव देखते थे। प्रेम का अभाव, स्नेह का अभाव, धन का अभाव तथा शरीर-रक्षा की साधारण आवश्यकताओं का अभाव चारों ओर दिखाई पड़ता था और सब लोग उस दया, सहानुभूति और प्रेम के उद्गम से अपरिचित होते चले जा रहे थे, जिससे पारस्परिक व्यवहार टिकाऊ बनता है।'[5]

अतएव प्रसाद ने विषमता के इस विषैले एवं दूषित प्रभाव को दूर करने के लिए 'समरसता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और बताया कि 'प्रकृति में विषमता तो स्पष्ट है। नियन्त्रण के द्वारा उसमें व्यावहारिक समता का विकास न होगा। भारतीय आत्मवाद की मानसिक समता ही उसे स्थायी बना सकेगी।'[6] इसी आत्मवाद की मानसिक समता को पुनः स्थापित करने के लिए प्रसाद ने प्रत्येक प्राणी को समरसता का अधिकारी बतलाया और कहा कि विषमता के समुद्र में व्यथा की नीलो लहरों के उठने से प्राणियों के सुख की मणियाँ जो इधर-उधर बिखर जाती है,[7] वे सुख-मणियाँ समरसता द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं अर्थात् विषमता कष्टदायिनी है और समरसता सुख एवं कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है। विषमता

---

१. **कामना**, पृष्ठ ६२,६७,७६,९८। २. **कामना**, पृष्ठ ७६।
३. **वही**, पृष्ठ ८३। ४. **कंकाल**, पृष्ठ २८१।
५. **तितली**, पृष्ठ १२९–१३०। ६. **तितली**, पृष्ठ १३०।
७. **कामायनी**, पृष्ठ ५४।

प्राणी को संकुचित एवं लघु बनाती है और समरसता उसे उदार एवं महान् बनाती है। विषमता प्राणी को परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ देती है और समरसता उसे स्वतन्त्र एवं स्वाधीन बनाती है। विषमता के माया-स्तूप से प्रभावित होकर जीव संसार के प्रपंच में भटकता रहता है और बन्धनों में ग्रस्त होकर नाना प्रकार की पीड़ाएँ सहता है, जबकि समरसता को अपनाकर जीव माया-जन्य सम्पूर्ण प्रपंचों, बंधनों एवं मलों से रहित होकर परम सुख एवं मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। विषमता जीवन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया के अन्तर्गत संगति नहीं रहने देती, जिससे उसका जीवन बिडम्बनामय हो जाता है, परन्तु समरसता जीवन में एकता एवं समता उत्पन्न कर देती है, जिससे जीव की इच्छा, ज्ञान और क्रिया में पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाता है और वह अपने अभीष्ट फल को प्राप्त करके जीवन की विडम्बना का शिकार नहीं बनता।[1]

जिस तरह समरसता मानव के वैयक्तिक जीवन में एकरूपता एवं समता स्थापित करती है, उसी तरह सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में भी समरसता के द्वारा पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि नष्ट हो जाते हैं, परिवारों के अन्तर्गत व्याप्त संघर्ष समाप्त हो जाते हैं, परस्पर निश्छल एवं निःस्वार्थ आत्मीयता का व्यवहार होने लगता है, कोई किसी को पराया नहीं समझता, समाज के सभी प्राणी एक कुटुम्बी की तरह रहते हैं, सभी समाज रूपी अंग के अवयव हो जाते हैं, कहीं कोई शापित नहीं रहता, न कोई तापित पापी कहीं दिखाई देता है और सभी व्यक्तियों की जीवन-वसुधा ऐसी समतल बन जाती है कि जो जहाँ है, वह वहीं समरस प्रतीत होता है।[2] इतना ही नहीं, समरसता की भावना के उदय होते ही ऊँच और नीच, छोटा और बड़ा, राजा और प्रजा, शासित और शासक आदि का भेद विलीन हो जाता है और सम्पूर्ण समाज एवं सारा राष्ट्र एकसूत्र में आबद्ध होकर सबको एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा का अनुभव करने लगता है।[3]

जिस प्रकार समरसता के द्वारा वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में आमूलचूल परिवर्तन उपस्थित होता है, उसी प्रकार समरसता विश्व-जीवन में भी अद्भुत परिवर्तन उपस्थित कर देती है। इस समरसता के अपनाते ही विश्व के समस्त मानव संसृति की सेवा में सुख का अनुभव करने लगते हैं, उनके हृदय अत्यधिक विशाल एवं उदार बन जाते हैं, वे सर्वत्र अपनी एक चेतनता का प्रसार देखते हुए विश्वबन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत हो जाते हैं[4], अपार नील-गगन से सुसज्जित उदार विश्व उनका गृह बन जाता है, जिसका द्वार सबके लिए सदैव उन्मुक्त रहता है, उन्हें सारा संसार प्रभात में उषा की लालिमा के रूप में लाल आँखें किए

१. **कामायनी**, पृष्ठ २७२। २. **कामायनी**, पृष्ठ २८७-८८।
३. **वही**, पृष्ठ २८९। ४. **कामना**, पृष्ठ ९८।

हुए जागता तथा रात को तम की चादर ओढ़कर नींद-जाल में सोता हुआ प्रतीत होता है, मृत्यु-जीवन तथा अवनति-उन्नति में ढल कर यह सारा विश्व इन्द्रधनुष की तरह रंग बदलता हुआ भी अपनी सुषमा से मनोरम जान पड़ता है, उडुगन फूलों की भाँति खिलते हुए और चन्द्रमा सरोवर में तैरते हुए हंस जैसा प्रतीत होता है, उन्हें जगत् के प्रत्येक स्तर में मौन शान्ति तथा अगाध शीतलता दृष्टिगोचर होती है, जगत् के त्रिविध ताप भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होते है, यह परिवर्तनमय जगत् चिर मंगलमय दिखाई देता है, उन्हें यहाँ सभी भाव मुस्कराते जान पड़ते हैं, कोलाहल भी हँसता-सा प्रतीत होता है और जगत् का सारा अन्तस्तल गहन उल्लास से परिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। इस तरह समरसता को अपनाते ही सारा विश्व सुखद शान्ति से युक्त एक नीड़ की तरह प्रतीत होने लगता है।[1]

अतः प्रसाद ने समरसता के समुन्नत विचार का प्रतिपादन करके मानवों में व्याप्त विषमता के गहन विष को ही दूर नहीं किया है, अपितु उनके हृदयों में एकता, समता, विश्वबन्धुत्व, मानवता-प्रेम आदि के दिव्य आलोक को भी जाग्रत करने का प्रयास किया है। प्रसाद ने तो स्पष्ट लिखा है कि 'आत्म-प्रतारको ! उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट् विश्व, जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करेगा।'[2] निस्संदेह समरसता के फैलते ही फिर न तो विश्व में पशुता का आतंक रहेगा, न राज्यों की आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि होगी और न कहीं हाहाकार एवं रुदन सुनाई पड़ेगा, अपितु सभी व्यक्ति आत्म-संयम और आत्म-शासन का पाठ ग्रहण करेंगे और विराट् विश्व और विश्वात्मा, ईश्वर और सृष्टि, जीव और जगत् की अभिन्नता का अनुभव करते हुए सब मिलकर एक सुखद क्रीड़ा का अनुभव करेंगे। इसी कारण प्रसाद का यह समरसता सम्बन्धी दार्शनिक विचार आधुनिक मानव के लिए एक वरदान है।

(७) **जीवन का चरम लक्ष्य : आनन्द**—प्रसाद ने देखा कि आज का मानव इसलिए दुःखी एवं संतृप्त नहीं है कि वह साधन-हीन है, उसके पास धन का अभाव है, वह शक्ति-हीन है, उसमें अकर्मण्यता एवं शिथिलता आ गई है, वह अन्धविश्वास एवं रूढ़िवादिता का पुजारी है अथवा वह वैज्ञानिक आविष्कारों एवं कलों के निर्माण द्वारा भी अभीष्ट फल की उपलब्धि में असमर्थ रहा है, अपितु प्रसाद इसका मूल कारण यह मानते थे कि आधुनिक मानव अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होने के परिणामस्वरूप नाना प्रकार के संकटों, आपत्तियों एवं कठिनाइयों का शिकार बना हुआ है। आधुनिक मानव यह भूला हुआ है कि वह क्यों विश्व में आता है, क्यों यहाँ से चला जाता है, उसे जीने का अधिकार क्या है, वह कैसे यहाँ सुख पा सकता है, उससे कौन-सा अज्ञानवश ऐसा कर्म हुआ जिससे वह स्ववश न रहकर परवश हो गया, आरम्भ में उसके अन्दर

१. **कामायनी**, पृष्ठ २३४-३६। २. **कामना**, पृष्ठ ९८।

कोई विकृति न थी, किन्तु फिर कैसे विकार उत्पन्न होने चले गये, क्षणिक सुखों के लोभ में कैसे वह दुःखों के चक्कर में पड़ गया, किस तरह वह तलवार की धार पर रखे हुए सुख को यहाँ पा न सका, उसे दुःख ने भी क्या दुःख दिया और इस झूठे दुःख पर वह क्यों चौंक उठा ?[१]

आज का मानव यह क्यों नहीं जानता कि जिस दुःख को वह अभिशाप समझ रहा है और संसार की समस्त ज्वालाओं का मूल मानता है, वह दुःख तो ईश्वर का रहस्यमय वरदान है ?[२] वह आज दुःख के अज्ञात डर से जटिलताओं का अनुमान करता हुआ अपने जीवन में 'काम' से क्यों झिझकता है और इस तरह अपने भविष्य से अपरिचित होकर उसी 'काम' का क्यों तिरस्कार करता है, जिसकी इच्छा से विश्व की सृष्टि होती है और जो मंगल से मंडित है ? इतना ही नहीं, उसी काम का तिरस्कार करने के कारण आज वह क्यों अपने जीवन को असफल बना रहा है ?[३] आदि-आदि कितनी ही ऐसी बातें हैं, जिनसे अपरिचित एवं अनभिज्ञ होने के कारण आज मानव लक्ष्य-भ्रष्ट होकर नाना प्रकार के दुःखों से दग्ध हो रहा है।

इसी कारण प्रसाद ने सर्वप्रथम सन् १९१४ ई० में 'प्रेम-पथिक' काव्य का निर्माण करते हुए आनन्द की उपलब्धि को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया[४] और बताया कि संसार के सभी प्राणी येन-केन-प्रकारेण उसी आनन्द को प्राप्त करने के लिए सतत परिश्रम करते है, क्योंकि दुःख के भँवर में भी जीव के हृदय में आनन्द की उत्कट अभिलाषा देखी जाती है तथा रात्रि में अन्धकार के अन्तर्गत दीपक का जलाना भी इसी वास्तविकता की ओर उसके झुकाव को बताता है।[५] प्रसाद ने जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द इसलिए घोषित किया कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनन्द है।[६] विश्व की कामना का मूल रहस्य आनन्द है।[७] विश्व के विकास में आनन्द है, क्योंकि आनन्दातिरेक से आत्मा का साकारता ग्रहण करना ही जीवन है।[८] वह विश्व-चेतना ही यहाँ सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होकर लीलामय आनन्द कर रही है।[९] नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, काव्य आदि विविध प्रकार की कलाओं के द्वारा भी हम उसी आनन्द की उपासना करते हैं।[१०] वैदिक काल की आगमों में जो 'काम-

---

१ **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४७-४८ ।
२. **कामायनी**, पृष्ठ ५३ ।
३. **कामायनी**, पृष्ठ ५२-५३ ।
४. **इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना ।
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं,
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं ॥**
—प्रेम-पथिक, पृष्ठ १६-१७ ।
५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२ ।
६. **एक घूँट**, पृष्ठ १७ ।
७. **एक घूँट**, पृष्ठ १७ ।
८. **वही**, पृष्ठ १७,३२ ।
९. **कामायनी**, पृष्ठ ५३ ।
१०. **इरावती**, पृष्ठ २२ ।

हुए जागता तथा रात को तम की चादर ओढ़कर नींद-जाल में सोता हुआ प्रतीत होता है, मृत्यु-जीवन तथा [illegible] में ढल कर यह सारा विश्व इन्द्रधनुष की तरह रंग बदलता हुआ भी अपनी सुषमा से मनोरम जान पड़ता है, उडुगन फूलों की भाँति खिलते हुए और चन्द्रमा सरोवर में तैरते हुए हंस जैसा प्रतीत होता है, उन्हें जगत् के प्रत्येक स्तर में मौन शान्ति तथा अगाध शीतलता दृष्टिगोचर होती है, जगत् के त्रिविध ताप भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होते हैं, यह परिवर्तनमय जगत् चिर मंगलमय दिखाई देता है, उन्हें यहाँ सभी भाव मुस्कराते जान पड़ते हैं, कोलाहल भी हँसता-सा प्रतीत होता है और जगत् का सारा अन्तस्तल गहन उल्लास से परिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। इस तरह समरसता को अपनाते ही सारा विश्व सुखद शान्ति से युक्त एक नीड़ की तरह प्रतीत होने लगता है।[1]

अतः प्रसाद ने समरसता के समुन्नत विचार का प्रतिपादन करके मानवों में व्याप्त विषमता के गहन विष को ही दूर नहीं किया है, अपितु उनके हृदयों में एकता, समता, विश्वबन्धुत्व, मानवता-प्रेम आदि के दिव्य आलोक को भी जाग्रत करने का प्रयास किया है। प्रसाद ने तो स्पष्ट लिखा है कि 'आत्म-प्रतारको ! उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट् विश्व, जाति और देश के वर्णो से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करेगा।'[2] निस्संदेह समरसता के फैलते ही फिर न तो विश्व में पशुता का आतंक रहेगा, न राज्यों की आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि होगी और न कहीं हाहाकार एवं रुदन सुनाई पड़ेगा, अपितु सभी व्यक्ति आत्म-संयम और आत्म-शासन का पाठ ग्रहण करेंगे और विराट् विश्व और विश्वात्मा, ईश्वर और सृष्टि, जीव और जगत् की अभिन्नता का अनुभव करते हुए सब मिलकर एक सुखद क्रीड़ा का अनुभव करेंगे। इसी कारण प्रसाद का यह समरसता सम्बन्धी दार्शनिक विचार आधुनिक मानव के लिए एक वरदान है।

(७) **जीवन का चरम लक्ष्य : आनन्द**—प्रसाद ने देखा कि आज का मानव इसलिए दुःखी एवं संतृप्त नही है कि वह साधन-हीन है, उसके पास धन का अभाव है, वह शक्ति-हीन है, उसमें अकर्मण्यता एवं शिथिलता आ गई है, वह अन्धविश्वास एवं रूढ़िवादिता का पुजारी है अथवा वह वैज्ञानिक आविष्कारों एवं कलों के निर्माण द्वारा भी अभीष्ट फल की उपलब्धि में असमर्थ रहा है, अपितु प्रसाद इसका मूल कारण यह मानते थे कि आधुनिक मानव अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होने के परिणामस्वरूप नाना प्रकार के संकटों, आपत्तियों एवं कठिनाइयों का शिकार बना हुआ है। आधुनिक मानव यह भूला हुआ है कि वह क्यों विश्व में आता है, क्यों यहाँ से चला जाता है, उसे जीने का अधिकार क्या है, वह कैसे यहाँ सुख पा सकता है, उससे कौन-सा अज्ञानवश ऐसा कर्म हुआ जिससे वह स्ववश न रहकर परवश हो गया, आरम्भ में उसके अन्दर

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ २३४-३६। २. **कामना**, पृष्ठ ६८।

कोई विकृति न थी, किन्तु फिर कैसे विकार उत्पन्न होने चले गये, क्षणिक सुखों के लोभ में कैसे वह दुःखों के चक्कर में पड़ गया, किस तरह वह तलवार की धार पर रखे हुए सुख को यहाँ पा न सका, उसे दुःख ने भी क्या दुःख दिया और इस झूठे दुःख पर वह क्यों चौंक उठा ?[1]

आज का मानव यह क्यों नहीं जानता कि जिस दुःख को वह अभिशाप समझ रहा है और संसार की समस्त ज्वालाओं का मूल मानता है, वह दुःख तो ईश्वर का रहस्यमय वरदान है ?[2] वह आज दुःख के अज्ञात डर से जटिलताओं का अनुमान करता हुआ अपने जीवन में 'काम' से क्यों झिझकता है और इस तरह अपने भविष्य से अपरिचित होकर उसी 'काम' का क्यों तिरस्कार करता है, जिसकी इच्छा से विश्व की सृष्टि होती है और जो मंगल से मंडित है ? इतना ही नहीं, उसी काम का तिरस्कार करने के कारण आज वह क्यों अपने जीवन को असफल बना रहा है ?[3] आदि-आदि कितनी ही ऐसी बातें हैं, जिनसे अपरिचित एवं अनभिज्ञ होने के कारण आज मानव लक्ष्य-भ्रष्ट होकर नाना प्रकार के दुःखों से दग्ध हो रहा है।

इसी कारण प्रसाद ने सर्वप्रथम सन् १९१४ ई० में 'प्रेम-पथिक' काव्य का निर्माण करते हुए आनन्द की उपलब्धि को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया[4] और बताया कि संसार के सभी प्राणी येन-केन-प्रकारेण उसी आनन्द को प्राप्त करने के लिए सतत परिश्रम करते है, क्योंकि दुःख के भँवर में भी जीव के हृदय में आनन्द की उत्कट अभिलाषा देखी जाती है तथा रात्रि में अन्धकार के अन्तर्गत दीपक का जलाना भी इसी वास्तविकता की ओर उसके झुकाव को बताता है।[5] प्रसाद ने जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द इसलिए घोषित किया कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनन्द है।[6] विश्व की कामना का मूल रहस्य आनन्द है।[7] विश्व के विकास में आनन्द है, क्योंकि आनन्दातिरेक से आत्मा का साकारता ग्रहण करना ही जीवन है।[8] वह विश्व-चेतना ही यहाँ सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होकर लीलामय आनन्द कर रही है।[9] नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, काव्य आदि विविध प्रकार की कलाओं के द्वारा भी हम उसी आनन्द की उपासना करते हैं।[10] वैदिक काल की आगमों में जो 'काम-

---

१ **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ ४७-४८। २. **कामायनी**, पृष्ठ ५३।

३. **कामायनी**, पृष्ठ ५२-५३।

४. **इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।**
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं,
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं॥
—प्रेम-पथिक, पृष्ठ १६-१७।

५. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृष्ठ १२। ६. **एक घूँट**, पृष्ठ १७।

७. **एक घूँट**, पृष्ठ १७। ८. **वही**, पृष्ठ १७,३२।

९. **कामायनी**, पृष्ठ ५३। १०. **इरावती**, पृष्ठ २२।

कला' के रूप में उपासना मिलती है, वह भी सौन्दर्य एवं आनन्द की साधना-प्रणाली है, क्योंकि वेदों में जिस 'काम' का वर्णन मिलता है, वह प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है और आधुनिक 'प्रेम' से कहीं अधिक व्यापक है।[१] उपनिषदों में भी आनन्द की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना मिलती है, इससे सिद्ध है कि प्रेम और प्रमोद भी आनन्द के ही अंग हैं।[२] इतना ही नहीं, आगमानुयायी भक्तों एवं सिद्धों से सहमत होकर प्रसाद ने यहाँ तक स्वीकार किया है कि संसार की प्रत्येक भावना में, प्रत्येक अवस्था में वह आत्मानन्द प्रतिष्ठित है, अद्वैत साधना के अनुसार सब विषयों में—इन्द्रियों के अर्थों में निरूपण करने पर कहीं भी अशिव, अमंगल, निरानन्द नहीं और जिस मन को बुद्धिवादी 'मनो दुर्निग्रहं चलम्' समझकर ब्रह्म-पथ में विमूढ़ हो जाते हैं, उस मन के लिए भी आनन्द के सिवाय अन्यत्र कोई स्थान नहीं, क्योंकि बाहर-भीतर आनन्दघन शिव के अतिरिक्त दूसरा स्थान ही कौन है, जहाँ यह मन चलकर जायेगा।[3] इसी कारण प्रसाद ने उपनिषदों एवं आगमों से सहमत होकर आनन्द को ही ब्रह्म कहा और उसी आनन्द से समस्त जीवों का उत्पन्न होना, उसी आनन्द में उत्पन्न होकर जीवित रहना तथा अन्त में उसी आनन्द के अन्तर्गत सबका लय हो जाना सिद्ध किया।[४] इतना ही नहीं, प्रसाद ने यह भी स्वीकार किया कि जिस तरह वासनात्मकतया स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित हो जाने पर आनन्द-स्वरूप हो जाती है और उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य हो जाता है, उसी तरह जीव की चित्तवृत्तियाँ भी जैसे ही आत्मानन्द में तल्लीन हो जाती हैं वैसे ही वह समाधि-सुख को अथवा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और अखण्ड आत्मानन्द-स्वरूप हो जाता है।[५]

अब प्रश्न यह है कि यह आनन्द कैसे प्राप्त हो? इसके लिए प्रसाद ने इस जगत् से पराङ्मुख होकर वैराग्य धारण करने की सलाह नहीं दी है। प्रसाद तो जगत् को ब्रह्म का ही विराट् रूप मानते हैं। अतः जगत् से विमुख या पराङ्मुख होना ब्रह्म से ही पराङ्मुख होना है। इसलिए प्रसाद ने इस जगत् में रहते हुए ही इसमें पूर्ण आस्था एवं विश्वास प्रकट करते हुए जगत् के प्रत्येक पदार्थ से समरस हो जाने की सलाह दी है[६], प्रत्येक प्राणी को सुखी बनाकर अपने सुख को विस्तृत करने का उपदेश दिया है[७], इस संसार को यज्ञ-पुरुष का रचनामूलक यज्ञ कहकर संसृति की सेवा करने का आग्रह किया है[८], एकान्त स्वार्थ को भीषण एवं विनाशकारी कहकर

---

१. **का० नि०**, पृष्ठ ४७। २. **का० नि०**, पृष्ठ ५२।
३. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ५८-५९।
४. **वही**, पृष्ठ ५५।
५. **वही**, पृष्ठ ७६-७७। ६. **कामायनी**, पृष्ठ १९२-९३।
७. **कामायनी**, पृष्ठ १३२। ८. **वही**, पृष्ठ १३२।

परोपकार एवं लोक-हित में लगे रहने पर बल दिया है[1], सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त चेतना का अनुभव करते हुए सम्पूर्ण अणु-अणु एवं कण-कण को अपना ही मानने का अनुरोध किया है[2] तथा द्वयता एवं भेद-भाव को छोड़कर पूर्ण अभेद की भावना को अपनाने का प्रचार किया है।[3] प्रसाद ने अपने इन विचारों का सम्यक् विवेचन 'कामायनी' में किया है और यह ठीक भी है कि सन् १९१४ में 'प्रेम-पथिक' काव्य के अन्तर्गत जीवन के जिस लक्ष्य की ओर प्रसाद ने संकेत किया था, उसे सन् १९३७ में 'कामायनी' लिखकर प्राप्त भी कर लिया था, क्योंकि २३ वर्ष की सतत साधना के उपरान्त प्रसाद उस आनन्द-भूमि तक पहुच गये थे, जिसका उल्लेख उन्होंने पहले किया था। वैसे भी 'कामायनी' का आरम्भिक 'चिन्ता' सर्ग प्रसाद की उस चिन्ता का द्योतक है कि कैसे जीव अपने लक्ष्य को प्राप्त करे और 'कामायनी' का अन्तिम 'आनन्द' सर्ग इस बात का द्योतक है कि प्रसाद सतत साधना द्वारा आनन्द के लक्ष्य तक पहुँच गये हैं। प्रसाद ने आनन्द को साध्य मानकर ही अपने 'कामायनी' महाकाव्य की रचना की है और उसमें श्रद्धा या हृदय की विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति को 'आनन्द' की ओर ले जाने वाली तथा इड़ा अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि को दुःख की ओर उन्मुख करने वाली सिद्ध किया है। प्रसाद ने लिखा भी है कि 'यह इड़ा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में दुःख मिलना स्वाभाविक है।'[4] परन्तु प्रसाद ने अन्त में जाकर श्रद्धा और इड़ा दोनों का समन्वय कर दिया है और दोनों के समन्वय से ही अखण्ड आनन्द की उपलब्धि घोषित की है। अकेली श्रद्धा अथवा हृदय की रागात्मिका वृत्ति से ही आनन्द प्राप्त नहीं होता, अपितु इड़ा अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि का भी योग अनिवार्य है, क्योंकि अकेली श्रद्धा अथवा हृदय की रागात्मिका वृत्ति जीव को अधिक सौन्दर्य-प्रेमी बनाकर काम के वासनात्मक रूप की उपासना में लीन कर देती है, जिससे वह जगत् के बाह्य सौन्दर्य में उलझ कर आन्तरिक सौन्दर्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता, किन्तु जब यह सौन्दर्य-प्रेमी जीव इड़ा अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि के क्षेत्र में आकर अपने वास्तविक रूप को पहँचानता है, जगत् की ठोकरें खाकर जब उसे अपने सत्य-रूप का साक्षात्कार होता है, तब वह पुनः आत्मानन्द अथवा महाचिति की ओर उन्मुख होता है।'[5]

इसी कारण प्रसाद ने यह घोषणा की है कि जब तक जीव श्रद्धा-रहित बुद्धि के वशीभूत रहेगा, तब तक वह सारस्वत प्रदेश में अनर्थ करने वाले मनु की भाँति नाना प्रकार की अतृप्तियों का शिकार बनकर विविध कष्ट उठाता रहेगा, परन्तु जैसे ही वह श्रद्धा-समन्वित बुद्धि का सहारा लेकर सम्पूर्ण विश्व को एक चेतनता का

---

१. **कामायनी**, पृष्ठ १३२-३३।
२. **कामायनी**, पृष्ठ २८९।
३. **वही**, पृष्ठ २८८।
४. **वही, आमुख**, पृष्ठ ७।
५. **वही**, पृष्ठ २७३।

शरीर समझेगा, सम्पूर्ण प्राणियों में अपनी ही चेतना का विकास देखेगा, सारे भेद-भाव को भूलकर अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कर लेगा और जड़ अथवा चेतन सभी पदार्थों को समरस एवं एक शुद्ध चेतन का स्वरूप समझेगा, वैसे ही वह अन्तः-करण में चलने वाले काम और जीवन के संघर्ष में जीवन को विजयी बनाकर सर्वत्र अपनी आत्मा के आलोक को देखेगा, उसे विश्व का उज्ज्वल पक्ष अंधकार की भूमिका पर नृत्य करता हुआ दिखाई देगा, त्याग और ग्रहण अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाकर अलग-अलग लड़ते हुए नहीं, अपितु मिले हुए दिखाई देंगे; कहीं भी उसे अशिव एवं अमंगल नहीं, अपितु सर्वत्र शिव एवं आनन्द के दर्शन होंगे, सबको आलिंगित करके उसकी आत्मा का आनन्द अत्यन्त स्वस्थ, शुद्ध एवं स्ववश प्रतीत होगा और वह अखण्ड आनन्द में निमग्न होकर अपने इसी जीवन में मुक्तावस्था को अथवा 'जीवन्मुक्ति' को प्राप्त कर लेगा। इस तरह प्रसाद ने अखण्ड आनन्द की उपलब्धि को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया और उसके लिए उचित साधनों का भी निरूपण किया। इसी कारण जीवन के चरम लक्ष्य—आनन्द—से सम्बन्धित प्रसाद की यह दार्शनिक देन भी अत्यधिक महिमा एवं गरिमा से मण्डित है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसाद ने 'आनन्दवाद' के रूप में हमें एक ऐसी दार्शनिक विचारधारा प्रदान की है, जो उपनिषदो के ब्रह्मवाद, वेदान्त के अद्वैतवाद एवं शैव दर्शन के ईश्वराद्वयवाद से प्रभावित होकर भी स्वतन्त्र एवं मौलिक विचारों से ओतप्रोत है, भारतीय दर्शन की प्राचीन परम्परा में पल्लवित एवं विकसित होकर भी नवीन है, युगानुकूल है तथा व्यावहारिक है और दर्शन के गहन बौद्धिक चिंतन से परिपूर्ण होकर भी अत्यन्त मधुर, सरस एवं सहज ग्राह्य है। प्रसाद का यह 'आनन्द-वाद' जीवन-दर्शन की सुगम एवं सुबोध साहित्यिक अभिव्यक्ति है। प्रसाद ने अपने इस जीवन-दर्शन द्वारा जीवन एवं जगत् की सत्यता, सुन्दरता एवं शिवता घोषित करते हुए सर्वत्र एक चेतनता को विलास करती हुई देखने की दृष्टि प्रदान की है। इस दृष्टि के प्राप्त होते ही मानव के हृदय में असीम करुणा, अनन्त दया, अतुलित उदारता एवं अनुपम लोक-मंगल की भावना के साथ-साथ विश्व-मैत्री, विश्वबन्धुत्व, मानवता-प्रेम आदि से परिपूर्ण ऐसे उदात्त विचार उत्पन्न हो सकते है, जिनके फलस्वरूप वह व्यष्टि और समष्टि, शासक और शासित, अधिकृत और अधिकारी, ईश्वर और सृष्टि आदि में समरसता स्थापित करता हुआ अपने लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को सुधार सकता है, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में व्याप्त विषमता के विषमय प्रभाव को दूर कर सकता है और सम्पूर्ण विश्व एवं विश्वात्मा में अभिन्नत्व एवं अभेद स्थापित करता हुआ सबको एक में मिलाकर खेलने की मधुर मिलन-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त कर सकता है।

अतः प्रसाद का यह दार्शनिक चिन्तन मानवों को अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए सतत प्रेरणा प्रदान करता है, उनके हृदयों से अतृप्ति, असंतोष एवं अशान्ति को दूर करके उनके स्थान पर चिर तृप्ति, पूर्ण संतोष एवं अखण्ड शान्ति

प्रदान करता है, उनके मन में व्याप्त निराशा, अनिश्चितता एवं असफलता की दूषित मनोवृत्तियों का निराकरण करके उनके स्थान पर आशा, निश्चय एवं सफलता का संचार करता है, उनके जीवन में व्याप्त विषमता के विष का शोधन करके उनके स्थान पर समरसता का सुधा-स्रोत बहाता है, उनके अन्तःकरण में छिपी हुई आलस्य एवं अकर्मण्यता की दुर्बल भावनाओं को निकालकर उनके स्थान पर जागृति एवं कर्मण्यता की गरिमा-मण्डित भावनाओं को कूट-कूट कर भर देता है और उनके चिर दग्ध-दुःखी जीवन में व्याप्त दुःख, शोक एवं संतापों के संवेदनों का अपहरण करके उनके जीवन को समरस बनाता हुआ उन्हें अखण्ड आनन्दानुभूति प्रदान करता है। इस प्रकार प्रसाद का 'आनन्दवाद' जगती में व्याप्त विषमता के अपावन कलुष को मिटाकर समरसता के पुण्य-आलोक का प्रदाता है और इस समरसता के द्वारा विराट् विश्व और विश्वात्मा का अभेद घोषित करता हुआ विधाता की कल्याणी सृष्टि के लिए अखण्ड आनन्द की उपलब्धि का सहज एवं महत्वपूर्ण साधन है। निस्सन्देह प्रसाद ने अपने साहित्य में दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण करके 'आनन्दवाद' के रूप में विश्व को सर्वमंगलकारी दार्शनिक चिन्तन प्रदान किया है।

परिशिष्ट

- प्रसाद का काव्य-दर्शन
- प्रसाद की दार्शनिक शब्दावली
- उपजीव्य एवं उपस्कारक ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ

परिशिष्ट—१

प्रसाद का काव्य-दर्शन

काव्य-लक्षण

प्रसाद एक दार्शनिक कवि हैं। उनका सम्पूर्ण साहित्य उनके गहन चिन्तन एवं मार्मिक अनुभूतियों का भंडार है। प्रसाद ने आनन्दवादी दार्शनिक विचारधारा के आधार पर केवल जीवन और जगत् सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन नहीं किया है, अपितु उन्होंने काव्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन भी बड़ी सूक्ष्म दृष्टि एवं गम्भीर अन्वेषण के उपरान्त इसी आनन्दवादी विचारधारा के आधार पर किया है। प्रसाद ने काव्य को स्वतः आध्यात्मिक माना है। वे काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु स्वीकार नहीं करते। प्रायः साहित्य-शास्त्र में काव्यानंद को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है और 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू' कहकर कवि और मनीषी की समानता का प्रतिपादन किया है, फिर भी आध्यात्मिक क्षेत्र में उक्त कथन को अर्थवाद के रूप में ही स्वीकार किया गया है, इसे सिद्धान्त के रूप में नहीं माना गया है। परन्तु प्रसाद उक्त कथन को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते हैं और बताते हैं कि पश्चिमी विचार-प्रणाली के अनुसार जहाँ मूर्त और अमूर्त का भेद प्रचलित है, काव्य को मूर्त होने के कारण आध्यात्मिक सीमा से, जिसमें अमूर्त के लिए ही स्थान है, अलग करने का प्रयत्न भले ही किया गया हो, किन्तु भारतीय विचारधारा में जिस तरह ब्रह्म को मूर्त एवं अमूर्त दोनों प्रकार से स्वीकार किया गया है, उसी तरह काव्य भी मूर्त और अमूर्त दोनो रूपों में रहने के कारण किसी प्रकार भी अध्यात्म से निम्न कोटि का नहीं है।[1]

विद्वानों ने विविध प्रकार से काव्य की व्याख्या की है। इसीलिए प्रायः जितने विद्वान् हैं उतने ही काव्य-लक्षण प्रचलित है। प्रसाद ने भी काव्य का लक्षण बताते हुए लिखा है कि 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिनका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा

१. **प्राक्कथन—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ५।

है।[1] प्रसाद की यह परिभाषा काव्य के आध्यात्मिक रूप का पूर्णतया प्रतिपादन करती है, जिस तरह ब्रह्म हमारे लिए श्रेय एवं प्रेय है, वैसे ही काव्य भी है। काव्य की श्रेयता एवं प्रेयता का स्पष्टीकरण करते हुए प्रसाद ने आगे लिखा है कि 'विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।'[2] प्रसाद की इस परिभाषा में कई ऐसे शब्द आये हैं, जिनको भली प्रकार समझे बिना काव्य का यथार्थ स्वरूप सामने नहीं आता। इसलिए प्रसाद ने स्वयं ही कुछ शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की है। जैसे, उक्त काव्य-लक्षण में सर्वप्रथम 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' पद आया है। इसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए प्रसाद ने लिखा है कि 'संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।[3] परन्तु संकल्पात्मक अनुभूति की इस तरह व्याख्या कर देने पर भी शंकाओं का पूर्ण समाधान नहीं होता। इस परिभाषा को पढ़ते ही कई शंकाएँ अनायास उठती हैं। एक शंका तो स्वयं प्रसाद ने ही उठाई है और लिखा है कि 'कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है?'[4] इस शंका का समाधान करते हुए प्रसाद ने स्वयं उत्तर दिया है—'इसीलिए साथ ही साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है; क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्जस्वित बनाती है।'[5]

इसके अनन्तर उस संकल्पात्मक अनुभूति का सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प अथवा विज्ञान से क्यों नहीं है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रसाद ने काव्य और विज्ञान अथवा शास्त्र के अन्तर को भी समझाया है और लिखा है कि 'मन संकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है, वही शास्त्रीय

---

१. **काव्य और कला (निबन्ध)—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,** पृष्ठ ३८।
२. **वही** पृष्ठ ३८।
३. **वही** पृष्ठ ३८।
४. **वही** पृष्ठ ३८।
५. **वही** पृष्ठ ३८।

व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की—प्रेय की—कमी हो जाती है। शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान को इसीलिए विज्ञान मान सकते है कि उसके मूल में परीक्षात्मक तर्कों की प्रेरणा है और 'उनका कोटि-क्रम स्पष्ट रहता है।'[१] इस तरह काव्य में जहाँ प्रेय एवं चारुत्व का प्राधान्य रहता है, वहाँ शास्त्र में इनका पूर्णतया अभाव रहता है और इस अभाव के रहने का मूल कारण तर्क-वितर्क-पूर्ण विश्लेषण अथवा विकल्प ही है, जो शास्त्र को श्रेयपूर्ण तो बनाता है, किन्तु उसे श्रेयमयी प्रेय रचना नहीं रहने देता। यह तो काव्य ही है, जिसमें प्रेय के साथ-साथ श्रेय सदैव विद्यमान रहता है अर्थात् जो मनोरंजन के साथ-साथ लोक-हित का भी साधक है।

अब प्रसाद द्वारा वर्णित 'असाधारण अवस्था' का प्रश्न और रह जाता है। प्रसाद ने अपने 'रहस्यवाद' लेख में इस असाधारण अवस्था का ऐतिहासिक अनुशीलन प्रस्तुत किया है और बताया है कि यह असाधारण अवस्था और कुछ नहीं, 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' का ही नाम है, जिसे 'काव्यावस्था' भी कह सकते हैं। यह आत्मा की विशुद्ध अद्वय-स्वरूप आनन्दमयी अवस्था है, जिसमें सम्पूर्ण जीवन एवं जगत् सन्निहित है। इस आनन्दमयी अवस्था का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करते हुए प्रसाद ने आरम्भिक-वैदिक युग से लेकर छायावादी युग तक का साहित्यिक विकास दिखाने का प्रयत्न किया है और समझाया है कि वैदिक काल में इन्द्र आत्मवाद और आनन्द के प्रचारक थे।[२] यहाँ कर्मकांड और बड़े-बड़े यज्ञों में भी यही उल्लासपूर्ण आनन्द का दृश्य विद्यमान रहता था। यही आनन्दवादी धारा उपनिषदों से होती हुई शैव तथा शाक्त आगमों में भी प्रवाहित हुई।[३] इसीलिए जिस तरह उपनिषदों में आनन्द से ही सम्पूर्ण विश्व का उद्‌गम एवं विकास माना गया था उसी तरह आगमों के अनुयायी भी आनन्दोच्छलित शक्ति से सम्पूर्ण विश्व का उद्‌गम एवं विकास मानने लगे और उन्होंने भक्ति के अन्तर्गत आनन्द-रस की साधना का भी प्रचार किया।[४] काव्य की यही आनन्दमयी धारा आगे चलकर बौद्धों के योगाचार तथा अन्य गुप्त साधनाओं वाले सम्प्रदायों में भी प्रचलित हुई और वे भी अनेक देवी-देवताओं को मानकर इस अवस्था को प्राप्त करने का प्रचार करने लगे।[५] सिद्धों एवं शैव भक्तों के द्वारा प्रचारित यही आनन्द-रस वाली धारा हिन्दी के निर्गुण एवं सगुण भक्तों की रचनाओं में आकर पुनः प्रवाहित होने लगी और इसी धारा का प्रवाह मीरा, रसखान, घनानन्द आदि की कविताओं में दृष्टिगोचर हुआ।[६] तदनंतर

---

१. **काव्य और कला (निबन्ध)—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,** पृष्ठ ३८।
२. **रहस्यवाद (निबन्ध)—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,** पृष्ठ ५०।
३. **वही,** पृष्ठ ५५। ४. **वही,** पृष्ठ ५५-५६।
५. **वही,** पृष्ठ ६२।
६. **वही,** पृष्ठ ६६-६७।

इसी आनन्दमयी काव्य-धारा का स्वरूप सिद्धों की रहस्य-सम्प्रदाय वाली परम्परा में विकसित तुकनगिरि, रसालगिरि आदि की लावनियों में दिखाई देना है और यही धारा पुनः हिन्दी के छायावादी कवियों की रचनाओं में आकर फूट निकली है।[1] आनन्द एवं अभेद की इस काव्य-धारा में अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न हुआ है।[2] इसी कारण यह एक ऐसी काव्यावस्था है, जिसमें अभिन्नत्व, अभेद एवं अद्वैत के आधार पर आत्मा की सहज आनन्दावस्था का निरूपण किया जाता है और इसीलिए इसे 'असाधारण अवस्था' के नाम से अभिहित किया गया है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ प्रसाद ने अपने आनन्दवादी दृष्टिकोण के आधार पर जीवन एवं जगत् पर विचार किया है, वहाँ जीवन एवं जगत् से अत्यधिक सम्बन्ध रखने वाले काव्य पर भी इसी आधार पर विचार किया है और प्रसाद का यह काव्य-लक्षण इसीलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें प्रसाद का गहन आनन्दवादी चिन्तन सन्निहित है।

काव्य और कला

पाश्चात्य आलोचकों ने काव्य को भी कला माना है और ललित-कलाओं का वर्गीकरण करते हुए काव्य को सर्वोत्कृष्ट ललित-कला घोषित किया है। प्रसाद काव्य को कला नहीं मानते। प्रसाद का मत है कि काव्य एक आध्यात्मिक या मौलिक सत्ता है, क्योंकि वह आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है[3], जबकि कला आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करने वाली है और इसी कारण कला को शैवागमों में संकुचित कर्तृत्व शक्ति माना गया है।[4] इस तरह आत्मा के व्यापक एवं विस्तृत स्वरूप की अभिव्यक्ति काव्य द्वारा होती है और आत्मा के संकुचित एवं परिमित स्वरूप की अभिव्यक्ति कला द्वारा होती है। इसी कारण काव्य विद्या है और कला उपविद्या है।[5] काव्य श्रेयमयी प्रेय-रचनात्मक ज्ञान-धारा है, जबकि कला केवल प्रेय-रचनात्मक है।[6] काव्य आत्मा का स्वतन्त्र व्यापार है और कला एक शास्त्रीय व्यापार है, क्योंकि प्रसाद ने स्पष्ट भी किया है कि 'कला को भारतीय दृष्टि से उपविद्या मानने का जो प्रसंग आता है, उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान (शास्त्र) से अधिक सम्बन्ध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धान्त तक पहुँचा देती हैं। सम्भवतः इसीलिए काव्य-समस्या-पूरण इत्यादि को भी छन्द-शास्त्र और पिंगल के नियमों के द्वारा बनने के कारण उपविद्या—कला के अन्तर्गत माना गया है। छन्द-शास्त्र काव्योपजीवी कला का शास्त्र है। इसलिए यह भी विज्ञान का अथवा शास्त्र का विषय है। वास्तु-निर्माण, मूर्ति और चित्र शास्त्रीय दृष्टि से शिल्प कहे जाते हैं और इन सबकी विशेषता भिन्न-भिन्न होने पर भी, ये सब एक ही वर्ग की वस्तुएँ हैं।'[7] इतना ही

---

१. **रहस्यवाद (निबन्ध)—काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ६८।
२. **वही**, पृष्ठ ६९।
३. **का० नि०**, पृष्ठ ४२।
४. **का० नि०**, पृष्ठ ४२-४३।
५. **वही**, पृष्ठ ३९।
६. **वही**, पृष्ठ ३८-३९।
७. **वही**, पृष्ठ ३९।

नहीं, प्रसाद ने दण्डी, भामह, अभिनवगुप्त आदि के साहित्य-शास्त्रों से उद्धरण देकर अपने 'काव्य और कला' निबन्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय दृष्टि से कला और काव्य दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, कला-सम्बन्धी विषयों को लेकर काव्य का विस्तार होता है और काव्य का एक विषय होने के कारण कला उसका अंग अवश्य है, अंगी नहीं।[1] हेगेल ने ललित-कलाओं के अन्तर्गत काव्य की गणना करके काव्य को कला का जो अंग मान रखा है, यह विचार भारतीय दृष्टि से सर्वथा अमान्य है और इसीलिए प्रसाद ने कला को काव्य से पृथक् मानते हुए केवल इतना ही स्वीकार किया है कि काव्य तो आत्मानुभूति है और उस आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को अथवा अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने वाले अलंकार, वक्रोति, रीति, कथानक आदि को कला माना जा सकता है।[2] इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य की स्वतन्त्र, मौलिक एवं आध्यात्मिक सत्ता है, जबकि कला परतन्त्र एवं परिमित है और उस आध्यात्मिक सत्ता की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है, किन्तु जब दोनों का संयोग होता है तब वही आत्मानुभूति कला के कौशल अथवा विशिष्ट पद-रचना-युक्त काव्य शरीर में सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त होती है।

काव्य-शरीर

भारतीय साहित्याचार्यों ने काव्य के विवेचन को सरल, सरस एवं सुबोध बनाने के लिए काव्य की एक पुरुष के रूप में कल्पना की है और उसके शरीर एवं आत्मा पर सम्यक् विचार प्रकट किए हैं।[3] प्रायः भामह, कुन्तक, मम्मट आदि विद्वानों ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर घोषित किया है, किन्तु विश्वनाथ ने केवल शब्द को ही काव्य-शरीर माना है।[4] प्रसाद ने भी काव्य के शरीर की ओर संकेत किया है।[5] प्रसाद की दृष्टि में काव्य एक वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है।[6] यह वाणी का वह विकास है जो वर्णों के द्वारा पूर्ण होता है।[7] प्रसाद ने आगम-शास्त्रों के आधार पर वाणी के चार रूप स्वीकार किये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी। इनमें से परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहा-निहित हैं। बैखरी वाणी मनुष्य बोलते हैं। शास्त्रों में परावाणी को नाद-रूपा शुद्ध अहं-परामर्श-मयी शक्ति माना है। पश्यन्ती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य-प्रधान, द्रष्टा रूप वाली है। मध्यमा वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धि-प्रधान दर्शन-स्वरूपा द्रष्टा और दृश्य के अन्तराल में रहती है। बैखरी स्थानुकरण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करने वाली दृश्य-

---

१. **का० नि**, पृष्ठ ४०।
२. **का० नि०**, पृष्ठ ६४।
३. **काव्य-मीमांसा**, पृष्ठ १।
४. **साहित्य-दर्पण** १।३
५. **का० नि०**, पृष्ठ ४५।
६. **स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य**, पृष्ठ २१।
७. **काव्य और कला (निबन्ध)—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ४१।

इसी आनन्दमयी काव्य-धारा का स्वरूप सिद्धों की रहस्य-सम्प्रदाय वाली परम्परा में विकसित तुकनगिरि, रसालगिरि आदि की लावनियों में दिखाई देता है और यही धारा पुनः हिन्दी के छायावादी कवियों की रचनाओं में आकर फूट निकली है।[1] आनन्द एवं अभेद की इस काव्य-धारा में अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न हुआ है।[2] इसी कारण यह एक ऐसी काव्यावस्था है, जिसमें अभिन्नत्व, अभेद एवं अद्वैत के आधार पर आत्मा की सहज आनन्दावस्था का निरूपण किया जाता है और इसीलिए इसे 'असाधारण अवस्था' के नाम से अभिहित किया गया है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ प्रसाद ने अपने आनन्दवादी दृष्टिकोण के आधार पर जीवन एवं जगत् पर विचार किया है, वहाँ जीवन एवं जगत् से अत्यधिक सम्बन्ध रखने वाले काव्य पर भी इसी आधार पर विचार किया है और प्रसाद का यह काव्य-लक्षण इसीलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें प्रसाद का गहन आनन्दवादी चिन्तन सन्निहित है।

काव्य और कला

पाश्चात्य आलोचकों ने काव्य को भी कला माना है और ललित-कलाओं का वर्गीकरण करते हुए काव्य को सर्वोत्कृष्ट ललित-कला घोषित किया है। प्रसाद काव्य को कला नहीं मानते। प्रसाद का मत है कि काव्य एक आध्यात्मिक या मौलिक सत्ता है, क्योंकि वह आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है[3], जबकि कला आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करने वाली है और इसी कारण कला को शैवागमों में संकुचित कर्तृत्व शक्ति माना गया है।[4] इस तरह आत्मा के व्यापक एवं विस्तृत स्वरूप की अभिव्यक्ति काव्य द्वारा होती है और आत्मा के संकुचित एवं परिमित स्वरूप की अभिव्यक्ति कला द्वारा होती है। इसी कारण काव्य विद्या है और कला उपविद्या है।[5] काव्य श्रेयमयी प्रेय-रचनात्मक ज्ञान-धारा है, जबकि कला केवल प्रेय-रचनात्मक है।[6] काव्य आत्मा का स्वतन्त्र व्यापार है और कला एक शास्त्रीय व्यापार है, क्योंकि प्रसाद ने स्पष्ट भी किया है कि 'कला को भारतीय दृष्टि से उपविद्या मानने का जो प्रसंग आता है, उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान (शास्त्र) से अधिक सम्बन्ध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धान्त तक पहुँचा देती हैं। सम्भवतः इसीलिए काव्य-समस्या-पूरण इत्यादि को भी छन्द-शास्त्र और पिंगल के नियमों के द्वारा बनने के कारण उपविद्या—कला के अन्तर्गत माना गया है। छन्द-शास्त्र काव्योपजीवी कला का शास्त्र है। इसलिए यह भी विज्ञान का अथवा शास्त्र का विषय है। वास्तु-निर्माण, मूर्ति और चित्र शास्त्रीय दृष्टि से शिल्प कहे जाते हैं और इन सबकी विशेषता भिन्न-भिन्न होने पर भी, ये सब एक ही वर्ग की वस्तुएँ हैं।'[7] इतना ही

---

१. **रहस्यवाद (निबन्ध)—काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ६८।
२. **वही**, पृष्ठ ६९।
३. **का० नि०**, पृष्ठ ४२।
४. **का० नि०**, पृष्ठ ४२-४३।
५. **वही**, पृष्ठ ३९।
६. **वही**, पृष्ठ ३८-३९।
७. **वही**, पृष्ठ ३९।

नहीं, प्रसाद ने दण्डी, भामह, अभिनवगुप्त आदि के साहित्य-शास्त्रों से उद्धरण देकर अपने 'काव्य और कला' निबन्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय दृष्टि से कला और काव्य दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, कला-सम्बन्धी विषयों को लेकर काव्य का विस्तार होता है और काव्य का एक विषय होने के कारण कला उसका अंग अवश्य है, अंगी नहीं ।[1] हेगेल ने ललित-कलाओं के अन्तर्गत काव्य की गणना करके काव्य को कला का जो अंग मान रखा है, यह विचार भारतीय दृष्टि से सर्वथा अमान्य है और इसीलिए प्रसाद ने कला को काव्य से पृथक् मानते हुए केवल इतना ही स्वीकार किया है कि काव्य तो आत्मानुभूति है और उस आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को अथवा अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने वाले अलंकार, वक्रोति, रीति, कथानक आदि को कला माना जा सकता है ।[2] इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य की स्वतन्त्र, मौलिक एवं आध्यात्मिक सत्ता है, जबकि कला परतन्त्र एवं परिमित है और उस आध्यात्मिक सत्ता की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है, किन्तु जब दोनों का संयोग होता है तब वही आत्मानुभूति कला के कौशल अथवा विशिष्ट पद-रचना-युक्त काव्य शरीर में सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त होती है ।

काव्य-शरीर

भारतीय साहित्याचार्यों ने काव्य के विवेचन को सरल, सरस एवं सुबोध बनाने के लिए काव्य की एक पुरुष के रूप में कल्पना की है और उसके शरीर एवं आत्मा पर सम्यक् विचार प्रकट किए हैं ।[3] प्राय: भामह, कुन्तक, मम्मट आदि विद्वानों ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर घोषित किया है, किन्तु विश्वनाथ ने केवल शब्द को ही काव्य-शरीर माना है ।[4] प्रसाद ने भी काव्य के शरीर की ओर संकेत किया है ।[5] प्रसाद की दृष्टि में काव्य एक वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है ।[6] यह वाणी का वह विकास है जो वर्णों के द्वारा पूर्ण होता है ।[7] प्रसाद ने आगम-शास्त्रों के आधार पर वाणी के चार रूप स्वीकार किये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी । इनमें से परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहा-निहित हैं । बैखरी वाणी मनुष्य बोलते हैं । शास्त्रों में परावाणी को नाद-रूपा शुद्ध अहं-परामर्श-मयी शक्ति माना है । पश्यन्ती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य-प्रधान, द्रष्टा रूप वाली है । मध्यमा वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धि-प्रधान दर्शन-स्वरूपा द्रष्टा और दृश्य के अन्तराल में रहती है । बैखरी स्थानुकरण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करने वाली दृश्य-

---

१. **का० नि**, पृष्ठ ४० ।
२. **का० नि०**, पृष्ठ ४४ ।
३. **काव्य-मीमांसा**, पृष्ठ १ ।
४. **साहित्य-दर्पण** १।३
५. **का० नि०**, पृष्ठ ४५ ।
६. **स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य**, पृष्ठ २१ ।

प्रधान होती है।[१] इस बैखरी वाणी में ही काव्य-शरीर अभिव्यक्त होता है। अतएव यदि काव्य आत्मानुभूति है, तो वाणी उसी का दृश्य-रूप या शरीर है। वैसे भी प्रसाद काव्य को श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा मानते हैं और यह ज्ञान या संवित् ही आत्मा है, जिसका प्रथम संवेदनशील विकास आकाश के रूप में होता है और आकाश का गुण शब्द है। अतएव काव्य भी सर्वप्रथम शब्द रूप में ही प्रकट होता है।[२] इसके अतिरिक्त प्रसाद ने लिखा भी है कि 'जो कुछ हम अनुभव करते हैं, वाणी उसका रूप है। यह वाणी का विकास वर्णों में पूर्ण होता है और वर्णो के लिए आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रयत्न माने गए हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न उसे कहते हैं जो वर्णो की उत्पत्ति से प्राग्भावी वायु-व्यापार है और वर्णोत्पत्ति-कालिक व्यापार को बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। यह वाङ्मय-अभिव्यक्ति, मनन की प्राणमयी क्रिया एवं आत्मानुभूति की प्रकट होने की चेष्टा है। इसलिए भावों को व्यक्त करने का मौलिक साधन वाणी है।[३] इस विवेचन से स्पष्ट है कि वाणी अर्थात् शब्द ही उस आत्मानुभूति अथवा काव्य का शरीर है, क्योंकि बैखरी वाणी ही शब्द के रूप में अभिव्यक्त होकर काव्य-शरीर को प्राप्त होती है। अतएव आचार्य विश्वनाथ की तरह प्रसाद भी शब्द को ही काव्य-शरीर मानते हैं।

काव्य की आत्मा

काव्य की आत्मा के बारे में विविध मत प्रचलित हैं, जिनके अनुसार कुछ विद्वान् अलंकार को, कुछ वक्रोक्ति को, कुछ रीति को, कुछ ध्वनि को और कुछ रस को काव्य की आत्मा मानते हैं।[४] प्रसाद भी काव्य की आत्मा रस ही मानते हैं, जैसा कि आपने 'रस' नामक निबन्ध में स्पष्ट घोषित भी किया है कि 'इन्हीं नाट्योपयोगी काव्यों में आत्मा की अनुभूति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुई।'[५] इतना ही नहीं, प्रसाद ने आनन्दवादी विचारधारा वाले शैवागमों में वर्णित रस का निरूपण करते हुए बतलाया है कि 'आनन्द-परम्परा वाले शैवागमों की भावना में प्रकृत रस की सृष्टि सजीव थी। रस की अभेद और आनन्द वाली व्याख्या हुई। भट्टनायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर लोक-सामान्य-प्रकाश-आनन्दमय, आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई।'[६] इस दृष्टि से प्रसाद काव्य की आत्मा रस को पूर्णतया उस प्रकाशानंदमय आत्म-चैतन्य के रूप में ही स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रसाद ने वस्तु, रस और अलंकार का समावेश करके ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले आनन्दवर्द्धनाचार्य के मत की आलोचना करते हुए भी यही लिखा है कि आनन्दवर्द्धन ने भी यह स्वीकार किया कि वस्तु और अलंकार से प्रधान रस-ध्वनि है तथा अभिनव-

---

१. **काव्य और कला (निबन्ध)—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ४०-४१।
२. **वही**, पृष्ठ ४१।
३. **वही**, पृष्ठ ४१-४२।
४. **सिद्धान्त और अध्ययन**, पृष्ठ २।
५. **का० नि०**, पृष्ठ ७०।
६. **का० नि०**, पृष्ठ ७४।

गुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की टीका करते हुए अपनी पाण्डित्यपूर्ण विवेचन शैली द्वारा यह सिद्ध किया कि काव्य की आत्मा रस ही है।[१] इतना ही नहीं, प्रसाद ने अन्त में काव्यात्मा सम्बन्धी सम्पूर्ण मतों का विवेचन करते हुए रस की महत्ता का ही प्रतिपादन किया है और लिखा भी है कि "ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार आदि सब मतों पर रस की सत्ता स्थापित हो गई। वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।"[२] इस प्रकार प्रसाद की स्पष्ट धारणा है कि यदि काव्य आत्मा की मूल अनुभूति है, तो उस अनुभूति को पूर्णता रस द्वारा ही प्राप्त होती है।[३] अतएव रस ही काव्य की आत्मा है।

काव्य-प्रयोजन

काव्य के प्रयोजन के बारे में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं हैं। व्यास, भामह, कुन्तक, विश्वनाथ आदि विद्वान् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन सिद्ध करते हैं।[४] मम्मट ने सुयश, धन, लोक-व्यवहार का ज्ञान, अनिष्ट-निवारण, शीघ्र सुख-प्राप्ति और कान्ता के प्रेम से मिश्रित उपदेशात्मकता को काव्य का प्रयोजन बतलाया है।[५] कुछ पाश्चात्य विद्वान् 'कला कला के लिए' कहकर कला या काव्य को ही काव्य का प्रयोजन बताते हैं, कुछ 'कला जीवन के लिए' कहकर जीवन को काव्य का प्रयोजन सिद्ध करते हैं और कुछ मनोविनोद, आत्म-सुख, सृजन की अदम्य आवश्यकता आदि को काव्य के प्रयोजन बतलाये हैं।[६] कुछ विद्वान् केवल लोक-हित को काव्य का प्रयोजन सिद्ध करते हैं[७], तो कुछ विद्वान् केवल मनोरंजन को काव्य का प्रयोजन घोषित करते हैं।[८] परन्तु प्रसाद ने 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' निबन्ध में लिखा है कि "काव्य के अंग यद्यपि बहुत विस्तृत हैं, तो भी हम उसके दो गुणों को लेते हैं, जो प्रधान और मुख्यतम हैं। संसार को काव्य से दो तरह के लाभ पहुँचते हैं—मनोरंजन और शिक्षा।"[९] प्रसाद का 'मनोरंजन' से तात्पर्य यह है कि काव्य जन-मानस को अपनी ओर आकृष्ट करके उसे जगत् के सुख-दुःखों से कुछ क्षणों के लिए दूर कर देता है, जिससे पाठक, श्रोता एवं दर्शक जितनी देर तक कविता पढ़ता है या सुनता है अथवा नाटक देखता है, उतनी देर तक वह एक

---

१. **का० नि०**, पृष्ठ ७५।
२. **का० नि०**, पृष्ठ ८०।
३. **वही**, पृष्ठ ८०।
४. **साहित्य-दर्पण**, पृष्ठ २, ३।
५. **काव्य-प्रकाश** १।२
६. **सिद्धान्त और अध्ययन**, पृष्ठ ४८।
७. **कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई।**
—रामचरितमानस १।१४।९
८. **सिद्धान्त और अध्ययन**, पृष्ठ ४८।
९. **इन्दु, कला १, किरण ११, ज्येष्ठ २, सं० १९६७ वि०**, पृष्ठ १८१।

अलौकिक जगत् में विचरण करता हुआ अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है और अपने वास्तविक जगत् के सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि को भूल जाता है।[1] इसके अतिरिक्त 'शिक्षा' से प्रसाद का तात्पर्य यह है कि मानव किसी कविता को पढ़कर या सुनकर तथा किसी नाटक को देखकर केवल कुछ क्षणों के लिए मनोरंजन ही नही करता, अपितु कुछ उपदेश या शिक्षा भी ग्रहण करता है। जैसे, वह 'रामचरितमानस' पढ़कर यह शिक्षा लेता है कि रावण की तरह नहीं, अपितु राम की तरह आचरण करना चाहिए। प्रसाद का मत है कि "शिक्षा का अंश साहित्य के सब अंशों से सम्बन्ध रखता है। अतः वह अंश-रूप से प्रायः सत्कविता में मिलेगा। वह नाटकों में विशेष रूप से रहता है। नाटक में जितनी शिक्षा हो सकती है, उतनी प्रायः किसी में भी नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उसके प्रबन्ध-नियम और उद्देश्य बहुत उदार तथा महान् होते हैं।"[2] ऐसे ही प्रसाद ने महाकवि के स्वरूप का विवेचन करते समय भी उद्धृत किया है कि "ऐसे अच्छे नाटक या काव्य लिखने वाले को ही महाकवि कह सकते हैं, जिसके ग्रंथों से पाठकों का अच्छी शिक्षा के साथ मनोरंजन होता चले।"[3] अतएव स्पष्ट है कि प्रसाद के मत से शिक्षा और मनोरंजन दो ही काव्य के प्रयोजन है।

काव्य-हेतु

भारतीय साहित्याचार्यों ने प्रतिभा (शक्ति), निपुणता और अभ्यास इन तीनों को समन्वित रूप में काव्य का हेतु स्वीकार किया है।[4] प्रसाद भी इसी मत को मानते हैं। इसी कारण प्रसाद ने प्रतिभा अथवा कल्पना-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अपनी 'कल्पना-सुख' नामक कविता में शक्ति को आकाश के समान विशद कहा है, उसे अनन्त बताया है, उसको भूत, भविष्य एवं वर्तमान में व्याप्त कहा है, उसी के द्वारा विविध विचित्र रचनाओं का निर्माण होना सिद्ध किया है और बताया है कि इसी अनुपम शक्ति के सहारे कवि अद्भुत खेल करता हुआ अनौखी सृष्टि रचा करता है।[5] इतना ही नहीं, प्रसाद का तो स्पष्ट मत है कि प्रतिभा ही कवि को वह शक्ति प्रदान करती है, जिससे वह क्लीव में तलवार ग्रहण करा देने की शक्ति भर देता है, वह चिर दुःख को सुखमय बना देता है।[6] कवि की यह प्रतिभा जब अपना मधुर प्रकाश मनुष्य के हृदय पर डालती है, तब उसका अन्धकारमय हृदय भी उज्ज्वल आलोक से पूर्ण हो जाता है।[7] दूसरे हेतु, 'निपुणता' से तात्पर्य विविध

---

१. **इन्दु, कला १, किरण ११, ज्येष्ठ** २, सं० १९६७ **वि०**, पृष्ठ १८२।

२. **वही**, पृष्ठ १८२।

३. **इन्दु, कला** ३, **किरण** ५, **अप्रैल सन्** १९१२, पृष्ठ ४०३।

४. **काव्यादर्श** १।१०३, **काव्यप्रकाश** १।३ ५. **चित्राधार**, पृष्ठ १४१-१४२।

६. **कवि और कविता (निबन्ध), इन्दु, कला** २, **किरण** १, **श्रावण शुक्ला** २, **सं०** १९६७ **वि०**, पृष्ठ १९।

७. **वही**, पृष्ठ २०।

अलौकिक जगत् में विचरण करता हुआ अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है और अपने वास्तविक जगत् के सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि को भूल जाता है।[१] इसके अतिरिक्त 'शिक्षा' से प्रसाद का तात्पर्य यह है कि मानव किसी कविता को पढ़कर या सुनकर तथा किसी नाटक को देखकर केवल कुछ क्षणों के लिए मनोरंजन ही नहीं करता, अपितु कुछ उपदेश या शिक्षा भी ग्रहण करता है। जैसे, वह 'रामचरितमानस' पढ़कर यह शिक्षा लेता है कि रावण की तरह नहीं, अपितु राम की तरह आचरण करना चाहिए। प्रसाद का मत है कि "शिक्षा का अंश साहित्य के सब अंशों से सम्बन्ध रखता है। अतः वह अंश-रूप से प्रायः सत्कविता में मिलेगा। वह नाटकों में विशेष रूप से रहता है। नाटक में जितनी शिक्षा हो सकती है, उतनी प्रायः किसी में भी नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उसके प्रबन्ध-नियम और उद्देश्य बहुत उदार तथा महान् होते हैं।"[२] ऐसे ही प्रसाद ने महाकवि के स्वरूप का विवेचन करते समय भी उद्धृत किया है कि "ऐसे अच्छे नाटक या काव्य लिखने वाले को ही महाकवि कह सकते हैं, जिसके ग्रंथों से पाठकों का अच्छी शिक्षा के साथ मनोरंजन होता चले।"[३] अतएव स्पष्ट है कि प्रसाद के मत से शिक्षा और मनोरंजन दो ही काव्य के प्रयोजन हैं।

काव्य-हेतु

भारतीय साहित्याचार्यों ने प्रतिभा (शक्ति), निपुणता और अभ्यास इन तीनों को समन्वित रूप में काव्य का हेतु स्वीकार किया है।[४] प्रसाद भी इसी मत को मानते हैं। इसी कारण प्रसाद ने प्रतिभा अथवा कल्पना-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अपनी 'कल्पना-सुख' नामक कविता में शक्ति को आकाश के समान विशद कहा है, उसे अनन्त बताया है, उसको भूत, भविष्य एवं वर्तमान में व्याप्त कहा है, उसी के द्वारा विविध विचित्र रचनाओं का निर्माण होना सिद्ध किया है और बताया है कि इसी अनुपम शक्ति के सहारे कवि अद्भुत खेल करता हुआ अनोखी सृष्टि रचा करता है।[५] इतना ही नहीं, प्रसाद का तो स्पष्ट मत है कि प्रतिभा ही कवि को वह शक्ति प्रदान करती है, जिससे वह क्लीव में तलवार ग्रहण करा देने की शक्ति भर देता है, वह चिर दुःख को सुखमय बना देता है।[६] कवि की यह प्रतिभा जब अपना मधुर प्रकाश मनुष्य के हृदय पर डालती है, तब उसका अन्धकारमय हृदय भी उज्ज्वल आलोक से पूर्ण हो जाता है।[७] दूसरे हेतु, 'निपुणता' से तात्पर्य विविध

---

१. **इन्दु, कला १, किरण ११, ज्येष्ठ** २, सं० १९६७ **वि०**, पृष्ठ १८२।
२. **वही**, पृष्ठ १८२।
३. **इन्दु, कला ३, किरण ५, अप्रैल सन्** १९१२, पृष्ठ ४०३।
४. **काव्यादर्श १।१०३, काव्यप्रकाश १।३** ५. **चित्राधार**, पृष्ठ १४१-१४२।
६. **कवि और कविता (निबन्ध), इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला २, सं० १९६७ वि०**, पृष्ठ १९।
७. **वही**, पृष्ठ २०।

कला, विद्या, काव्यशास्त्र, लोक-जीवन आदि के ज्ञान से है। प्रसाद का स्पष्ट मत है कि "काव्य में ज्योतिष-तत्त्व, इतिहास, दर्शन, धर्म, वेदान्त, सामान्य नीति, राजनीति, कला, शिल्प आदि सभी वस्तुओं का समावेश रहता है और इन सबके समावेश से ही एक सत्काव्य का निर्माण होता है। अतएव सर्वशास्त्र, सब विद्या एवं सब कलाएँ साहित्य या काव्य की उपयोगी हैं। इनका गहन अध्ययन एवं मनन करने से ही कोई व्यक्ति सत्कवि बनता है।[1] प्रसाद कवि के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं मानते, अपितु लोक एवं जगत् के सूक्ष्म निरीक्षण पर बल देते हुए आपने 'कवि और कविता' नामक निबन्ध में यहाँ तक लिखा है कि "महाकवि वाल्मीकि के लिए कोई बड़ा भारी पुस्तकालय नहीं था। उन्होंने अपने महाकाव्य लिखने के लिए जो सुन्दर जाह्नवी तट पर कुसुमित कानन निर्धारित किया था, वह क्यों? वे प्रकृति का बाह्य तथा आन्तरिक चक्षु से अन्वेषण करते थे, तब उनकी प्रतिभा ऋतु-वर्णन में इतनी देखी जाती है, प्रकृति के एक-एक क्षुद्र अंश, यहाँ तक कि एक महान् वृक्ष की डालियों में की छोटी-छोटी पत्तियों की नसें भी उनसे बात करती थीं।"[2] इस तरह प्रसाद ने 'प्रतिभा' को प्रखर बनाने के लिए सम्पूर्ण शास्त्र, विद्या, कला आदि के अध्ययन के साथ-साथ जीवन और प्रकृति के खुले रूप का निरीक्षण करते हुए 'निपुणता' प्राप्त करने की सलाह दी है और अपने कवि-जीवन द्वारा यह भी बताया है कि 'सतत अभ्यास' द्वारा किस तरह एक 'कानन-कुसुम' संग्रह में संकलित साधारण कविताओं वाला कवि 'आँसू' एवं 'कामायनी' जैसे उत्कृष्ट काव्यों का निर्माण करने में सफल हो सकता है। इतना ही नहीं, प्रसाद ने स्वयं अभ्यास करते हुए अन्य कवियों को भी नवीन शैली की नवीन कविताओं का अभ्यास करने के लिये उद्बोधन देते हुए 'कवि और कविता' नामक निबन्ध में लिखा है कि "शृङ्गार रस की मधुरता पान करते-करते आपकी मनोवृत्तियाँ शिथिल तथा अकुला गई हैं। इस कारण अब आपको भावमयी, उत्तेजनामयी, अपने को भुला देने वाली कविताओं की आवश्यकता है। अस्तु, धीरे-धीरे जातीय संगीतमयी वृत्ति-स्फुरणकारिणी, आलस्य को भंग करने वाली, आनन्द बरसाने वाली, धीर-गम्भीर पद-विक्षेप-कारिणी शान्तिमयी कविता की ओर हम लोगों को अग्रसर होना चाहिए।"[3] प्रसाद के इस कथन में प्रेरणा के साथ-साथ नवीन कविता के सतत अभ्यास की ओर भी संकेत विद्यमान है। इस तरह प्रसाद ने 'शक्ति' अथवा 'प्रतिभा', 'निपुणता' और 'सतत अभ्यास' को काव्य-हेतु के रूप में स्वीकार किया है।

---

१. **हिन्दी-साहित्य सम्मेलन** (**निबन्ध**), **इन्दु, कला १, किरण** ११, **ज्येष्ठ** २, **सं०** १६६७ **वि०**, पृष्ठ १८०-१८१।

२. **इन्दु, कला** २, **किरण** १, **श्रावण शुक्ल** २, **सं०** १६६७ **वि०**, पृष्ठ १६।

३. **वही**, पृष्ठ २४।

काव्य के भेद

भारतीय आचार्यों ने रचना के विचार से काव्य के दो प्रमुख भेद स्वीकार किए हैं, जो श्रव्य और दृश्य कहलाते हैं। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जिन्हें पढ़कर तथा सुनकर आनन्द प्राप्त किया जाता है और दृश्य काव्य के अन्तर्गत वे रूपक आते हैं, जिनका अभिनय देखकर विशेष आनन्द प्राप्त किया जाता है।[1]

(१) **श्रव्य काव्य**—अन्य भारतीय आचार्यों की भाँति प्रसाद ने भी काव्य के दो भेद स्वीकार किए हैं—श्रव्य और दृश्य। किन्तु प्रसाद श्रव्य काव्य को 'पाठ्य काव्य' कहना अधिक समीचीन समझते हैं, क्योंकि आपने 'आरम्भिक पाठ्य काव्य' नामक निबन्ध में लिखा भी है, "नाट्य के अतिरिक्त जो काव्य है, उसे रीति-ग्रन्थों में श्रव्य कहते है। कारण कि प्राचीनकाल में ये सब सुने या सुनाये जाते थे; इसलिए श्रुति, अनुश्रुति इत्यादि शब्द धर्म-ग्रन्थों के लिए भी व्यवहृत थे। किन्तु आजकल तो छपाई की सुविधा के कारण उन्हें 'पाठ्य' कहना अधिक सुसंगत होगा। वर्णनात्मक होने के कारण वे काव्य, जो अभिनय के योग्य नहीं, पाठ्य ही हैं।"[2] इस श्रव्य अथवा पाठ्य काव्य में एक द्रष्टा की वस्तु की बाह्य वर्णना का प्राधान्य रहता है, इसमें कवि की परोक्ष अनुभूति अन्तर्निहित रहती है, इसकी वर्णनात्मक अनुभूति यदि अपरोक्ष (सब्जैक्टिव) हो जाती है तो यह रस की कोटि तक पहुँच जाती है और यह आत्मा की अनुभूति विशुद्ध रूप में 'अहम्' की अभिव्यक्ति का कारण बन जाती है।[3] इसी कारण इसमें 'इदम्' को 'अहम्' के समीप लाने का सुन्दर प्रयास किया जाता है, क्योंकि श्रव्य काव्य में मानव मात्र के सुख-दुःख, हर्ष-क्रोध, राग-द्वेष का वैचित्र्यपूर्ण आलेख्य मिलता है, बड़े-बड़े प्रभावशाली कर्मों का वर्णन मिलता है, इसमें कहीं मानवों की महत्ता की ओर प्रेरित करने के लिए, कहीं अपनी दुःख की, अभाव की गाथा गाकर जी हलका करने के लिए मानव के हर्ष-शोक की गाथाएँ गायी जाती हैं और इसका मूलाधार इतिहास होता है।[4] दृश्य काव्य से श्रव्य काव्य में अन्तर यह है कि दृश्य काव्य में जहाँ अभ्यन्तर की प्रधानता होती है, वहाँ श्रव्य में बाह्य वर्णन की ही मुख्यता अपेक्षित है। वह बुद्धिवाद से अधिक सम्पर्क रखने वाली वस्तु बनती है, क्योंकि आनन्द से अधिक उसमें दुःखानुभूति की व्यापकता होती है और यह जनवर्ग को अधिकाधिक कष्ट-सहिष्णु, जीवन-संघर्ष में पटु तथा दुःख के अभाव से परिचित होने के लिए प्रायः सुनाया जाता है, नाट्य-काव्य की तरह उसमें रसात्मक अनुभूति, आनन्द का साधारणीकरण नहीं होता।[5]

---

१. **काव्य-दर्पण**, पृष्ठ ३२६।

२. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ १११।

३. **वही**, पृष्ठ १११।

४. **वही**, ११२।

५. **वही**, पृष्ठ ११२।

श्रव्य काव्य के भेद

प्राय: श्रव्य-काव्य के तीन भेद सभी विद्वानों ने स्वीकार किये हैं—गद्य, पद्य और चम्पू अथवा मिश्र। प्रसाद ने भी इन्हीं तीन भेदों को मान्यता प्रदान की है और हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए श्रव्य काव्य के इन तीनों भेदों पर अपनी लेखनी चलायी है। प्रसाद के मत से इन तीनों भेदों का स्वरूप इस प्रकार होना चाहिए :—

(क) गद्य—श्रव्य काव्य में से गद्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी, जीवनी, गद्यकाव्य, निबन्ध आदि आते हैं। प्रसाद ने समूचे गद्य-साहित्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए बताया है कि प्राय: कहानी, उपन्यास आदि में दो प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहता है, कुछ लेखक यथार्थवादी दृष्टिकोण को महत्त्व देते हैं और कुछ आदर्शवाद को मानकर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। इनमें से प्रसाद के विचार से यथार्थवाद प्रमुख रूप से लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात का द्योतक है, क्योंकि उसमें स्वभावत: दु:ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति रहती है। यहाँ लघुता से तात्पर्य यह है कि साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दु:ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।[1] प्रसाद का कथन है कि इस यथार्थवाद को अपनाने के कारण अब राजाओं एवं राजकुमारों की साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी हुई आख्यायिकाओं के स्थान पर मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण होने लगा है। राजसत्ता के कृत्रिम और धार्मिक महत्व के व्यर्थ हो जाने से साधारण जन-जीवन को महान् देखने के फलस्वरूप यथार्थवादी लेखक सर्वसाधारण के अभाव, पतन और वेदना का निरूपण अधिक करने लगे हैं।[2] दूसरी ओर आदर्शवादी लेखक समाज के इस वास्तविक स्वरूप को विस्मृत करके एक ऐसे सम्पन्न एवं समृद्ध समाज का चित्र प्रस्तुत करना अच्छा समझता है, जिसका अनुकरण एवं अनुसरण करके मानव समृद्धि की ओर अग्रसर हो, उसे अपना आदर्श बनाये और जीवन में अभावों एवं दु:खों से दु:खी न होकर मानसिक शान्ति प्राप्त करे। प्रसाद ने उक्त दोनों ही विचारों का निराकरण करके दोनों के समन्वित स्वरूप को अपनाने की सलाह दी है और लिखा है कि "वस्तुत: यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना भिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं, साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वह, समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है और यथार्थ-वादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता; क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था; किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्त्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्त्तव्य

स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है।"[१] इससे सिद्ध है कि प्रसाद आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के अनुयायी हैं।

(ख) **पद्य या कविता**—प्रसाद ने पद्य अथवा कविता के दो भेद स्वीकार किये हैं—स्फुट या मुक्तक काव्य तथा प्रबन्ध काव्य। इनमें से स्फुट या मुक्तक कविता के पुन: दो भेद किये हैं—कथामूलक भावमयी कविता और भावमूलक कविता। इनमें से कथामूलक भावमयी कविता से प्रसाद का तात्पर्य उस कविता से है जिसमें भावों का ऐसा निरूपण किया जाता है, जैसा कि प्रायः ऐतिहासिक व पौराणिक काव्यों में समयानुकूल या आवश्यकतानुसार समावेश दिखाई पड़ता है। जैसे, 'उत्तररामचरित' नाटक में जब लक्ष्मण, रामचन्द्रजी को चित्र दिखाते हैं, तब उस क्षण का पूर्वस्मृति का चित्रण तथा 'शकुन्तला' नाटक में कण्व महर्षि का भी कन्या की ओर जो प्राकृतिक प्रेम था, उसका चित्रण तथा तुलसी रामायण में धनुष-भंग के समय जानकी के हृदय की शंका का चित्रण आदि। इसके अतिरिक्त दूसरी भावमूलक कविता वह होती है, जिसमें भाव को प्रधान मानकर कविता की जाती है, जैसे श्रीधर पाठक का 'ऊजड़ ग्राम' आदि।[२] इसके साथ ही प्रबन्ध काव्य के भी प्रसाद ने दो भेद स्वीकार किये है—औपन्यासिक काव्य और महाकाव्य। औपन्यासिक काव्य से प्रसाद का तात्पर्य ऐसे छोटे-बड़े सभी कथात्मक काव्यों से है, जिनमें उपन्यास की भाँति कथात्मक प्रणाली अथवा वर्णनात्मकता का ही प्राधान्य रहता है। इसी कारण प्रसाद ने 'मृगावती' और 'पदमावती' को औपन्यासिक काव्य कहा है।[३] इसके अतिरिक्त महाकाव्य से प्रसाद का तात्पर्य एक ऐसे विशाल काव्य से है जिसमेंप्र कृति-वर्णन अथवा उसके पात्रों के हृदयस्थ भावों का वर्णन करने में रचयिता को आन्तरिक और बाह्य सब वस्तुओं का विस्तृत चित्र दिखलाना पड़ा हो, उसे मानवीय तथा प्राकृतिक दोनों से परिचित होना पड़ा हो, जिसमें एक बड़े काव्य की भव्य लेख-शैली स्पष्ट रूप से देखने में आती हो, जिसमें कवि की प्रतिभा सब तरह की स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हो, जिसके उत्तम निबंध से पाठक या समाज अच्छी शिक्षा प्राप्त करता हो, जिसके पढ़ने से पाठकों का अच्छी शिक्षा के साथ ही साथ मनोरंजन भी होता चले और चित्त की कोमल वृत्तियाँ भी सुन्दर होकर प्रस्फुटित

---

१. **काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ १२२-१२३।

२ **कवि और कविता** (**निबंध**), **इन्दु**, **कला** २, **किरण** १, **श्रावण शुक्ला** २, **सं०** १९६७, पृष्ठ २१।

३. **हिन्दी-कविता का विकास** (निबन्ध), **इन्दु**, **कला** ३, **किरण** ५, **अप्रैल सन्** १९१२, पृष्ठ ४०५।

होने लगें।[१] इतना ही नहीं, प्रसाद की दृष्टि से महाकाव्य में महत्ता की अत्यन्त आवश्यकता होती है, क्योंकि महत्ता ही महाकाव्य का प्राण है।[२] इसके साथ ही महाकाव्य में जीवन और उसके विस्तारों का प्रभावशाली वर्णन किया जाता है, बड़े-बड़े प्रभावशाली कर्मों का निरूपण होता है और घटनात्मक विवेचनाओं की प्रभावशालिनी परम्परा में उत्थान और पतन की कड़ियाँ जोड़ कर विवेकवाद को पुष्ट करने के लिए इन महाकाव्यों का सृजन होता है। इसमें काल्पनिक अर्थात् आदर्शवादी और वस्तुस्थिति अर्थात् यथार्थवादी दोनों प्रकार के वर्णनों का समावेश रहता है। इसमें मानव के सुख-दुःख की गाथाएँ गायी जाती हैं, किन्तु उनका केन्द्र होता है धीरोदात्त विख्यात लोकविश्रुत नायक।[३]

इस तरह प्रसाद ने प्रायः प्राचीन आचार्यों के मतों का समर्थन करते हुए ही स्फुटकाव्य, महाकाव्य आदि का निरूपण किया है और बताया है कि गद्य से ही नहीं, अपितु चित्र और संगीत से भी कविता अधिक रुचिकर एवं प्रभावशालिनी होती है, क्योंकि प्रसाद ने लिखा है "प्रायः संक्षिप्त और प्रभावमयी तथा चिरस्थायिनी जितनी पद्यमय रचना होती है, उतनी गद्य-रचना नहीं। इसी स्थान में हम संगीत की योजना कर सकते हैं, सद्यः प्रभावोत्पादक जैसा संगीत पद्यमय होता है, वैसी गद्य-रचना नहीं। चित्रकारी तथा कविता से लोग मिलान करते हैं, पर कविता एक अचिंत्यपूर्व सुन्दर चित्र खींच देती है, जो कि बोल भी सकता है, पर चित्र वैसा नहीं कर सकता। यद्यपि कविता और चित्रकारी का कार्य एक ही है, पर यह (कवि) मलयज पवन का भी चित्र खींच सकता है, उसको बुला सकता है और उसके साथ खेल सकता है, इससे कविता एक जीवन्त चित्र प्रस्तुत कर सकती है। उसी प्रकार संगीत केवल स्वर ही प्रकट कर सकता है। यदि उसमें कुछ कविता न हो, तो केवल वह गूँगे का चिल्लाना ही प्रतीत होगा। यदि उसमें कविता का अंश मिला होगा, तो कर्ण के साथ ही हृदय को भी आनन्द देगा।"[४] अतएव प्रसाद की दृष्टि में कविता अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध स्थापित करती हुई स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करती है।[५]

(ग) **चम्पू**—श्रव्य काव्य के तीसरे भेद 'चम्पू' पर भी अपने विचार प्रकट करते

---

१. **हिन्दी-कविता का विकास (निबन्ध), इन्दु, कला ३, किरण ५, अप्रैल स** १९१२, पृष्ठ ४०३।

२. **आरम्भिक पाठ्य काव्य (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,** पृष्ठ ११३।

३. **वही**, पृष्ठ ११२-११३।

४. **कवि और कविता (निबन्ध), इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला २, सं० १९६७ वि०**, पृष्ठ २०।

५. **स्कंदगुप्त विक्रमादित्य**, पृष्ठ २१।

हुए प्रसाद ने चम्पू को न तो केवल गद्य माना है और न केवल पद्य स्वीकार किया है, अपितु उसे गद्य और पद्य से मिश्रित काव्य बताया है।[1] प्रसाद का मत है कि चम्पू में गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक नहीं होने चाहिए। आपने 'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन' नामक जिन दो चम्पू-काव्यों की रचना की है, उनमें उक्त विचार को क्रियान्वित करके भी दिखलाया है। इतना ही नहीं, प्रसाद ने साहित्यदर्पण, अग्नि-पुराण आदि से उद्धरण देकर अपने 'चम्पू' लेख में यह सिद्ध भी किया है कि गद्य और पद्य से मिश्रित होने के कारण चम्पू दृश्य-काव्य की कोटि में नहीं आता, अपितु यह श्रव्य काव्य का ही एक भेद होता है।[2]

(२) **दृश्य काव्य**—काव्य का दूसरा प्रमुख भेद दृश्य या नाट्य कहलाता है। इसमें अभिनय की प्रधानता होती है और अभिनय के बीच-बीच में गीत एवं नृत्य की भी योजना की जाती है।[3] दृश्य काव्य में श्रव्य काव्य की भाँति बाह्य वर्णन का प्राधान्य नहीं होता, अपितु अभ्यन्तर का प्राधान्य रहता है, इसमें रसात्मक अनुभूति के साथ आनन्द का साधारणीकरण होता है और दुःखानुभूति के स्थान पर प्रायः आनन्दानुभूति का ही चित्रण किया जाता है।[4] इस दृश्य काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति रस के रूप में अभिव्यक्त होती है, क्योंकि नाट्य में वाणी के छन्द, गद्य और संगीत इन तीनों के माध्यम से आनन्द-मात्रा से सम्पन्न रसात्मक अनुभूति का ही प्रदर्शन किया जाता है।[5] प्रसाद का तो यहाँ तक मत है कि "आनन्द के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्वसाधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्य-रसों की उद्भावना की थी।"[6] अतएव भारत में नाट्य-प्रयोग केवल कुतूहल-शान्ति के लिए ही नहीं था, अपितु पारमार्थिक दृष्टि से किया गया था और इसी कारण भरत मुनि ने नाट्य-प्रयोग को एक यज्ञ के स्वरूप में स्वीकार किया था।[7] आनन्द का प्राधान्य होने के कारण और आनन्द ही नाट्य का लक्ष्य होने के कारण भारत में आरम्भ से ही दुःखान्त नाटकों का सर्वथा अभाव रहा। जब यहाँ के आचार्यों ने नाट्य रस के रूप में आनन्द को स्वीकार कर लिया और उस आनन्द को ही ब्रह्म मान लिया, फिर दुःखान्त नाट्यों के लिए यहाँ स्थान ही शेष नहीं रहा था; परन्तु पाश्चात्य देशों में दुःखान्त नाटकों को ही अत्यधिक महत्त्व दिया गया। इस पर प्रसाद का विचार यह है कि "पश्चिम को उपनिवेश मानने वाले आर्यों ने देखा कि

---

१. **चम्पू (निबन्ध), इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला २, १९६७ वि०,** पृष्ठ १५।
२ **इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला २, १९६७ वि०,** पृष्ठ १६-१७।
३. **नाटकों का आरम्भ (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,** पृष्ठ ९०-९१।
४. **आरम्भिक पाठ्य काव्य (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,** पृष्ठ ११२।
५. **रस (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,** पृष्ठ ७१।
६. **वही** पृष्ठ ७१। ७. **वही** पृष्ठ ७१।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए मानवीय भावनाएँ विशेष परिस्थिति उत्पन्न कर देती हैं। उन परिस्थितियों से व्यक्ति अपना सामंजस्य नहीं कर पाता। कदाचित् दुर्गम भू-भागों में, उपनिवेशों की खोज में, उन लोगों ने अपने को विपरीत दशा में ही भाग्य से लड़ते हुए पाया। उन लोगों ने जीवन की इस कठिनाई पर अधिक ध्यान देने के कारण इस जीवन को दुःखमय (ट्रेजडी) ही समझ पाया और यह उनकी मनुष्यता की पुकार थी, आजीवन लड़ने के लिए। ग्रीक और रोमन लोगों को बुद्धिवाद भाग्य से और उसके द्वारा उत्पन्न दुःखपूर्णता से संघर्ष करने के लिए अधिक अग्रसर करता रहा। उन्हें सहायता करने के लिए संघबद्ध होने पर भी, व्यक्तित्व के, पुरुषार्थ के विकास के लिए मुक्त अवसर देता रहा। इसलिए उनका बुद्धिवाद उनकी दुःख-भावना के द्वारा अनुप्राणित रहा। इसी को साहित्य में उन लोगों ने प्रधानता दी।"[1] परन्तु भारतीय आर्यों को निराशा न थी। उनमें करुणा का प्राधान्य था, जिसमें दया, सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। इसी कारण उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद, निर्विकार आनन्द लेने में ही अधिक सुख माना।[2] इसी कारण पाश्चात्य लेखकों ने दुःखान्त नाट्य या ट्रेजडी को महत्व दिया और भारत में आनन्द-प्रधान नाट्य लिखे गये।

(क) **नाटकों का आरम्भ**—प्रसाद ने नाटकों के आरम्भ के बारे में पर्याप्त अन्वेषण करके यह सिद्ध किया है कि भारत में रामायण तथा महाभारत के निर्माण से पूर्व ही नाटकों की रचना होने लगी थी क्योंकि रामायण में 'नाटक संघ' का उल्लेख होने के कारण तथा महाभारत में 'रम्भाभिसार' के अभिनय का वर्णन मिलने के कारण नाटकों की रचना इन दोनों इतिहास-काव्यों से पूर्व ही जान पड़ती है।[3] इतना ही नहीं, प्रसाद ने इस बात का समर्थन किया है कि ऋग्वेद में 'सोम-याग' के अवसर पर प्रायः जो अभिनय हुआ करते थे, जिसमें यजमान, सोम-विक्रेता और अध्वर्यु भाग लिया करते थे, वह याज्ञिक क्रिया होते हुए भी नाट्य के अभिनय से पूर्णतया मिलती है।[4] पहले सम्भवतः सीधा-साधा अभिनय ही प्रचलित था, किन्तु पीछे उसमें नृत्य एवं गीत का भी समावेश हुआ। इसके बारे में प्रसाद का मत है कि "कदाचित् पहले अभिनयों में—जैसा कि सोम-याग-प्रसंग पर होता था—नृत्त की उपयोगिता न थी; किन्तु वैदिक काल के बाद जब आगमवादियों ने रस-सिद्धान्त वाले नाटकों का अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया, तो परमेश्वर के ताण्डव के अनुकरण में, उसकी संवर्द्धना के लिए, नृत्त में उल्लास और प्रमोद की पराकाष्ठा देखकर नाटकों में इसकी योजना की।"[5] इस तरह फिर नाटक में वाचिक अभिनय के साथ संगीत—

---

१. **नाटकों में रस का प्रयोग** (निबन्ध), **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ८४-८५।
२. **वही**, पृष्ठ ८५।
३. **नाटकों का आरम्भ** (निबन्ध), **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ८७।
४. **वही**, पृष्ठ ८८-८९। ५. **वही**, पृष्ठ ९०।

हुए प्रसाद ने चम्पू को न तो केवल गद्य माना है और न केवल पद्य स्वीकार किया है, अपितु उसे गद्य और पद्य से मिश्रित काव्य बताया है।[१] प्रसाद का मत है कि चम्पू में गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक नहीं होने चाहिए। आपने 'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन' नामक जिन दो चम्पू-काव्यों की रचना की है, उनमें उक्त विचार को क्रियान्वित करके भी दिखलाया है। इतना ही नहीं, प्रसाद ने साहित्यदर्पण, अग्नि-पुराण आदि से उद्धरण देकर अपने 'चम्पू' लेख में यह सिद्ध भी किया है कि गद्य और पद्य से मिश्रित होने के कारण चम्पू दृश्य-काव्य की कोटि में नहीं आता, अपितु यह श्रव्य काव्य का ही एक भेद होता है।[२]

(२) **दृश्य काव्य**—काव्य का दूसरा प्रमुख भेद दृश्य या नाट्य कहलाता है। इसमें अभिनय की प्रधानता होती है और अभिनय के बीच-बीच में गीत एवं नृत्य की भी योजना की जाती है।[३] दृश्य काव्य में श्रव्य काव्य की भाँति बाह्य वर्णन का प्राधान्य नहीं होता, अपितु अभ्यन्तर का प्राधान्य रहता है, इसमें रसात्मक अनुभूति के साथ आनन्द का साधारणीकरण होता है और दुःखानुभूति के स्थान पर प्रायः आनन्दानुभूति का ही चित्रण किया जाता है।[४] इस दृश्य काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति रस के रूप में अभिव्यक्त होती है, क्योंकि नाट्य में वाणी के छन्द, गद्य और संगीत इन तीनों के माध्यम से आनन्द-मात्रा से सम्पन्न रसात्मक अनुभूति का ही प्रदर्शन किया जाता है।[५] प्रसाद का तो यहाँ तक मत है कि "आनन्द के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्वसाधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्य-रसों की उद्‌भावना की थी।"[६] अतएव भारत में नाट्य-प्रयोग केवल कुतूहल-शान्ति के लिए ही नहीं था, अपितु पारमार्थिक दृष्टि से किया गया था और इसी कारण भरत मुनि ने नाट्य-प्रयोग को एक यज्ञ के स्वरूप में स्वीकार किया था।[७] आनन्द का प्राधान्य होने के कारण और आनन्द ही नाट्य का लक्ष्य होने के कारण भारत में आरम्भ से ही दुःखान्त नाटकों का सर्वथा अभाव रहा। जब यहाँ के आचार्यों ने नाट्य रस के रूप में आनन्द को स्वीकार कर लिया और उस आनन्द को ही ब्रह्म मान लिया, फिर दुःखान्त नाट्यों के लिए यहाँ स्थान ही शेष नहीं रहा था; परन्तु पाश्चात्य देशों में दुःखान्त नाटकों को ही अत्यधिक महत्त्व दिया गया। इस पर प्रसाद का विचार यह है कि "पश्चिम को उपनिवेश मानने वाले आर्यों ने देखा कि

---

१. **चम्पू (निबन्ध), इन्दु, कला** २, **किरण** १, **श्रावण शुक्ला** २, १९६७ **वि०**, पृष्ठ १५।

२ **इन्दु, कला** २, **किरण** १, **श्रावण शुक्ला** २, १९६७ **वि०**, पृष्ठ १६-१७।

३. **नाटकों का आरम्भ (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ९०-९१।

४. **आरम्भिक पाठ्य काव्य (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ११२।

५. **रस (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ७१।

६. **वही** पृष्ठ ७१।

७. **वही** पृष्ठ ७१।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए मानवीय भावनाएँ विशेष परिस्थिति उत्पन्न कर देती हैं। उन परिस्थितियों से व्यक्ति अपना सामंजस्य नहीं कर पाता। कदाचित् दुर्गम भू-भागों में, उपनिवेशों की खोज में, उन लोगों ने अपने को विपरीत दशा में ही भाग्य से लड़ते हुए पाया। उन लोगों ने जीवन की इस कठिनाई पर अधिक ध्यान देने के कारण इस जीवन को दुःखमय (ट्रेजडी) ही समझ पाया और यह उनकी मनुष्यता की पुकार थी, आजीवन लड़ने के लिए। ग्रीक और रोमन लोगों को बुद्धिवाद भाग्य से और उसके द्वारा उत्पन्न दुःखपूर्णता से संघर्ष करने के लिए अधिक अग्रसर करता रहा। उन्हें सहायता करने के लिए संघबद्ध होने पर भी, व्यक्तित्व के, पुरुषार्थ के विकास के लिए मुक्त अवसर देता रहा। इसलिए उनका बुद्धिवाद उनकी दुःख-भावना के द्वारा अनुप्राणित रहा। इसी को साहित्य में उन लोगों ने प्रधानता दी।"[1] परन्तु भारतीय आर्यों को निराशा न थी। उनमें करुणा का प्राधान्य था, जिसमें दया, सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। इसी कारण उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद, निर्विकार आनन्द लेने में ही अधिक सुख माना।[2] इसी कारण पाश्चात्य लेखकों ने दुःखान्त नाट्य या ट्रेजडी को महत्व दिया और भारत में आनन्द-प्रधान नाट्य लिखे गये।

(क) **नाटकों का आरम्भ**—प्रसाद ने नाटकों के आरम्भ के बारे में पर्याप्त अन्वेषण करके यह सिद्ध किया है कि भारत में रामायण तथा महाभारत के निर्माण से पूर्व ही नाटकों की रचना होने लगी थी क्योंकि रामायण में 'नाटक संघ' का उल्लेख होने के कारण तथा महाभारत में 'रम्भाभिसार' के अभिनय का वर्णन मिलने के कारण नाटकों की रचना इन दोनों इतिहास-काव्यों से पूर्व ही जान पड़ती है।[3] इतना ही नहीं, प्रसाद ने इस बात का समर्थन किया है कि ऋग्वेद में 'सोम-याग' के अवसर पर प्रायः जो अभिनय हुआ करते थे, जिसमें यजमान, सोम-विक्रेता और अध्वर्यु भाग लिया करते थे, वह याज्ञिक क्रिया होते हुए भी नाट्य के अभिनय मे पूर्णतया मिलती है।[4] पहले सम्भवतः सीधा-साधा अभिनय ही प्रचलित था, किन्तु पीछे उसमें नृत्य एवं गीत का भी समावेश हुआ। इसके बारे में प्रसाद का मत है कि "कदाचित् पहले अभिनयों में—जैसा कि सोम-याग-प्रसंग पर होता था—नृत्त की उपयोगिता न थी; किन्तु वैदिक काल के बाद जब आगमवादियों ने रस-सिद्धान्त वाले नाटकों का अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया, तो परमेश्वर के ताण्डव के अनुकरण में, उसकी संवर्द्धना के लिए, नृत्त में उल्लास और प्रमोद की पराकाष्ठा देखकर नाटकों में इसकी योजना की।"[5] इस तरह फिर नाटक में वाचिक अभिनय के साथ संगीत—

---

१. **नाटकों में रस का प्रयोग (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,** पृष्ठ ८४-८५।
२. **वही,** पृष्ठ ८५।
३. **नाटकों का आरम्भ (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,** पृष्ठ ८७।
४. **वही,** पृष्ठ ८८-८९। ५. **वही,** पृष्ठ ९०।

नृत्य, गीत, वाद्य—का भी समावेश होने लगा और यह नाट्यकला आनन्दानुभूति के लिए अत्यन्त उपयुक्त एवं समीचीन होने के कारण विकसित होती चली गई।

(ख) **नाट्य रस**—प्रसाद ने साहित्यिक रस को एकमात्र नाट्य की ही वस्तु स्वीकार किया है। वैसे भी भरत मुनि ने 'नाट्य शास्त्र' में नाटकों के प्रसंग में ही विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति का होना सिद्ध किया है। प्रसाद का स्पष्ट मत है कि 'रस अपने स्वरूप में नाट्यों की अपनी वस्तु थी और उसी में आत्मा की मूल अनुभूति पूर्णता को प्राप्त हुई थी। इसीलिए स्वीकार किया गया—'काव्येषु नाटकं रम्यम्।'[१] भरत के मतानुसार पहले केवल चार ही रस थे—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। इनसे ही पीछे अन्य चार रसों की उत्पत्ति हुई, जैसे शृंगार से हास्य, वीर से अद्‌भुत, रौद्र से करुण और वीभत्स से भयानक।[२] इन्हीं रसों की अभिव्यक्ति के लिए चार प्रकार के अभिनय स्थिर किये गये, जो क्रमशः सात्विक, आंगिक, वाचिक और आहार्य कहलाते हैं।[3] परन्तु नाट्याचार्य शान्त रस को नाटकों के लिए उपयुक्त नहीं मानते थे। यह शान्त रस भक्ति में प्रमुख रूप से रहता है और प्राचीन रसवादी कदाचित् रस की पूर्णता भक्ति में इसलिए नहीं मानते थे कि उसमें द्वैत का भाव रहता था। इससे रस के स्थान पर रसाभास की ही कल्पना होती थी, परन्तु आगमवादियों ने शान्त रस को भी नाट्य रसों में सम्मिलित किया, क्योंकि आगमों में तो भक्ति भी अद्वैतमूला थी और रस के लिए जिस अद्वैतभाव की आवश्यकता होती है, वह आगमानुसार अद्वैत भक्ति में पूर्णतया मिल जाता है। इसी कारण प्रसाद का मत है कि जिस शान्त रस का महत्त्व भरत तथा उनके अन्य अनुयायी नहीं मानते थे, उसी शान्त रस को शैवागम के आनन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी मानने लगे, क्योंकि वे 'समरसता' को शान्त-रस का निस्तरंग महोदधि मानते थे। इस तरह उन्होंने रस की दोनों सीमाओं शृंगार और शान्त का स्पर्श करके रसों की संख्या नौ स्वीकार की और आठ नाट्य रसों के स्थान पर नव रस की कल्पना का प्रचार किया।[४] इतना ही नहीं, इस आगमानुकूल व्याख्या का यह प्रभाव पड़ा कि मनोभावों या चित्तवृत्तियों का और उनके सब स्वरूपों का नाट्य रसों में समन्वय हो गया। 'अहम्' की सब भावों में सब अनुभूतियों में पूर्णता मान ली गई। यह बात पिछले काल के रस-विवेचकों के द्वारा विशृंखल हो गई थी। इतना ही नहीं, इससे ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, अलंकार आदि से सम्बन्धित सब मतों पर रस की सत्ता स्थापित हो गई। इस तरह प्रसाद का स्पष्ट मत है कि आगमों के अनुयायी अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की रस सम्बन्धी दार्शनिक व्याख्या से भारतीय दर्शन और

---

१. **रस (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ८०।

२. **वही**, पृष्ठ ७०-७१। ३. **वही**, पृष्ठ ७४।

४. **वही**, पृष्ठ ७८।

साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ है और आत्मा की मूल अनुभूति रस के रूप में नाटकों के अन्तर्गत पूर्णता को प्राप्त हुई है।[1]

(ग) **रंगमंच**—प्रसाद ने दृश्य काव्य के लिए प्रयुक्त 'रंगमंच' पर भी अपने सारगर्भित विचार प्रकट किए हैं। प्रायः पहले तीन प्रकार के नाट्य मंडप बना करते थे—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। इनमें से विकृष्ट सर्वसाधारण के अनुकूल होता था और यह आयताकार बनाया जाता था। चतुरस्र वर्गाकार होता था, त्र्यस्र त्रिभुजाकार होता था और ये नाट्य मंडप धनिकों, राजाओं आदि के द्वारा अपने भवनों में निजी मनोरंजन के लिए बनवाये जाते थे।[2] आयताकार विकृष्ट नाट्य मंडप के आधे में से आधे में रंगशीर्ष और रंगपीठ बनाये जाते थे, आधे में नेपथ्य-गृह होता था और आधे मंडप के अन्तर्गत दर्शकों के बैठने का प्रबन्ध किया जाता था, जिसमें सोपान की आकृति की बैठकी ईंटों तथा लकड़ियों से बनायी जाती थी, जो कदाचित् आज की गैलरी की तरह होती थी।[3] इसी नाट्य मंडप में मत्तवारिणी भी बनाई जाती थी। इसके बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है कि वह कहाँ बनाई जाती थी। प्रसाद का मत है कि वह मत्तवारिणी रंगपीठ के बराबर केवल एक ही ओर चार खम्भों से रुकावट के लिए बनाई जाती थी। मत्तवारिणी शब्द से भी यही अर्थ निकलता है कि वह मतवालों को वारण करे। वह डेढ़ हाथ ऊँची रंगपीठ के अगले भाग में लगा दी जाती थी।[4]

रंगमच के दो भागों—रंगशीर्ष तथा रंगपीठ के बीच में एक जवनिका पड़ी रहती थी। इस 'जवनिका' शब्द को 'यवनिका' समझ कर कुछ लोगों का यह कहना है कि भारतवर्ष में 'यवनिका' यवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटकों में ली गई है। परन्तु प्रसाद का स्पष्ट मत है कि मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला। अमरकोष में—प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा; तथा हलायुध में—अपटी कांडपटः स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी। इसमें 'य' से नहीं किन्तु 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है। जवनिका से शीघ्रता का द्योतन होता है। 'जव' का अर्थ वेग और त्वरा है। तब जवनिका उस पट को कहते हैं, जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके। कांडपट भी एक इसी तरह का अर्थ ध्वनित करता है, जिसमें पट अर्थात् वस्त्र के साथ कांड अर्थात् डंडे का संयोग हो। प्रतिसीरा और तिरस्करिणी भी साभिप्राय शब्द मालूम होते हैं।[5] इस तरह प्रसाद ने रंगमंच में प्रयुक्त जवनिका का विवेचन करके यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय रंगमंच पर यवन या ग्रीक

---

१. **रस (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ८०।
२. **नाट्यशास्त्र** २।८-१४
३. **रंगमंच (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, पृष्ठ ९४-९५।
४. **वही**, पृष्ठ ९५-९६।
५. **वही**, पृष्ठ ९८।

कला का कोई प्रभाव न था, अपितु वह भारत की अपनी मौलिक वस्तु थी। धीरे-धीरे अपनी नाट्य कला का ह्रास होता चला गया। मध्यकालीन शासकों के आतंक एवं अस्थिरता के साथ-साथ उनकी धर्मांधता ने रंगशालाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, जिसके फलस्वरूप रंगमंच के शिल्प का तो विनाश हुआ ही, उसके साथ ही नाटकों की रचना भी रुक गई।[1] पारसी स्टेज ने फिर रंगमंच को सजीव करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसमें भी वह कलात्मकता न थी, बल्कि कभी-कभी तो एक असंबद्ध फूहड़ भड़ैती का ही प्रयोग होता था।[2] आगे चलकर भारतेन्दुजी ने रंगमंच की अव्यवस्था देखकर एक हिन्दी-रंगमंच की स्थापना की, जिसमें देश, काल, पात्र के अनुसार भारतीय एवं पाश्चात्य कला का समन्वय किया गया। उस पर सत्य-हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी आदि नाटक खेले गये। इस नवीन रंगमंच के बारे में प्रसाद का मत है कि 'इस रंगमंच की स्वतन्त्र चेतनता को सजीव रखकर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नयी पश्चिमी प्रेरणायें हमारी पथ-प्रदर्शिका न बन जायँ। हाँ, उन सब साधनों से जो वर्तमान विज्ञान द्वारा उपलब्ध हैं, हमको वंचित भी न होना चाहिए।'[3] इसके साथ ही प्रसाद ने इस बात का पूर्णतया निराकरण किया है कि नाटक रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखे जाने चाहिए। उनका तो विचार है कि नाटक के अनुसार ही रंगमंच बनने चाहिए और यही मत व्यावहारिक भी है।[4]

(घ) **नाटकों की भाषा**—अंत में प्रसाद ने नाटकों की भाषा के बारे में अपने सुन्दर विचार व्यक्त किए हैं। कुछ विद्वानों का यह मत था कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों की अपनी होनी चाहिए। इस दृष्टि से जैसे संस्कृत नाटकों में कुछ पात्र प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा बोलते थे और कुछ संस्कृत का प्रयोग करते थे, उसी तरह आज भी देहाती पात्रों से उनकी अपनी भाषा और नगर के पात्रों से अपनी शुद्ध भाषा का प्रयोग कराया जाना चाहिए। इस पर प्रसाद का मत है कि 'आज यदि कोई मुग़लकालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुग़लों से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र हैं, तो उनकी जंगली भाषा भी रहनी चाहिए और इतने पर भी क्या वह नाटक हिन्दी का ही रह जायगा ? यह विपत्ति कदाचित् हिन्दी नाटकों के लिए ही है।'[5] अतः प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है कि 'पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए; किन्तु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और

---

१. **रंगमंच (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ १०३-१०४।
२. **वही**, पृष्ठ १०६। ३. **वही**, पृष्ठ १०८।
४. **वही**, पृष्ठ ११०। ५. **वही**, पृष्ठ १०९।

विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।'[१]

काव्य का प्रतिपाद्य विषय

प्रसाद काव्य की आत्मा रस मानते हैं और काव्य में उसी आत्मा को संकल्पात्मक अनुभूति का निरूपण किया जाता है। अतएव काव्य का प्रतिपाद्य विषय हुआ आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति का रसमय विवेचन। किन्तु प्रसाद का कथन है कि 'वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।'[२] इससे स्पष्ट है कि काव्य में जिस रस का विवेचन किया जाता है, वह मुख्यतया दार्शनिक रहस्यवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि प्रसाद ने स्पष्ट लिखा भी है कि 'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।'[३] इस रहस्यवाद के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह विचार रहा है कि यह भारतीय परम्परा में विकसित विचार-धारा नहीं है, इसका मूल उद्गम पश्चिम की सेमेटिक धर्म-भावना है।[४] परन्तु प्रसाद का स्पष्ट मत है कि जो विद्वान् रहस्यवाद का मूल उद्गम सेमेटिक धर्म-भावना को मानते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि इस रहस्यवाद में ईश्वर और जीव तथा ईश्वर और जगत् की अद्वैत भावना के साथ-साथ 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय करने का जो प्रयत्न हुआ है, वह भारत की निजी देन है, कहीं बाहर की वस्तु नहीं है।'[५] क्योंकि शाम देश के यहूदी, जिनके पैगम्बर मूसा इत्यादि थे, सिद्धान्त में ईश्वर को उपास्य और मनुष्य को जिहोवा (यहूदियों के ईश्वर) का उपासक अथवा दास मानते थे। सेमेटिक धर्म में मनुष्य की ईश्वर से समता करना अपराध समझा गया है। क्राइस्ट ने अपने को ईश्वर का पुत्र कहा था, तो मनुष्य का ईश्वर से यह सम्बन्ध जिहोवा के उपासकों ने सहन नहीं किया और उसे सूली पर चढ़ा दिया। यहूदियों के अनुयायी मंसूर ने 'अनल-हक़' अर्थात् 'मैं ही हक़ या ईश्वर हूँ' कहा था, उसे भी फाँसी दे दी गई। ऐसे ही विचार रखने पर सरमद का सर काटा गया। इस तरह सेमेटिक धर्म भावना के विरुद्ध चलने वाले ईसा, मंसूर, सरमद आदि आर्य-अद्वैत-धर्म-भावना से अधिक परिचित थे।[६] अतएव भारतीय अद्वैतवाद या अभेदवाद से परिपूर्ण रहस्यवाद की भावना सेमेटिक नहीं है, अपितु भारतीय परम्परा में ही विकसित हुई है। इसका

---

१. रंगमंच (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १०९-११०।
२. रस (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ८०।
३. रहस्यवाद (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ४६।
४. काव्य में रहस्यवाद (निबंध), चितामणि भाग २, पृष्ठ ५०-१७२।
५. रहस्यवाद (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ६९।
६. वही, पृष्ठ ४६।

मूल उद्गम वैदिक साहित्य है, जिसमें आत्मा एवं परमात्मा के अद्वैत भाव को समझ कर इस आत्मवाद की सर्वप्रथम प्रतिष्ठा इन्द्र ने की थी। ये ही विचार उपनिषदों में पल्लवित हुए और उपनिषदों से यही अद्वैत एवं अभेद की विचारधारा आगमों में विकसित हुई। शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्य वाला रहस्य सम्प्रदाय, वैष्णवों का माधुर्य भाव और उनके प्रेमा-भक्ति का रहस्य तथा काम-कला की सौन्दर्य-उपासना आदि का उद्गम वेद और उपनिषद् ही हैं।[१] इसी कारण प्रसाद का स्पष्ट विचार है कि वेदों और उपनिषदों से यह धारा संस्कृत-साहित्य में आई है, जहाँ विश्व-सुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप करके वाङ्मय की रचना हुई है। "यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्य-लहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनुकरण-मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा 'अहं' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें संदेह नहीं।"[२] अतएव प्रसाद दार्शनिक रहस्यवाद को भारत की अपनी देन मानकर ही काव्य का मुख्य विषय मानते हैं, इसी में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है और होती है तथा इसी में काव्य की आत्मा—रस की अखंडता एवं पूर्णता देखी जाती है। यह रसानुभूति अखंड एवं अभेद होने के कारण कभी निम्न कोटि की नहीं होती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तामणि' में रस की जिस नीची अवस्था का निरूपण किया है[३], उसका विरोध करते हुए प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है कि 'इधर एक निम्न कोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है। कुछ लोग कहते हैं कि जब किसी अत्याचारी के अत्याचार को हम रंगमंच पर देखते हैं, तो हम नट से अपना साधारणीकरण नहीं कर पाते। फलतः उसके प्रति रोष-भाव ही जाग्रत होता है, यह तो स्पष्ट विषमता है।' किन्तु रस में फल-योग अर्थात् अंतिम संधि मुख्य है, इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं; रस की खोज कर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक मात्र हैं। अन्वय और व्यतिरेक से, दोनों प्रकार से वस्तु-निर्देश किया जाता है। इसलिए मुख्य रस का आनन्द बढ़ाने में ये सहायक मात्र ही हैं, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती।[४]

---

१. **रहस्यवाद (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ४९।

२. **वही**, पृष्ठ ६८-६९।

३. **साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद (निबंध), चिंतामणि, भाग १**, पृष्ठ ३१३-३१४।

४. **नाटकों में रस का प्रयोग (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ८३।

इसी कारण प्रसाद रस को अखंड, प्रकाशानंदमय, आत्मचैतन्य से परिपूर्ण ब्रह्म ही मानते हैं, जिसकी एक सीमा 'शृङ्गार' और दूसरी सीमा 'शान्त' है तथा जो अभेद रूप में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति के रूप में काव्य में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।[१] अतः प्रसाद की दृष्टि में काव्य का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय वह दार्शनिक रहस्यवाद ही है, जो अभेद, अद्वैत एवं समरसता के साथ रस अथवा आनन्द की सुदृढ़ भूमि पर स्थित है, जिसमें जगत् और अन्तरात्मा की अभिन्नता की विवृति होती है तथा जिसमें वाह्य वर्णन की अपेक्षा अभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रधानता रहती है।

काव्य-शैली

काव्य की शैली से तात्पर्य काव्य के उस रचना-तत्त्व से है, जिसके द्वारा आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। डा० श्यामसुंदर दास ने इसी कारण लिखा है 'किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है।'[२] यह काव्य की वह शक्ति है जिसके द्वारा भावों, विचारों और कल्पनाओं को व्यक्त किया जाता है।[३] इसीलिए इसके अन्तर्गत काव्य के वे सभी अंग आ जाते हैं, जिनका सम्बन्ध रचना से है अर्थात् भाषा, गुण, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति आदि सभी काव्यांग शैली के उपकरण मात्र हैं और इनके माध्यम से ही कवि या लेखक अपनी आत्मानुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। प्रसाद का विचार है कि हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में रीति-काल के अन्तर्गत बाह्य वर्णन का प्राधान्य था और उसी के अनुकूल भाषा एवं शैली का प्रयोग हिन्दी में होता था, परन्तु आधुनिक युग में जब कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। इन छायावादी रचनाओं में रीतिकालीन वाह्य वर्णन से भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति प्रारम्भ हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। अतः इन अभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा से वाह्य स्थूल आकार में अर्थात् रचना-शैली में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न हुई। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक हो गया और हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय अभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। इससे शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।[४] जिसका परिणाम यह हुआ कि कवि-कर्म बाह्य उपाधि से हटकर आन्तर हेतु की ओर प्रेरित

---

१. **रस (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ७४, ७७, ७८।

२. **साहित्यालोचन**, पृष्ठ ३०२। ३. **साहित्यालोचन**, पृष्ठ ३०३।

४. **यथार्थवाद और छायावाद (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ १२३-१२४।

हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन नये शब्दों की योजना हुई, हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे।[१] किन्तु नवीन शब्द-योजना का प्रचार होते ही इन नवीन शब्दों के द्वारा नवीन अर्थों की अभिव्यक्ति होने लगी। कवि के वे नवीन शब्द उसकी नवीन वाणी के द्योतक थे, जिसमें अभिधा से विलक्षण लक्षणा एवं व्यंजना की प्रधानता थी, जिसमें एक स्वतन्त्र लावण्य रहता था, जो कवि की वैदग्ध्य-भंगिमा से ओतप्रोत थी, जिसमें शब्द की वक्रता के साथ अर्थ की वक्रता भी लोकोत्तीर्ण रूप में अवस्थित रहती थी और जिसमें शब्दार्थ की वक्रता वर्ण से लेकर प्रबंध तक में एक अद्भुत दीप्ति उत्पन्न करती थी।[३] इतना ही नहीं, इस रचना-शैली में उन अलंकारों का प्रयोग किया जाता था, जो प्रतीयमान होते थे अथवा जो युवती के लज्जा-आभूषण की भाँति अपनी सहज सुषमा से कविता को अलंकृत करते थे। इन अलंकारों में जिन उपमाओं का प्रयोग किया जाता था, वे बाह्य साम्य से भिन्न आन्तरिक साम्य पर आधारित होती थीं और उनमें ध्वन्यात्मकता का प्राधान्य रहता था।[३] इसी कारण प्रसाद ने छायावादकालीन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता एवं तरलता स्वीकार की है, उसे विचित्र बतलाया है।[४] प्रसाद के मत से आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति के लिए ऐसी रचना-शैली परमावश्यक है, जिसमें बाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर बढ़ती है, जिसमें ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान एवं उपचार-वक्रता के द्वारा स्वानुभूति की विवृति होती है और जिसमें अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली कान्तिमयी अभिव्यक्ति होती है।[५]

काव्य का चरम लक्ष्य—आनन्द

कुछ विद्वान् काव्य का अन्तिम उद्देश्य मनोरंजन मानते हैं और कुछ काव्य का चरम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य स्थापन करना स्वीकार करते है।[६] परन्तु प्रसाद ने जिस तरह जीवन का चरम लक्ष्य 'आनन्द' घोषित किया है, उसी तरह जीवन की मूल अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने वाले काव्य का चरम लक्ष्य भी 'आनन्द' स्वीकार किया है।[७] साथ ही प्रसाद ने जिस तरह समरसता के द्वारा जीव को अखण्ड आनन्द की प्राप्ति का होना सिद्ध किया है, उसी तरह यह भी बताया है कि आनन्द रूपी रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता है।[८] प्रसाद का मत है कि काव्य की आत्मा रस

---

१. **यथार्थवाद और छायावाद (निबन्ध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध,** पृष्ठ १२४।

२. **वही**, पृष्ठ १२४-१२५।

३. **वही**, पृष्ठ १२६-१२७।

४. **वही**, पृष्ठ १२७।

५. **वही**, पृष्ठ १२८।

६. **चिन्तामणि, भाग १**, पृष्ठ २२१।

७. **रस (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ७६।

८. **वही**, पृष्ठ ७६।

के बारे में दो प्रकार की व्याख्याएँ हुई हैं। प्रथम वर्ग के व्याख्याकार तो वे आचार्य हैं, जिनका साहित्य-शास्त्र से प्रभावित होने के कारण बुद्धिवादी तार्किक दृष्टिकोण रहा है। आनन्दवर्धनाचार्य से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्य बुद्धिवादी तार्किक वर्ग के अन्तर्गत ही आते हैं।[1] द्वितीय वर्ग के प्रमुख आचार्य हैं प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित अभिनवगुप्ताचार्य, जिन्होंने रस की व्याख्या में आनन्द-सिद्धान्त की अभिनेय काव्य वाली परम्परा का पूर्ण उपयोग किया है और नाट्य रसों की व्याख्या में अभेदमय आनन्द-रस को पल्लवित किया है।[2] प्रथम वर्ग के बुद्धि-वादी व्याख्याकारों ने अपनी तर्कपूर्ण पद्धति द्वारा भरतमुनि के "विभावानुभावव्यभि-चारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" नामक सूत्र की विविध प्रकार से व्याख्याएँ की थीं, जिनमें से सर्वाधिक मान्य व्याख्या भट्टनायक की थी, जिन्होंने साधारणीकरण के सिद्धान्त की स्थापना करके यह प्रचारित किया था कि साधारणीकरण द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट हो जाती है और दर्शक या पाठक ऐसे रस का भोग करते हैं, जो लोक-सामान्य प्रकाशानंदमय है और जिसमें आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा है।[3] कश्मीर-निवासी आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि का प्रचार करके रस, वस्तु और अलंकार तीनों को ध्वनि के अन्तर्गत स्वीकार किया था, परन्तु वस्तु और अलंकार ध्वनि की अपेक्षा रस-ध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित किया।[4] इन तार्किक बुद्धिवादियों ने रस को अनुमेय, भोज्य, ज्ञाप्य एवं व्यंग्य आदि घोषित करके बड़ा बखेड़ा खड़ा किया था, किन्तु अभिनवगुप्त ने अपनी पांडित्यपूर्ण विवेचन-शैली द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि काव्य की आत्मा रस है[5] और साधारणीकरण का जो सिद्धान्त भट्टनायक ने प्रचलित किया था, उसे भी अभिनवगुप्त ने अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने बताया कि 'वासनात्मकतया स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित हो जाने पर आनन्द-स्वरूप हो जाती हैं। उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है।'[6] वासनात्मक रूप से स्थित रति आदि वृत्तियों में ब्रह्मास्वाद की कल्पना तो पहले भी बुद्धिवादी तार्किक आचार्य कर चुके थे, परन्तु उनका मत न तो सहृदय-संवेद्य था और न सर्व-साधारण को ही सन्तुष्ट कर पाता था, किन्तु अभेदमय आनन्द-पथ वाले शैवाद्वैतवादी [illegible] की व्याख्या से सभी की शंकाओं का समाधान हो गया। क्योंकि प्रसाद ने लिखा है—"उनके यहाँ कहा गया है, 'लोकानन्द समाधिसुखं' (शिवसूत्र १८)। क्षेमराज उसकी टीका में कहते हैं, 'प्रमातृ[illegible]विश्रान्ति अवधानान्तश्चमत्कार-मयो य आनन्द एतदेव अस्य समाधिसुखम्।" इस प्रमातृ-न्द-विश्रान्ति में जिस

---

१. **रस (निबंध), काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ७४-७५।

२. **वही**, पृष्ठ ७६।

३. **वही**, पृष्ठ ७४।

४. **वही**, पृष्ठ ७५।

५. **वही**, पृष्ठ ७४-७५।

६. **वही**, पृष्ठ ७६।

चमत्कार या आनन्द का लोक-संस्था आनन्द के नाम से संकेत किया गया है, वही रस के साधारणीकरण में प्रकाशानंदमय संविद् विश्रान्ति के रूप में नियोजित था। इन आलोचकों का यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि चित्तवृत्तियों की आत्मानंद में तल्लीनता समाधि-सुख ही है। साहित्य में भी इस दार्शनिक परिभाषा को मान लेने से चित्त की स्थायी वृत्तियों (स्थायी भावों) की बहुसंख्या का कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया। सब वृत्तियों का प्रमातृपद अर्थात् 'अहम्' में विश्रान्ति होना ही पर्याप्त था। इस तरह साधारणीकरण द्वारा आत्म-चैतन्य या रसानुभूति में, पूर्ण अहंपद में विश्रान्ति हो जाना आगमों की दार्शनिक सीमा है।'[१] इस प्रकार शृंगार से लेकर शान्त रस तक समस्त रसों का अन्तर्भाव एक आनन्द रूपी रस में हो जाता है, क्योंकि सभी रस समरसता के कारण प्रकाशानंदमय है और सभी के अन्तर्गत ब्रह्मानंद विद्यमान है। अतः जिस तरह आनन्दवादी दार्शनिक आचार्य अभिनवगुप्त ने यह सिद्ध किया कि वासना-रूप से स्थित रति आदि सभी वृत्तियाँ साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित हो जाने पर आनंद रूप हो जाती हैं, उसी तरह प्रसाद भी यही मानते हैं कि 'रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्व विद्यमान है'[२] जिससे काव्य की समस्त स्थायी वृत्तियाँ, जो रस-रूप ग्रहण किया करती हैं, समरसता के कारण अभेदमय आनंद को प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् सम्पूर्ण स्थायीभाव अथवा सम्पूर्ण रस एक आनन्द के ही अन्तर्गत विश्रान्ति प्राप्त करते है। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद के मत से काव्य का चरम लक्ष्य 'आनन्द' है। उसी आनंद को ब्रह्म कहते हैं और काव्य की आत्मा रस को लोक-सामान्य प्रकाशानंदमय कहकर उसी आनन्द रूपी रस में आत्म-चैतन्य की प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं। साथ ही प्रसाद यह भी सिद्ध करते हैं कि काव्य में आत्मा की जिस संकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है, वह आत्मा की मूल अनुभूति इसी रस अथवा आनन्द में पूर्णता को प्राप्त होती है।[३]

निष्कर्ष यह है कि प्रसाद ने एक दार्शनिक मनीषी की भाँति ही काव्य पर विचार किया है। उनकी दृष्टि में काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति का भंडार होने के कारण पूर्णतया आध्यात्मिक है, जो अपने वर्णमय शरीर से अभिव्यक्त होता है; जिसकी आत्मा रस है, जो दार्शनिक रहस्यवाद से पूर्णतया अनुप्राणित है; जिसमें समरसता के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' में समन्वय किया जाता है, जो श्रेयमयी प्रेय-रचना होने के कारण शिक्षा एवं मनोरंजन के साथ-साथ लोक-मंगल का विधायक है, जिसमें वैदग्ध्य-भंगिमा द्वारा अभिधा से विलक्षण लाक्षणिक एवं ध्वन्यात्मक वाक्य-विन्यास द्वारा सूक्ष्म आन्तरिक भावों की विवृति होती है तथा जो अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध स्थापित करके अभेदमय आनन्द-रस का प्रदाता है।

---

१. रस (निबंध), **काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृष्ठ ७७।

२. **वही**, पृष्ठ ७७। ३. **वही**, पृष्ठ ८०।

परिशिष्ट—२

प्रसाद की दार्शनिक शब्दावली

अन्तर्यामी—अंतःकरण की सभी बातों को जानने वाला परमात्मा।

इसे तो **अन्तर्यामी** भगवान् ही जान सकते हैं। (आँधी, पृष्ठ ८०)

मै कौन हूँ किसी को देने वाला, वही **अन्तर्यामी** सबको देता है।

(कंकाल, पृष्ठ १३)

अन्तरात्मा—सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरण में विद्यमान चैतन्य या आत्मा।

अन्तरात्मा के उस प्रसन्न-गम्भीर उल्लास को इस तरह कदर्थित करना अपराध है। (ए०, ३१)

इतनी छीना-झपटी, इतना स्वार्थ-साधन कि सहज-प्राप्य **अन्तरात्मा** की सुख-शान्ति को भी लोग खो बैठते हैं। (अ०, ११३)

अन्तरात्मा को प्रकृतिस्थ करने का उद्योग करो। (ज० ना०, ७४)

अखिल-लोक-ललाम—सम्पूर्ण विश्व में सर्वाधिक सुन्दर परमात्मा।

जय अखिल लोक ललाम। (रा०, ६३)

अक्षय लोक—ब्रह्म-लोक, शिव-लोक अथवा अखंड आनन्द-लोक।

इस यंत्रणा और प्रतारणा से भरे हुए संसार की पिशाच-भूमि को छोड़कर **अक्षय लोक** को गई। (स्कं०, ११४)

अक्षय सम्मेलन—पूर्ण विलय, मोक्ष।

एक सिधु में मिलकर **अक्षय सम्मेलन** होगा सुन्दर,
फिर न बिछुड़ने का भय तुमको-मुझको होगा कहीं कभी। (प्रे० प०, २५-२६)

अग जग—चराचर जगत्।

जो चूम चला जाता **अग जग** प्रति पग में कम्पन की तरंग। (का०, १५७)

वह कामायनी विहँसती **अग जग** था मुखरित होता। (का०, २९०)

अज्ञान—अपूर्ण ज्ञान।

कर रहा हूँ मैं करूँगा फल ग्रहण इस ध्यान से,
कर रहा जो कर्म, वह तो भ्रान्त है **अज्ञान** से। (का० कु०, ११६)

अटल अदृष्ट का नियामक—स्थिर एवं अमिट भाग्य का विधान करने वाला परमेश्वर।
मूर्ख ! अभागा कौन है ? जो संसार के सबसे पवित्र धर्म कृतज्ञता को भूल जाता है, और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक **अटल अदृष्ट का नियामक** सर्वशक्तिमान् है; वह या मैं ? (स्कं०, ५०)

अणु—सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का निर्माण करने वाला सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण।
अणुओं को है विश्राम कहाँ यह कृतिमय वेग भरा कितना। (का०, ६५)
वसुधा पर होता क्या है **अणु अणु** क्यों हैं मचल रहे। (का०, २०५)
अपना ही **अणु-अणु** कण-कण द्वयता ही तो विस्मृति है। (का०, २८९)

अदृष्ट—भाग्य।
लिखता **अदृष्ट** था विधाता वाम कर से। (लहर, ५३)
लोगों की **अदृष्ट** लिपि लिखी-पढ़ी जाती थी। (लहर, ७७)
छली **अदृष्ट** अभाव बना क्यों वहीं प्रकट होता है। (का०, १३१)
वे सोच रहे थे 'आज वही मेरा **अदृष्ट** बन फिर आया।' (का०, १६७)
मेरी **अदृष्ट** लिपि वैसी ही है जैसी अग्नि रेखाओं से कृष्ण मेघ में बिजली की वर्णमाला ? एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होने वाली। (स्कं०, १२६)
अच्छा, शान्त होकर सुनो। **अदृष्ट** की लिपि ही सब कुछ कराती है। (ज० ना०, ४३)
अदृष्ट मुझे अज्ञात पथ पर खींच रहा है। (आ०, ९८)
तब तो **अदृष्ट** ही कुमार के जीवन का सहायक होगा। (ध्रु०, १३)
नहीं महाराज, **अदृष्ट** तो मेरा सहारा है। (अ०, ३८)
नियति कुछ **अदृष्ट** का सृजन कर रही है। (चं०, २१२)
अदृष्ट ! खेल न करना ! चन्द्रगुप्त मरण से भी अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है। (चं०, २२९)
जिसके व्यक्तित्व में **अदृष्ट** ने अपने हाथों से सहायता दी है, वह उन बाधाओं से अनजान है, जो संसार के जंगल में भटकने वाले निस्संबल प्राणी के सामने जाती हैं। (ति०, ११६)

अद्वैत—ब्रह्म, शिव, द्वैत एवं भेद-भाव से रहित।
उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती और न उसका चेतनमय स्वभाव उससे भिन्न होता है। वही एक '**अद्वैत**' है। (ज० ना०, ११)
यह भक्ति का आरम्भिक स्वरूप आगमों में **अद्वैत** की भूमिका पर ही सुगठित हुआ। यह भक्ति भेद-भाव, द्वैत, जीवात्मा और परमात्मा की भिन्नता को नष्ट करने वाली थी। (का० नि०, ५६)

अनंत—असीम एवं अन्त-हीन परमात्म-शक्ति।
सुषमा वनदेवता बनी—करती आदर थी **अनंत** का। (वि०, ११)

जीवन के लघु दीप को **अनंत** की धारा में बहा देने का यह संकेत है।
(इ०, ५६)

क्षीरनिधिशायी **अनंत** की प्रसन्नता के लिए क्या दासियों से आकाशदीप जलवाऊँ? (आ०, ८)

अनंत अनल शिखा— असीम ज्योतिर्मय परमात्म-शक्ति।

कितने राज-रक्त-पूर्ण शरीर, परिश्रम करते-करते मर-पच गये—उस **अनंत अनल शिखा** में—जहाँ चरम शीतलता है, परम विश्राम है।
(कं०, २१५)

अनंत चेतन—चैतन्य से परिपूर्ण असीम ब्रह्म।

वह **अनन्त चेतन** नचता है उन्मद गति से। (का०, १६३)

अनंतनिधि के नाविक—संसार रूपी असीम सागर के कर्णधार—शिव या ब्रह्म।

इस **अनंत निधि के नाविक** हे! (चं०, २०८)

अनंत पथ—संसार, विश्व।

इस **अनंत पथ** के कितने ही छोड़-छोड़ विश्राम-स्थान,
आये थे हम विफल देखने, नव बसन्त का सुन्दर मान। (झ०, १६)

अनंत मंदिर—परब्रह्म के रहने का स्थान नित्य जगत्।

उसका **अनंत मंदिर** यह विश्व ही बना है। (का० कु०, ६)

अनंत रमणीय—असीम सौन्दर्यशाली परब्रह्म।

हे **अनंत रमणीय**! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता। (का० २६)

अनंत विश्राम—मोक्ष, निर्वाण।

जीवन की सारी क्रियाओं का अंत केवल **अनंत विश्राम** में है। (अ०, ३७)

अनस्तित्व—प्रलय, विध्वंस या संहारकारी कार्य।

धू-धू करता नाच रहा था **अनस्तित्व** का तांडव नृत्य। (का०, २०)
उस अस्तित्व को **अनस्तित्व** के साथ मिलाकर कितना सुखी होता।
(अ०, १४२)

अभेद सागर—शिव या ब्रह्म से अभिन्न जगत् रूपी समुद्र।

वैसे **अभेद सागर** में प्राणों का सृष्टि-क्रम है। (का०, २८८)

अमूर्त-मूर्त—ब्रह्म के निराकार एवं साकार स्वरूप।

वायु और आकाश ब्रह्म के **अमूर्त** रूप हैं तथा इनसे इतर **मूर्त** रूप हैं।
(का० नि०, ३४)

अलख-अरूप—अगोचर एवं निराकार ब्रह्म।

अलख अरूप तेरा नाम सब सुखधाम। (रा०, ६८)

अविद्या—अज्ञान।

आद्य **अविद्या** कर्म हुआ क्यों जीव स्ववश तब कैसा था। (ज० ना०, ४७)

अविनश्वर-नश्वर—ब्रह्म के अपरिवर्तनशील एवं परिवर्तनशील रूप।

अविनश्वर तथा **नश्वर** दोनों ब्रह्म के रूप हैं। वायु और आकाश **अविनश्वर** है, इनसे इतर **नश्वर** (परिवर्तनशील) हैं। (का० नि०, ३४)

अशरण-शरण—अनाथों का रक्षक परमात्मा।

यदि तुम्हें कोई कष्ट हो तो उस **अशरण-शरण**-चरण में लोटकर रोओ, वे अश्रु तुम्हें सुधा के समान सुखद होंगे और तुम्हारे सब सन्ताप को हर लेंगे। (चि०, १३७)

असत—मिथ्या, विनाशशील, अनित्य।

संसार को **असत** समझने वाला मनुष्य कैसे किसी काम को विश्वासपूर्वक कर सकता है। (ति०, ९४)

अष्टमूर्ति—परम शिव की आठ मूर्तियाँ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिनेश, चन्द्र और सज्जन के रूप में वह शिव यहाँ जगत् में अभिव्यक्त हो रहा है—**अष्टमूर्ति** (कविता) (चित्राधार, १३९-४०)

अहंता—अहंकार, अहम्मन्यता।

दूसरा अपूर्ण **अहंता** में अपने को समझ रहा प्रवीण। (का०, १६१)

अहमिति—अहं भाव, 'मैं हूँ' की भावना, आत्मा।

पूर्णानुभव कराता है जो '**अहमिति**' से निज सत्ता का। (ज० ना०, १०६)

अहम् और इदम्—जीवात्मा और जगत्।

इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा **अहं** का **इदम्** से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। (का० नि०, ६६)

आत्मा—चैतन्य या शुद्ध चेतन, जो प्राणशक्ति के रूप में जीवों के अन्तर्गत विद्यमान है।

मेरी स्वतन्त्र **आत्मा** पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता। (चं०, १०३)

सच्चा वेदान्त व्यावहारिक है। वह जीवन-समुद्र **आत्मा** को उसकी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ समझता है। (ति०, ९४)

आत्मवाद—आत्मा को सर्वत्र व्याप्त मानने वालों का सिद्धान्त।

गीता द्वारा धर्म की, विश्वात्मा की, विराट् की, **आत्मवाद** की विमल व्याख्या हुई। (कं०, १५३)

भारतीय **आत्मवाद** के मूल में व्यक्तिवाद है, किन्तु उसका रहस्य है समाज-वाद की रूढ़ियों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना। (ति०, ९४)

आरम्भिक वैदिककाल में प्रकृति-पूजा अथवा बहुदेव-उपासना के युग में ही **आत्मवाद** की प्रतिष्ठा पल्लवित हुई और **आत्मवाद** के इन्द्र प्रतिनिधि माने गये। (का० नि०, ४९)

इन्द्र के **आत्मवाद** की प्रेरणा ने आर्यों में आनन्द की विचारधारा उत्पन्न की।
(का० नि०, ५०)

आत्मशक्ति के विस्मृत विद्युत्कण—वे जीव, जो अपने यथार्थ रूप को भूले हुए हैं।
आत्मशक्ति के विस्मृत विद्युत्कण ! अपने स्वरूप में चमक उठो ! उठो !
मंगलमय जागरण के लिए विषाद-निद्रा से उठो। (इ०, ५८)

अध्यात्मवादी—सर्वत्र व्याप्त एक आत्मा में विश्वास रखने वाले।
मैं मानता हूँ कि पश्चिम एक शरीर तैयार कर रहा है, किन्तु उसमें प्राण देना पूर्व के **अध्यात्मवादियों** का काम है। यहीं पूर्व और पश्चिम का वास्तविक संगम होगा, जिससे मानवता का स्रोत प्रसन्न-धार में बहा करेगा।
(ति०, १३०)

आनंद—दिव्य सुख, आध्यात्मिक प्रसन्नता, मोक्ष का शाश्वत सुख।
हम जो करते हैं, जो सुनते हैं, जो देखते हैं, जो समझते हैं, सब वही है।
जब यह बुद्धि हो जाती है, तब मनुष्य को **आनंद** ही आनंद मिलता है।
(चि०, १३७)

आनंद के तरल वीचिन में बिहारै। (चि०, १५३)
मानव-जीवन की मूल सत्ता में **आनंद** है। (ए०, १७)
विश्व की कामना का मूल रहस्य **'आनंद'** ही है, अन्यथा वह 'विकाम' न होकर दूसरा ही कुछ होता। (ए०, १७)
माँ तुम शक्तिस्वरूपा हो, अन्तर्निहित **आनंद** की अग्नि प्रज्वलित करो ! सब मलिन कर्म उसमें भस्म हो जायेंगे ! उस **आनंद** के समीप पाप आने से डरेगा। (इ०, ५९)
सबको आलिंगित करके आत्मा का **आनंद** स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहे, यह स्थिति क्या अच्छी नहीं ? (इ०, १०४)
कर रही लीलामय **आनंद** महाचिति सजग हुई सी व्यक्त। (का०, ५३)
चेतनता एक विलसती **आनंद** अखंड घना था। (का०, २९४)

आनंद-अम्बुनिधि—शाश्वत सुख का सागर, परम शिव।
मिलो उसी **आनंद-अम्बुनिधि** में मन से प्रमुदित होकर,
यह जो क्षणिक वियोग, वहाँ पर नहीं फटकने पावेगा। (प्रे०, २५)
निज शक्ति तरंगायित था **आनंद-अम्बुनिधि** शोभन। (का०, २८६)

आनन्द-घन—आध्यात्मिक सुख की वर्षा करने वाले मेघरूपी परम शिव।
मन चलकर जायगा कहाँ ? बाहर-भीतर **आनन्द-घन** शिव के अतिरिक्त दूसरा स्थान कौन है ? (का० नि०, ५९)

आनन्द-भूमि—शाश्वत सुख का स्थान, ब्रह्म या परम शिव का धाम।
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।
अथवा उस **आनंद-भूमि** में जिसकी सीमा कहीं नहीं। (प्रे० प०, १६-१७)

आनन्द-मन्दिर—शाश्वत सुख का स्थान, जगत् ।

वह मूर्ति बोली—भक्तवर ! क्यों यह परिश्रम हो रहा,
क्यों विश्व का **आनंद-मंदिर** आह ! तू यों खो रहा ? (का० कु०, ३०)

आशुतोष—शीघ्र सन्तोष प्रदान करने वाले परम शिव ।

आशुतोष तब आशु-शान्ति अभिनव तेहि दीन्हों । (चि०, ६६)
जो पै निहारि मम कर्महिं ध्यान दैहौ,
तौ **आशुतोष** पद ख्यातहिं को नसैहौ । (चि०, १५५)

इन्द्रजाल—माया का प्रपंच, भौतिक रहस्य, जादू ।

इस **इन्द्रजाल** की महत्ता में जीवन कितना लघु है । (रा०, ६५)
प्यारे देशवासियो, लौट चलो, इस **इन्द्रजाल** की भयानकता से भागो । (कामना, ९७)
इस महाशून्य में तेरा **इन्द्रजाल** किसे नहीं भ्रान्त करता । (रा०, ५५-५६)
इन्द्रजाल जननी ! रजनी तू क्यों अब इतनी मधुर हुई । (का०, ३८)
और देखा वह सुन्दर दृश्य नयन का **इन्द्रजाल** अभिराम । (का०, ४६)
मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस **इन्द्रजाल** से मुझे बचाओ । (का०, २६१)

इन्द्रजाली—माया के प्रपंचरूप इस जगत् का रचयिता परमेश्वर ।

यदि यह विश्व इन्द्रजाल ही है, तो उस **इन्द्रजाली** की अनन्त इच्छा को पूर्ण करने का साधन—यह मधुर मोह चिरजीवी हो । (स्कं०, २५)

इच्छा—परम शिव की एक शक्ति जिसके जाग्रत होने पर वे सृष्टि का निर्माण करते हैं ।

सर्ग, **इच्छा** का है परिणाम । (का०, ५३)
भाव-चक्र यह चला रही है **इच्छा** की रथ-नाभि घूमती । (का०, २६४)

ईश—परमात्मा, शिव ।

ईश-कृपा से आज अचानक पा गया । (क०, २३)
ईश-कृपा से नव विद्या इन महँ परचारो । (चि०, ७४)
ईश प्रेरक शक्ति है हृदयन्त्र में सब जीव के । (का० कु०, ११६)
ईश का यह रहस्य वरदान कभी मत इसको जाओ भूल । (का०, ५३)

ईशान—सृष्टि के स्वामी परम शिव ।

ईशान नाम तव, नाथ अनाथ के हौ । (चि०, १५५)

उमा—पार्वती, शिव की अभिन्न शक्ति ।

उमा, तपस्वी हर के समीप पुष्प-पात्र लेकर जाती है । (इ०, ११)

एकलिंगेश्वर—परम शिव ।

भगवान् **एकलिंगेश्वर** कैसे इस दुःसाध्य कार्य को पूर्ण करते हैं, यह वही जानें । (छाया, ६१)

एकेश्वरवाद—आत्मा से भिन्न किसी एक ईश्वर या परमात्मा में विश्वास प्रकट करने वालों का मत।

आरम्भिक वैदिक काल में प्रकृति-पूजा अथवा बहुदेव-उपासना के युग में ही 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुसार **एकेश्वरवाद** विकसित हो रहा था। इस **एकेश्वरवाद** के प्रतिनिधि वरुण माने गये। (का० नि०, ४६)

करुणानिधान—अनन्त दयालु परमात्मा।

करुणानिधान सुन्यो तेरी यह बान नित दीन दुखियान पै तिहारी कृपा कोर है। (चि०, १७८)

उस **करुणानिधान** की स्नेहानुभूति इसी में तो झलकती है। (रा०, ६३)

इस अनन्त ज्वालामयी सृष्टि के कर्त्ता, क्या तुम्हीं **करुणानिधान** हो ? (प्र०, १६)

करुणानिधि—अपार कृपालु शिव।

करुनानिधि फल देइ सकत नहिं उनहू को दुख हरि हैं। (चि०, १८५)

सचमुच ऐसा करुण दृश्य क्या **करुणानिधि** को भाता है। (प्रे० प०, २२)

करुणानिधे, यह करुण-क्रन्दन भी जरा सुन लीजिए। (का० कु, ७)

करुणानिधे, हों दुःखसागर में कि हम आनन्द में। (का० कु०, ६३)

करुणापारावार—असीम दया के सागर शिव।

करुणापारावार देहु नाथ निज चरण रति।

—इन्दु, कला १, किरण ८, फा० २, १६६६ वि०

करुणालय तथा करुणावरुणालय—कृपा के सागर परमात्मा।

त्राहि-त्राहि **करुणालय** ! करुणा सद्म में रखो बचा लो ! विनती है पद पद्म में। (क०, २०)

करुणावरुणालय, जगदीश, दयानिधे, सब यों ही आनन्द सहित सुख से रहें। (क०, २४)

कर्त्ता—सृष्टि के रचयिता परम शिव।

है वही **कर्त्ता** वही फलभोक्ता संसार का। (का० कु०, ११६)

कर्म-फल—जीवों के द्वारा किए गए भले-बुरे कार्यों का भला-बुरा परिणाम।

हृदय थका है नहीं विपुल बल पूर्ण है,
क्योंकि **कर्म-फल** लाभ एक बल है स्वयं। (म० म०, ८)

किन्तु **कर्म-फल** तो स्वयं समीप आते हैं, उनसे भागकर कोई बच नहीं सकता। (ज० ना०, ४४)

अपने कुकर्मों का फल चखने में कड़वा, परन्तु परिणाम में मधुर होता है। (स्कं०, १३४)

अपने-अपने **कर्म-फल** तो भोगने ही पड़ेंगे। (क०, १२२)

अपनी **करनी का फल** भोग रहा हूँ। (कं०, १३८)

जब अपने कर्मों का फल ही भोगना है, तब कर्म छोड़ देने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं। (इ०, ३८)

कर्म-योग—निष्काम होकर सदैव सत्कर्म में लीन रहने का भाव।

कर्मयोग-रत मानव को जैसी सदा मिलती है शुभ शान्ति। (म० म०, ७)

कर्मयोग-रत वीर को मिलती सिद्धि सदा अपने सत्कर्म से। (म० म०, १८)

पुरुषोत्तम का संदेश था **कर्मयोग** का। कर्मकुशलता उनका योग है। निष्काम कर्म करना शान्ति है। (कं०, १५८-५६)

कर्मवाद—कर्म का सिद्धान्त, जो जैसा कर्म करेगा वैसा फल पायेगा।

आर्यों का **कर्मवाद** संसार के लिए विलक्षण कल्याणदायक है। ईश्वर के प्रति विश्वास करते हुए भी उसे स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाता है। (कं०, ४०)

हम हिन्दुओं का **कर्मवाद** में विश्वास है। (कं०, १२२)

कला—ईश्वर की संकुचित कर्त्तृत्व शक्ति, सृष्टि-विकास का एक तत्व अथवा जीव को आवृत करने वाले षट् कंचुकों में से एक कंचुक।

शैवागमों में ३६ तत्व माने गये हैं, उनमें **कला** भी एक तत्व है।
(का० नि०, ४२)

कला संकुचित कर्त्तृत्व शक्ति कही जाती है। भोजराज ने भी अपने तत्व-प्रकाश में कहा है—व्यंजयति कर्त्तृशक्ति कलेति तेनेह कथिता सा। शिव-सूत्र-विमर्शिनी मे क्षेमराज ने **कला** के सम्बन्ध में अपना विचार यों व्यक्त किया है—कलयति स्व-स्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति **कला**-व्यापारः। इस पर टिप्पणी है—कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तूनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव **कला** अर्थात् नव नव [illegible] संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम **कला** है। (का० नि०, ४३)

कर्त्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया-सी ललित **कला**। (का०, १६५)

कल्याण-ज्योति—परम शिव का प्रकाश, आत्मा।

सूक्ष्म रूप से जो **कल्याण-ज्योति** मानवता में अन्तर्निहित है, मैं तो उसमें अधिक से अधिक श्रद्धा करता हूँ। (आँधी, २०)

काम—सृष्टि-विकास का प्रेरक तत्व, प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप, कामदेव।

काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग, इच्छा का है परिणाम। (का०, ५३)

मैं **काम** रहा सहचर उनका उनके विनोद का साधन था। (का०, ७१)

उन्हें यह नहीं मालूम कि '**काम**' का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में ही माना जा चुका है—कामस्तदग्रे सम-वर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्। यह **काम** प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है और प्रेम से यह शब्द अधिक व्यापक भी है। जब से हमने प्रेम को 'लव' या इश्क का पर्याय मान लिया, तभी से '**काम**' शब्द की महत्ता कम हो

गई। सम्भवतः विवेकवादियों की आदर्श भावना के कारण इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा। किन्तु **काम** में जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावों को आवृत कर लेती है।
(का० नि०, ४७)

काम-कला—सौन्दर्य, आनन्द एवं उन्मदभाव की परमात्म-शक्ति।
इसी वैदिक काम की आगम शास्त्रों में '**काम-कला**' के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी। यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना-प्रणाली थी। (का० नि०, ४७-४८)

कामेश्वर—परब्रह्म, परम शिव।
आगमों में ऋग्वेद के काम की उपासना '**कामेश्वर**' के रूप में प्रचलित थी और उसका विकसित स्वरूप परिमार्जित भी था। (का० नि०, ६७)

काल—सृष्टि-विकास का एक तत्व, जो परमेश्वर की संकुचित व्यापकत्व शक्ति कहलाता है और जो जीव को आवृत करने वाले षट् कंचुकों में से एक कंचुक है।
गृहपथ के आलोक वृत्त से **काल** जाल तनता अपना। (का०, ३४)
नित्यता विभाजित हो पल पल में '**काल**' निरन्तर चले ढला। (का०, १६५)
शैवागमों में छत्तीस तत्व माने गये हैं, उनमें से **काल** भी एक तत्व है, जो ईश्वर की संकुचित व्यापकत्व शक्ति का स्वरूप माना जाता है।
(का० नि०, ४२)

कीलाल—जल के रूप में अभिव्यक्त परम शिव का स्वरूप।
उपाधि है जीवन जासु जीव को, महाब्धि ह्वै राखत सत्य सींव को।
असीम आनंद तरंग पूर है, प्रसन्न '**कीलाल**' सुविश्व मूर है। (चि०, १३६)

क्रिया—ईश्वर की कर्त्तृत्व शक्ति।
श्रममय कोलाहल पीड़नमय विकल प्रवर्त्तन महायंत्र का,
क्षण भर भी विश्राम नहीं है प्राणदास है '**क्रिया**' तंत्र का। (का०, २६६)

खिलवाड़ तथा खेल—ईश्वर की नित्य क्रीड़ा।
कल्पना कहती है कंदुक है महाशिशु **खेल** का,
जिसका है **खिलवाड़** इस संसार में सब मेल का। (का० कु०, १०)
हम सब में जो **खेल** कर रहा अति सुन्दर परछांई-सा। (ज० ना०, १०६)

खिलवाड़ी—विश्व में नित्य क्रीड़ा करने वाला परम शिव।
चेतना कहती है कि तू राजा है और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी **खिलवाड़ी** बटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है।
(स्कं०, १२८)

गति-विधि-निर्धारक—सृष्टि की समस्त गतिविधियों का निर्धारण करने वाला शिव।
अणु-अणु में जो स्वभाववश **गति-विधि-निर्धारक**। (का० कु०, ६४)

जब अपने कर्मों का फल ही भोगना है, तब कर्म छोड़ देने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं। (इ०, ३८)

कर्म-योग—निष्काम होकर सदैव सत्कर्म में लीन रहने का भाव।

कर्मयोग-रत मानव को जैसी सदा मिलती है शुभ शान्ति। (म० म०, ७)

कर्मयोग-रत वीर को मिलती सिद्धि सदा अपने सत्कर्म से। (म० म०, १८)

पुरुषोत्तम का संदेश था **कर्मयोग** का। कर्मकुशलता उनका योग है। निष्काम कर्म करना शान्ति है। (कं०, १५८-५९)

कर्मवाद—कर्म का सिद्धान्त, जो जैसा कर्म करेगा वैसा फल पायेगा।

आर्यों का **कर्मवाद** संसार के लिए विलक्षण कल्याणदायक है। ईश्वर के प्रति विश्वास करते हुए भी उसे स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाता है। (कं०, ४०)

हम हिन्दुओं का **कर्मवाद** में विश्वास है। (कं०, १२२)

कला—ईश्वर की संकुचित कर्त्तृत्व शक्ति, सृष्टि-विकास का एक तत्व अथवा जीव को आवृत करने वाले षट् कंचुकों में से एक कंचुक।

शैवागमों में ३६ तत्व माने गये हैं, उनमें **कला** भी एक तत्व है।
(का० नि०, ४२)

कला संकुचित कर्त्तृत्व शक्ति कही जाती है। भोजराज ने भी अपने तत्व-प्रकाश में कहा है—व्यंजयति कर्त्तृशक्ति कलेति तेनेह कथिता सा। शिव-सूत्र-विमर्शिनी मे क्षेमराज ने **कला** के सम्बन्ध में अपना विचार यों व्यक्त किया है—कलयति स्व-स्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति **कला**-व्यापारः। इस पर टिप्पणी है—कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तूनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव **कला** अर्थात् नव नव स्वरूप-प्रथोल्लेखशालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम **कला** है। (का० नि०, ४३)

कर्त्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया-सी ललित **कला**। (का०, १६५)

कल्याण-ज्योति—परम शिव का प्रकाश, आत्मा।

सूक्ष्म रूप से जो **कल्याण-ज्योति** मानवता में अन्तर्निहित है, मैं तो उसमें अधिक से अधिक श्रद्धा करता हूँ। (आँधी, २०)

काम—सृष्टि-विकास का प्रेरक तत्व, प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप, कामदेव।

काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग, इच्छा का है परिणाम। (का०, ५३)

मैं **काम** रहा सहचर उनका उनके विनोद का साधन था। (का०, ७१)

उन्हें यह नहीं मालूम कि '**काम**' का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में ही माना जा चुका है—कामस्तदग्रे सम-वर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्। यह **काम** प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है और प्रेम से यह शब्द अधिक व्यापक भी है। जब से हमने प्रेम को 'लव' या इश्क का पर्याय मान लिया, तभी से '**काम**' शब्द की महत्ता कम हो

गई। सम्भवतः विवेकवादियों की आदर्श भावना के कारण इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा। किन्तु **काम** में जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावों को आवृत कर लेती है। (का० नि०, ४७)

काम-कला—सौन्दर्य, आनन्द एवं उन्मदभाव की परमात्म-शक्ति।

इसी वैदिक काम की आगम शास्त्रों में **'काम-कला'** के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी। यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना-प्रणाली थी। (का० नि०, ४७-४८)

कामेश्वर—परब्रह्म, परम शिव।

आगमों में ऋग्वेद के काम की उपासना **'कामेश्वर'** के रूप में प्रचलित थी और उसका विकसित स्वरूप परिमार्जित भी था। (का० नि०, ६७)

काल—सृष्टि-विकास का एक तत्व, जो परमेश्वर की संकुचित व्यापकत्व शक्ति कहलाता है और जो जीव को आवृत करने वाले षट् कंचुकों में से एक कंचुक है।

गृहपथ के आलोक वृत्त से **काल** जाल तनता अपना। (का०, ३४)

नित्यता विभाजित हो पल पल में **'काल'** निरन्तर चले ढला। (का०, १६५)

शैवागमों में छत्तीस तत्व माने गये हैं, उनमें से **काल** भी एक तत्व है, जो ईश्वर की संकुचित व्यापकत्व शक्ति का स्वरूप माना जाता है। (का० नि०, ४२)

कीलाल—जल के रूप में अभिव्यक्त परम शिव का स्वरूप।

उपाधि है जीवन जासु जीव को, महाब्धि ह्वै राखत सत्य सींव को।
असीम आनंद तरंग पूर है, प्रसन्न **'कीलाल'** सुविश्व मूर है। (चि०, १३६)

क्रिया—ईश्वर की कर्त्तृत्व शक्ति।

श्रममय कोलाहल पीड़नमय विकल प्रवर्त्तन महायंत्र का,
क्षण भर भी विश्राम नहीं है प्राणदास है **'क्रिया'** तंत्र का। (का०, २६६)

खिलवाड़ तथा खेल—ईश्वर की नित्य क्रीड़ा।

कल्पना कहती है कंदुक है महाशिशु **खेल** का,
जिसका है **खिलवाड़** इस संसार में सब मेल का। (का० कु०, १०)
हम सब में जो **खेल** कर रहा अति सुन्दर परछांई-सा। (ज० ना०, १०६)

खिलवाड़ी—विश्व में नित्य क्रीड़ा करने वाला परम शिव।

चेतना कहती है कि तू राजा है और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी **खिलवाड़ी** बटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। (स्कं०, १२८)

गति-विधि-निर्धारक—सृष्टि की समस्त गतिविधियों का निर्धारण करने वाला शिव।

अणु-अणु में जो स्वभाववश **गति-विधि-निर्धारक**। (का० कु०, ६४)

गुणाधार एवं कर्णधार—सम्पूर्ण गुणों को धारण करने वाला एवं संसार से पार करने वाला शिव।

हे **गुणाधार**, तुम्हीं बने हो **कर्णधार** विचार लो,
है दूसरा अब कौन, जैसे बने नाथ ! सम्हार लो। (का० कु०, ८)

चराचर—जड़-चेतनमय सम्पूर्ण सृष्टि।

सकल **चराचर** जिसका क्रीड़ापूर्ण पसारा। (का० कु०, ८६)
मिटे कलह शुभ शान्ति प्रकट हो **अचर और चर** में। (रा०, ७५)

चिति और महाचिति—शुद्ध चेतन स्वरूप परमात्म-शक्ति, चैतन्यात्मा।

निर्मल **चिति** का दीप जलाकर छोड़ चला यह अपनी भेंट। (झ०, २०)
कर रही लीलामय आनन्द **महा चिति** सजग हुई सी व्यक्त। (का०, ५३)
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत। (का०, २४२)
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर। (का०, २८८)

चिति-केन्द्र—चेतना का केन्द्र-विन्दु जीव।

चिति-केन्द्रों में जो संघर्ष चला करता है,
द्वयता का जो भाव सदा मन में भरता है। (का०, १९२)

चित्‌कला—परम शिव की चैतन्यपूर्ण शक्ति।

चेतन की **चित्‌कला** विश्व में जिसकी सत्ता। (का० कु०, ९४)

चेतन—शुद्ध चेतन स्वरूप परम शिव, आत्मा।

उस **चेतन** के अस्तित्व की सत्ता कहीं नही जाती और न उसका चेतनमय स्वभाव उससे भिन्न होता है। वही एक अद्वैत है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में **चेतन** प्रकाशित होता है। (ज० ना०, १३)
अपनापन **चेतन** का सुखमय, खो गया नहीं आलोक उदय। (का०, २४१)
वह रजत गौर उज्ज्वल जीवन, आलोक पुरुष मंगल **चेतन**। (का०, २५२)
चिर मिलित प्रकृति से पुलकित वह **चेतन** पुरुष पुरातन। (का०, २८६)
चेतन का साक्षी मानव। (का०, २८९)

चैतन्य—चेतनता, सजीवता, प्राण।

इस विकल वेदना को ले किसने सुख को ललकारा,
वह एक अबोध अकिंचन बेसुध **चैतन्य** हमारा। (आँसू, ११)
वह रूप रूप था केवल या हृदय रहा भी उसमें,
जड़ता की सब माया थी **चैतन्य** समझकर मुझ में। (आँसू, २५)
मानव-जीवन की **चैतन्य** ज्वाला की उपयोगिता निर्वाण में बुझ जाने में नहीं है। (इरा०, ९३)
चैतन्य-सागर निस्तरंग है और ज्ञान-ज्योति निर्मल है। (चं०, २४५)

छलिया—छल-प्रपंच द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त परमात्म-शक्ति।

भरा नैनों में मन में रूप, किसी **छलिया** का अमल अनूप,

जल-थल मारुत व्योम में जो छाया है सब ओर,
खोज-खोज कर खो गई मैं पागल प्रेम-विभोर। (स्कं०, ४७)

छाया-नट—सृष्टि में छिपकर अभिनय करने वाला परमात्मा।

छाया-नट छवि परदे में सम्मोहन वेणु बजाता,
संध्या कुहुकिनि अंचल में कौतुक अपना कर जाता। (आँसू, ३३)

जगत—परम शिव की नित्य, सत्य, एवं परिवर्तनशील सृष्टि।

चिति का स्वरूप यह नित्य **जगत**, वह रूप बदलता है शत-शत।
(का०, २४२)

जीवन **जगत** के विकास विश्व वेद के हो। (झ०, ४९)

इस गतिशील **जगत** में परिवर्तन पर आश्चर्य। (स्कं०, २५-२६)

जगत प्रगति से अपने चंचल। (अ०, ४८)

जगज्जनक जगज्जननी—संसार के रचयिता परम शिव तथा उनकी शक्ति पार्वती।

यह विचार कर शीघ्र ही **गज्जनक, जननी** की परिक्रमा करके बैठ गये।
(चि०, १२३)

उन्होंने विश्वरूप **जगज्जनक, जननी** की ही परिक्रमा कर ली है। (चि०, १२४)

जगन्नियंता—संसार का नियामक परम शिव।

जगन्नियंता का यह सच्चा राज्य है, सबका ही वह पिता न देता दुःख है।
(क०, २४-२५)

जड़-चेतन—सृष्टि के लुप्त-चेतना-वाले तथा प्रकट-चेतना वाले सम्पूर्ण पदार्थ।

जिन पदार्थों की शक्ति अप्रकाशित रहती है, उन्हें लोग **जड़** कहते हैं, किन्तु देखो जिन्हें हम **जड़** कहते हैं, वे जब किसी विशेष मात्रा में मिलते हैं तब उनमें एक शक्ति उत्पन्न होती है, स्पंदन होता है, जिसे जड़ता नहीं कह सकते। वास्तव में सर्वत्र शुद्ध **चेतन** है, जड़ता कहाँ? यह तो एक भ्रमात्मक कल्पना है। यदि तुम कहो कि इनका तो नाश होता है और **चेतन** की सदैव स्फूर्ति रहती है, तो यह भी भ्रम है। सत्ता कभी लुप्त भले ही हो जाय, किन्तु उसका नाश नहीं होता। गृह-रूप न रहेगा तो ईंटें रहेंगी, जिनके मिलने पर गृह बने थे। वह रूप परिवर्तित हुआ, तो मिट्टी हुई, राख हुई, परमाणु हुए। उस **चेतन** के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती। (ज० ना०, १२-१३)

एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे **जड़** या **चेतन**। (का०, ३)

जीव—माया के आवरण से आवृत्त चेतन आत्मा।

भानु भ्रमत अस वहत समीरन प्रकट **जीव** समुदाया। (चि०, २९)

उपाधि है जीवन जासु **जीव** को। (चि०, १३९)

थके श्रमी **जीवों** के पसीने भरे सीने लग, जीने को सफल करने के लिए सोने चलो। (झ०, ५१)

महाप्राण **जीवों** के कीर्ति सुकेतु से, ऊँचे तरुवर खड़े शैल पर झूमते ।
(म० म० ८)

इस लोक के अनंत पुण्य के भागी **जीव** भी जिस सुख को देखकर आश्चर्य-चकित हों । (स्कं० १४२-१४३)

आद्य अविद्या कर्म हुआ क्यों **जीव** स्ववश तब कैसे था । (ज० ना०, ४७)

जीवन—आत्मा का आकार धारण करने का सनातन क्रम ।

विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम **जीवन है** । (ए०, १५)

आनन्दातिरेक से आत्मा का साकार ग्रहण करना ही जीवन है । (ए०, ३२)

परिवर्तन ही सृष्टि है, **जीवन** है । (स्कं० २६)

जीवन बुदबुद है कि तरंग ? बुदबुद है, तो विलीन होकर फिर क्यों प्रकट होता है ? मलीन अंश फेन कुछ जलबिन्दु से मिलकर बुदबुद का अस्तित्व क्यों बना देता है । (प्र०, २१)

जीवन सौभाग्य है, **जीवन** अलभ्य है । **जीवन** अनंत है, इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है ? **जीवन** की सीमामयी प्रतिमा कितनी मधुर है । (ल०, ७०)

प्राचीन ऋषियों ने बतलाया है कि भीतर जो काम का और **जीवन** का युद्ध चलता है, उसमें **जीवन** को विजयी बनाओ । (ति०, ६४)

जीवन सत्य है, संवेदन सत्य है, आत्मा के आलोक में अन्धकार कुछ नहीं ।
(इ०, ११३)

जीवन धारा सुन्दर प्रवाह, सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह । (का०, २४१)

जीवन-मुक्त---जीवित अवस्था में ही मुक्ति प्राप्त करने वाला जीव ।

दुष्प्राप्य की ही, प्राप्ति में हाँ बद्ध **जीवन-मुक्त** था । (का० कु०, ३०)

पुरुषोत्तम ने स्वर्ग का लालच छोड़कर रूढ़ियों के धर्म को पाप कहकर घोषणा की और **जीवन-मुक्त** होने का प्रचार किया । (कं०, १५६)

जीवन-रस—जीवन का अभीष्ट आनन्द ।

था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा **जीवन-रस** सार लिए । (का०, १६८)

माँग रहे हैं **जीवन का रस** बैठ यहाँ पर अजर अमर से । (का० २७०)

यहाँ अछूत रहा **जीवन-रस** छूओ मत संचित होने दो । (का०, २७१)

ज्ञान—आत्मबोध, सत्य की जानकारी, शिव की एक शक्ति ।

जो विज्ञानाकार है, **ज्ञानों** का आधार है । (का० कु० ६४)

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-**ज्ञान** । (का०, १६८)

इस त्रिकोण के मध्यविन्दु तुम शक्ति विपुल क्षमता वाले ये,
एक एक को स्थिर हो देखो इच्छा, **ज्ञान**, क्रिया वाले ये । (का०, २६२)

ज्ञानाभास—मिथ्या ज्ञान, असत्य ज्ञान ।

त्यागपूर्ण थोथी दार्शनिकता जब किसी **ज्ञानाभास** को स्वीकार कर लेती है, तब उसका धक्का सम्हालना मनुष्य का काम नहीं । (कं०, १८)

मनुष्य भूलें करता है, इसका रहस्य है मनुष्य का परिमित **ज्ञानाभास**।
(कं०, २६१)

तत्व—सार वस्तु, सृष्टि के मूल कारण।
एक **तत्व** की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन। (का०, ३)
इस पंचभूत की रचना में मैं रमण करूँ बन एक **तत्व**। (का०, १५३)
हृदय विश्व का **तत्व** निहित है जिसमें दो ही अक्षर में। (प्रे० प०, २०)

तांडव—शिव का सृजन एवं संहारकारी नृत्य।
करेगा तव वह **तांडव** नृत्य। (का० कु०, ८६)
तांडव में थी तीव्र प्रगति परमाणु विकल थे। (का०, २००)
आनन्दपूर्ण **तांडव** सुन्दर। (का०, २५३)
परमेश्वर के **तांडव** के अनुकरण में उसकी संवर्द्धना के लिए वृत्त में उल्लास और प्रमोद की पराकाष्ठा देखकर नाटकों में इसकी योजना की।
(का० नि०, ६०)

त्रिकोण—इच्छा, ज्ञान और क्रिया का त्रिभुज क्षेत्र।
इस **त्रिकोण** के मध्यबिन्दु तुम शक्ति विपुल क्षमता वाले ये,
एक एक को स्थिर हो देखो इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये। (का०, २६२)
शक्ति तरंग प्रलय पावक का उस **त्रिकोण** में निखर उठा सा। (का०, २७३)

त्रिपुर—इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति द्वारा निर्मित क्रमशः भावलोक, कर्मलोक एवं ज्ञानलोक।
यही **त्रिपुर** है देखा तुमने तीन बिन्दु ज्योतिर्मय इतने,
अपने केन्द्र बने दुख सुख में भिन्न हुए हैं ये सब कितने।
ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की। (का०, २७२)

त्रिपुरारि—शंकर, परम शिव।
दियो पाशुपत व्योम केश **त्रिपुरारि**। (चि० ६७)

दृश्य—सृष्टि एवं जगत् के दिखाई देने वाले पदार्थ।
दृश्य सकल नश्वर-परिणामी किसको दुख, जिसको धन है? (अ०, ४८)
पतितपावन की अमोघवाणी ने **दृश्यों** की नश्वरता की घोषणा की है। (अ०, ८४)।

द्वन्द्व—दुःख-सुख, शीत-ऊष्ण आदि युग्म।
चन्द्र-सूर्य, शीतल-उष्णा, क्रोध-करुणा; द्वेष-स्नेह का द्वन्द्व संसार का मनोहर दृश्य है। (अ०, १२७)
संकल्प-विकल्प, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, दया-क्रोध इत्यादि की **जोड़ियाँ** इसी घुड़साल में बँधती हैं। (वि०, ५२)
रुदन, दुख, तम-निशा, निराशा इन **द्वन्द्वों** का मिटे तमाशा। (कामना, १००)

जड़-चेतन, सुख-दुःख, दिन-रात, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्व कभी एक होंगे। (ज० ना०, १२)

धाता और विधाता—जगत् का सृजन और जगत् का विधान करने वाली परमात्म-शक्तियाँ।

धाता—सखि **विधाता**, तुम बड़ी निष्ठुर हो। मैं जिन प्राणियों की सृष्टि करती हूँ तुम उनके लिए अलग-अलग विधान बनाकर उसी के अनुसार कुछ दिनों तक जीने, अपने संकेत पर चलने और फिर जाने के लिए विवश कर देती हो।

विधाता—**धाता**, तुम बड़ी पगली हो, यदि समस्त प्राणियों की व्यवस्था एक-सी ही की जाती, तो तुम्हारी सृष्टि कैसी नीरस होती और फिर यह तुम्हारी क्रीड़ा कैसे चलती ? (इन्द्रजाल, ८६)

नटराज एवं नटेश—तांडव नृत्य करते हुए परम शिव।

जिसकी दुःख ज्वाला में मनुष्य व्याकुल हो जाता है, उस विश्व-चिता में मंगलमय **नटराज** नृत्य का अनुकरण महाकाल की उपासना का बाह्य रूप है। (इ० २२)

नटराज स्वयं थे नृत्य निरत, था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित। (का०, २५२)

देखा मनु ने नर्तित **नटेश**, हृत चेत पुकार उठे विशेष। (का०, २५४)

नित्य लीला—परम शिव की नित्य होने वाली पंच क्रीड़ाएँ।

देखो, सृष्टि, स्थिति संहार, तिरोभाव और अनुग्रह की **नित्य लीला** से समस्त अवकाश भर उठा है। (इ०, ५८)

नियति—परम शिव की नियामिका शक्ति जो संसार का नियंत्रण करती है। एकतत्व। जीव को आवृत्त करने वाले षट् कंचुकों में से एक कंचुक।

नियति अपने मिट्टी के पुतलों के साथ अपना क्रूर मनोविनोद करती है। (आँधी, २६)

नियति भयानक वेग से चल रही है। आँधी की तरह उसमें असंख्य प्राणी-तृण-तूलिका के समान इधर-उधर बिखर रहे हैं। कहीं से लाकर किसी को वह मिला ही देती है और ऊपर से कोई बोझ की वस्तु भी लाद देती है कि वे चिरकाल तक एक दूसरे से सम्बद्ध रहें। (आँधी, ३४)

मनुष्य प्रकृति का अनुचर और **नियति** का दास है। (ज० ना०, ४४)

अंध **नियति** कर्त्तव्य मद से मत्त मनुष्यों की कर्मशक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है और ऐसी ही क्रान्ति के समय विराट का वर्गीकरण होता है। यह एकदेशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता, 'सर्वभूतहित' की कामना पर ही लक्ष्य होता है। (ज० ना०, ७३)

नियति सम्राटों से भी प्रबल है। (चं०, १८८)

नियति की डोरी पकड़कर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद सकता हूँ। (अ०, ३८)

छायाचित्र सदृश जनस्रोत में **नियति** के पवन की थपेड़ें लग रही हैं, वह तरंग संकुल होकर भूम रहा है। (कं०, ४४)

नियति ने उसे सब ओर से निरवलम्ब करके झुकने के लिए बाध्य किया। (कं०, १७२)

नियति दुस्तर समुद्र को पार कराती है, चिरकाल के अतीत को वर्तमान से क्षण भर में जोड़ देती है और अपरिचित मानवता-सिंधु में उसी एक से परिचय करा देती है, जिससे जीवन की अग्रगामिनी धारा अपना पथ निर्दिष्ट करती है। (ति०, ७०)

नर न कर सकता कभी, वह एकमात्र निमित्त है
प्रकृति को रोके **नियति**, किसमें भला यह वित्त है। (का० कु०, ११६)

नचती है **नियति** नटी-सी कंदुक क्रीड़ा-सी करती
इस व्यथित विश्व आंगन में अपना अतृप्त मन भरती। (आँसू, ५१)

दो अपरिचित से **नियति** अब चाहती थीं मेल। (का०, ८१)

इस **नियति** नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही। (का० १५८)

व्यापकता **नियति** प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बन्द। (का०, १६५)

नियति विकर्षणमयी त्रास से सब व्याकुल थे। (का०, २००)

निराधार है किन्तु ठहरना हम दोनों को आज यहीं है,
नियति खेल देखूँ न सुनो अब इसका अन्य उपाय नहीं है। (का०, २६०)

नियति चलाती कर्म-चक्र यह। (का०, २६७)

पंचतत्व एवं पंचभूत—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश नामक पांच तत्व।

जिस **पंचतत्व** से है यह दिव्य देह-मंदिर। (का० कु०, ६)

पवन उन्चासों गतियों से समग्र **पंच महाभूतों** को आलोड़ित कर उन्हें तरल परमाणुओं के रूप में परिवर्तित करने के लिए तुला हुआ है। (प्र०, ७०)

पंचभूत का भैरव मिश्रण। (का०, १४)

पंचभूत का यह तांडवमय नृत्य हो रहा था कब का। (का०, १५)

इस **पंचभूत** की रचना में मैं रमण करूँ बन एक तत्व। (का०, १५३)

पाणिपादमय **पंचभूत** की यहाँ हो रही है उपासना। (का०, २६७)

परम तत्व—शिव या ब्रह्म।

उनके लिए **परम तत्व** की प्राप्ति सांसारिक परम्परा को छोड़ने से ही हो सकती थी। (का० नि०, ७६)

परमाणु—सूक्ष्म अणु अथवा अविभाज्य सूक्ष्म तत्व।

परमाणुओं से ग्रथित प्राकृत नियंत्रण शैली का एक विन्दु! अपना अस्तित्व बचाये रखने की आशा में मनोहर कल्पना कर लेता है। (प्र०, ६८)

इस भूमि के एक-एक **परमाणु** मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं **परमाणुओं** के बने हैं। (चं०, ६६)

परमाणु भी सब स्तब्ध थे रोमांच भी था हो रहा। (का० कु०, २६)

परमाणु बाल सब दौड़ पड़े जिसका सुन्दर अनुराग लिए। (का०, ७२)

तांडव में थी तीव्र प्रगति **परमाणु** विकल थे। (का०, २००)

चेतन **परमाणु** अनन्त बिखर, बनते विलीन होते क्षण भर। (का०, २५३)

परा और अपरा प्रकृति—पशु, पक्षी, वन, पर्वत आदि परा प्रकृति है और जीव अपरा प्रकृति है।

परा प्रकृति से परे नहीं जो हिलामिला है। (का० कु०, ६४)

प्रमाता जीव भी प्रकृति है, क्योंकि वह भी **अपरा प्रकृति** है। (कं०, १८)

पराशक्ति—परम शिव की प्रकृति रूपी अलौकिक शक्ति।

पराशक्ति वह प्रकृति अंक महँ अति छवि छावत। (चि०, ७२)

पशु तथा पशुपति—माया से आवृत जीव एवं जीवों के स्वामी परम शिव।

पशुपति निज **पशुगन** प्रतिपालत प्रेम सहित भल। (चि०, ७३)

पुद्गल—आत्मा, भूत-सामान्य।

इस भेदपूर्ण विवेक की सीमा खोजते हुए जब हम आगे बढ़ते हैं तब सत्य का वही स्वरूप सामने आता है जिसमें हम **पुद्गल** मात्र बन जाते हैं और सदैव किसी उच्च अप्राप्य सत्य को पाने के लिए तरसते रहते हैं। (इ०, १०३)

पुरुष—माया के आवरण एवं कंचुकों से आवृत जीवात्मा। छत्तीस तत्त्वों में से एक तत्त्व।

कौन **पुरुष** वह बैठा तट पर स्रोत के, दोनों आँखें उठ उठकर बतला रहीं, जीवन-मरण समस्या उनमें है भरी। (म० म०, ८)

पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतन्त्र है। (का० नि०, २६)

मैं **पुरुष** शिशु था भटकता आज तक था भ्रान्त। (का०, ६३)

चिर मुक्त **पुरुष** वह कब इतने अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह। (का०, १४५)

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित वह चेतन **पुरुष** पुरातन। (का०, २८६)

पूर्ण—परम ब्रह्म।

निस्तब्धता संसार की उस **पूर्ण** से है मिल रही,
पर जड़ प्रकृति सब जीव में सब ओर ही अनमिल रही। (का० कु०, ५३)

पूर्ण काम—आप्त काम, जिसकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो गई हों।

परम प्रकाश हो स्वयं ही **पूर्ण काम** हो। (झ०, ४६)

पूर्ण काम के मानस में बस शान्ति सरोरुह खिलता है। (वि०, ५५)

बना लो हृदय बीच निज धाम, करो हमको प्रभु **पूरन-काम**। (का० कु०, ५८)

पुरुषोत्तम कृष्ण **पूर्ण काम** होने पर भी समाज के तटस्थ उपकारी बने रहे। (कं०, १५६)

फिर क्यों न हुआ **मैं पूर्ण काम**। (का०, १६८)

प्रकृति—सृष्टि के विकास का एक तत्व, परमात्मा की परा शक्ति, परम शिव की विभूति, पुरुष पुरातन की चिर सहचरी, शिव का शरीर।

परा शक्ति पर वह **प्रकृति** अंक महँ अति छवि छावत। (चि०, ७२)

कलियाँ परागलौं गुलाल बगराये देख ढारन **प्रकृति** मकरंद बैठि भोरी है। (चि०, १८२)

जिसे कि **प्रकृति** मालिनी बनकर अपने हाथ सजाती है। (प्रे० प०, २)

पूर्ण **प्रकृति** की पूर्ण नीति है क्या भली। (म० म०, २)

देके ऊषा-पट **प्रकृति** को हो बनाते सहचरी। (का० कु०, ११)

प्रकृति सहचरी सी कैसी है साथ में। (क०, ३)

देखेंगे परिवर्तनशीला **प्रकृति** को। (क०, ७)

प्रकृति क्रियाशील है। (स्कं०, २६)

प्रकृति तब भी अपने निर्माण और विनाश में हँसती और रोती थी। (इं०, ८३)

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में। (का०, ७)

और आवरण मुक्त **प्रकृति** थी हरी-भरी फिर भी वैसी। (का० २८)

अव्यक्त **प्रकृति** उन्मीलन के अन्तर में उसकी चाह रही। (का०, ७२)

उच्च शैल शिखरों पर हँसती **प्रकृति** चंचला बाला। (का०, ११६)

चिर मिलित **प्रकृति से** पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन। (का०, २८६)

पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतन्त्र है। **प्रकृति** या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है। (का०नि०, २६)

पुरुष का शरीर **प्रकृति** है। (का० नि०, २६)

प्रमाता—द्रष्टा एवं साक्षी जीवात्मा।

सकल निधियों का वह आधार **प्रमाता** अखिल विश्व का सत्य,
लिये सब उसके बैठा पास उसे आवश्यकता ही नहीं। (झ०, ६१)

प्रमाता जीव भी प्रकृति है, क्योंकि वह भी अपरा प्रकृति है। (कं०, १८)

प्रलय—सृष्टि के पदार्थों का अपने उद्गम स्थान परम शिव में जाकर मिल जाना।

आओ, यह **प्रलय** रूपी तुम्हारा मिलन आनन्दमय हो। (प्र०, ७१)

परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन—**प्रलय**—हुआ। (स्कं०, २६)

चेतना लहर न उठेगी जीवन समुद्र थिर होगा,
संध्या हो स्वर्ग **प्रलय** की विच्छेद मिलन फिर होगा। (आँसू, ५६)

किसका था भ्रू भंग **प्रलय**-सा जिसमें ये सब विकल रहे। (का०, २५)

शक्ति तरंग **प्रलय** पावक का उस त्रिकोण में निखर उठा सा। (का०, २७३)

प्रेम—परमात्मा की आकर्षण-शक्ति।

मधुक्रीड़ा-कूटस्थ—स्थिरता के साथ आनन्दमयी क्रीड़ाओं में संलग्न परम शिव ।

प्रकृति सुप्रांगण में सदा **मधुक्रीड़ा-कूटस्थ** को,
नमस्कार मेरा सदा.......। (का० कु०, ६२)

महाकापालिक—परम शिव ।

महाकापालिक के चिताग्नि-साधन का वीभत्स दृश्य । (प्र०, ६७)

महाकाल—परम शिव ।

महाकाल का भैरव गर्जन हो रहा । (का० कु०, १०७)

तो फिर इस **महाकाल** में महाश्मशान से बढ़कर कौन उपयुक्त स्थान होगा । (स्कं०, ८४)

चितिमय चिता धधकती अविरल **महाकाल** का विषम नृत्य था । (का०, २७३)

क्योंकि प्राण जिसका आहार वही इसकी रखवाली आप करता है **महाकाल** ही । (ल०, ५५)

महाकाल का प्रदोष-पूजन भारत-विख्यात था । (इ०, १०)

उस विश्व-चिता में मंगलमय नटराज नृत्य का अनुकरण, आनंद की भावना, **महाकाल** की उपासना का बाह्य स्वरूप है । (इ०, २२)

महाक्रीड़ा—परम शिव की आनन्दमयी नित्य क्रीड़ा ।

बनके दक्षिण-पौन तुम कलियों से भी हो खेलते
अलि बने मकरंद की मीठी झड़ी हो झेलते
गा रहे श्यामा के स्वर में कुछ रसीले राग से
तुम सजावट देखते हो प्रकृति की अनुराग से
देके ऊषा-पट प्रकृति को हो बनाते सहचरी
भाल के कुंकुम-अरुण की दे दिया बिन्दी खरी
नित्य-नूतन रूप हो उसका बनाकर देखते
वह तुम्हे है देखती, तुम युगल मिलकर खेलते ।
(महाक्रीड़ा, का० कु०, १०-११)

महामाया—शिव की परम शक्ति, पार्वती ।

माता, आप भी ऐसा कहेंगी तो नारद हो चुके, यह तो लोग समझते ही नहीं कि यह **महामाया** ही की माया है । (चि०, १२०-१२१)

महेश और महेशि—परम शिव और उनकी परम शक्ति ।

सुप्रसन्न **महेश** की लहि महाशक्ति विकास । (चि०, १५४)
कोटि कंठन सों कढ़त कल कीर्ति नाद **महेशि** ,
विश्वधारिणि विश्वपालिनि जयति जय विश्वेशि । (चि०, १५४)

प्रेम, जगत का चालक है इसके आकर्षण में खिंच के,
मिट्टी वा जलपिण्ड सभी दिन-रात किया करते फेरा। (प्रे०प०, १७)

प्रेमकला—सृष्टि का विकास करने वाली परम शिव की मूल शक्ति।
यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी **प्रेमकला**। (का०, ७६)

बंधन—माया का पाश, त्रिविध मलों एवं षट्कंचुकों की ग्रन्थि।
भूल अरे अपने को मत रह जकड़ा **बंधन** खोल। (ए०, ८)
बंधन में बँधता प्रतिज्ञा की प्रतीति किए। (झ०, ५१)
छूटे सब यह विश्व **बंधन** हो प्रसन्न उदार। (क०, २६)
अपराध तुम्हारा वह **बंधन**, लो बना मुक्ति अब छोड़ स्वजन। (का०, २४६)

बहुरूपिया—अनेक रूप धारण करने वाला परमात्मा।
छलने के लिए तो स्वाँग **बहुरूपिये** के
तुमने लिए अनेक तुम ही छले गये। (झ०, ५०)

भव, भवानी—शिव और शक्ति।
गणेश ने सोचा कि **भव** और **भवानी** ही तो पिता-माता है, अब उनसे बढ़कर कौन विश्व होगा। (चि०, १२३)

भव-छिद—संसार के बंधनों से मुक्त करने वाले शिव।
भव तुमहि **भव-छिद** तुमहिं हौ तुमहिं एक न आन।
—इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला २, १९६७ वि०

भूत-भूतनाथ—जीव तथा जीवों के स्वामी परम शिव।
भूतनाथ सब **भूतन** सँग क्रीड़त है अविरल। (चि०, ७३)
प्रकृति त्रस्त थी **भूतनाथ** ने नृत्य विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, **भूत** सृष्टि सब होने जाती थी सपना। (का०, १८५)

भूमा—सर्वव्यापक परमात्मा, बहुत्व का द्योतक परम शिव।
भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभास मात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते। (चं०, १०२)
विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पंदित विश्व महान,
यही दुख सुख विकास का सत्य यही **भूमा** का मधुमय दान। (का०, ५४)

भैरव, भैरवी—भीषण शृंगीनाद करने वाले परम शिव तथा उनकी आद्या शक्ति।
भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु-हृदय कँपा दो। (स्कं०, ४८)
जिस पर क्रोध से **भैरव** हुंकार करता है, उसी पर स्नेह का अभिषेक करने के लिए प्रस्तुत रहता है। (अ०, १४२)
भैरवी का तांडव-नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव-संगीत की सृष्टि होती है। (स्कं०, ४६)

मधुक्रीड़ा-कूटस्थ—स्थिरता के साथ आनन्दमयी क्रीड़ाओं में संलग्न परम शिव ।

प्रकृति सुप्रांगण में सदा **मधुक्रीड़ा-कूटस्थ** को,
नमस्कार मेरा सदा........। (का० कु०, ६२)

महाकापालिक—परम शिव ।

महाकापालिक के चिताग्नि-साधन का वीभत्स दृश्य । (प्र०, ६७)

महाकाल—परम शिव ।

महाकाल का भैरव गर्जन हो रहा । (का० कु०, १०७)

तो फिर इस **महाकाल** में महाश्मशान से बढ़कर कौन उपयुक्त स्थान होगा ।
(स्कं०, ८४)

चितिमय चिता धधकती अविरल **महाकाल** का विषम नृत्य था ।
(का०, २७३)

क्योंकि प्राण जिसका आहार वही इसकी रखवाली आप करता है **महाकाल** ही । (ल०, ५५)

महाकाल का प्रदोष-पूजन भारत-विख्यात था । (इ०, १०)

उस विश्व-चिता में मंगलमय नटराज नृत्य का अनुकरण, आनंद की भावना, **महाकाल** की उपासना का बाह्य स्वरूप है । (इ०, २२)

महाक्रीड़ा—परम शिव की आनन्दमयी नित्य क्रीड़ा ।

बनके दक्षिण-पौन तुम कलियों से भी हो खेलते
अलि बने मकरंद की मीठी झड़ी हो झेलते
गा रहे श्यामा के स्वर में कुछ रसीले राग से
तुम सजावट देखते हो प्रकृति की अनुराग से
देके ऊषा-पट प्रकृति को हो बनाते सहचरी
भाल के कुंकुम-अरुण की दे दिया बिन्दी खरी
नित्य-नूतन रूप हो उसका बनाकर देखते
वह तुम्हें है देखती, तुम युगल मिलकर खेलते ।
(महाक्रीड़ा, का० कु०, १०-११)

महामाया—शिव की परम शक्ति, पार्वती ।

माता, आप भी ऐसा कहेंगी तो नारद हो चुके, यह तो लोग समझते ही नहीं कि यह **महामाया** ही की माया है । (चि०, १२०-१२१)

महेश और महेशि—परम शिव और उनकी परम शक्ति ।

सुप्रसन्न **महेश** की लहि महाशक्ति विकाम । (चि०, १५४)
कोटि कंठन सो कढ़त कल कीर्ति नाद **महेशि** ,
विश्वधारिणि विश्वपालिनि जयति जय विश्वेशि । (चि०, १५४)

माया—परम शिव की सृजन-शक्ति तथा अपना आवरण डालकर जीवों को भ्रमित करने वाली शक्ति। सृष्टि-क्रम के ३६ तत्वों में से एक तत्व।

हे शिव धन्य तुम्हारी **माया**,
जेहि बस भूलि भ्रमत है सब ही सुर अरु असुर निकाया। (चि०, २६)
फँसा आसुरी **माया** में हिंसा जगी। (क०, २१)
अनादि तेरी अनन्त **माया** जगत् को लीला दिखा रही है। (का० कु०, १)
चेतना बही जाती थी हो मन्त्र-मुग्ध **माया** में। (आँसू, १८)
उस **माया** की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था। (आँसू, २४)
विश्व चित्रपट चल **माया** में विभुता विभु सी पड़े दिखाई। (ल०, १४)
जी लो सुख से आयु-भर यह **माया** का खेल। (स्कं०, ५५)
कौन हो तुम विश्व **माया** कुहक सी साकार। (का०, ६०)
घूम रही है यहाँ चतुर्दिक चल-चित्रों की संसृति छाया,
जिस आलोक-बिन्दु को घेरे वह बैठी मुसक्याती **माया**। (का०, २६४)
जानता हूँ किशोरी, **माया** के साधारण झिटके में एक सच्चे साधु के फँस जाने, ठग जाने का यह लज्जित प्रसंग अब किसी से छिपा नहीं। (कं०, १७०)

मोहन—जीवों को मोहित करने वाले परमेश्वर।

देखो **मोहन** अपना कैसा वेश बदलता आता है
नीलाम्बर को छोड़ दिया पीताम्बर पहने वह आया। (प्रे० प०, २५)
खेंचि मन**मोहन** ते काट-पेंच कौन करै, चली जब ढीली बाढ़ प्रेम के पतंग की। (चि०, १८१)
सौन्दर्य विश्वभर में फैला हुआ जो तेरा
एकत्र करके उसको मन में दिखा दे **मोहन**। (का० कु०, ७८)

यज्ञ-पुरुष—सृष्टि रूपी यज्ञ के कर्त्ता, परब्रह्म, परम शिव।

रचनामूलक सृष्टि यज्ञ यह **यज्ञ-पुरुष** का जो है। (का०, १३२)

योगमाया—परमेश्वर की सृजन शक्ति।

भगवान् की गर्वहारिणी **योगमाया** की यह उज्ज्वल सृष्टि है। (वि०, ८६)

रति—जीवों को संभोग-सुख प्रदान करने वाली अनादि वासना शक्ति।

जो आकर्षण बन हँसती थी **रति** थी अनादि वासना वही। (का०, ७२)
सुरबालाओं की सखी रही उनकी हृतन्त्री की लय थी,
रति, उनके मन को सुलझाती वह राग भरी थी मधुमय थी। (का०, ७४)
मैं **रति** की प्रतिकृति लज्जा हूँ मैं शालीनता सिखाती हूँ। (का०, १०३)

राम—सर्वत्र रमे रहने वाले तथा सर्वत्र रमण करने वाले परमेश्वर।

रमणीय आप महामोदमय धाम, तो भी रोम रोम रम रहे कैसे तुम **राम** हो? (झ०, ४६)
अखिल विश्व में रमा हुआ है **राम** हमारा। (का० कु०, ८६)

इस **'राम'** शब्दवाची उस अखिल ब्रह्मांड में रमण करने वाले पतितपावन की सत्ता को सर्वत्र स्वीकार करते हुए सर्वस्व समर्पण करने वाली भक्ति के साथ उसका स्मरण करना ही यथार्थ में नाम-स्मरण है। (कं०, २३५-२३६)

रुद्र, महारुद्र—संहारकारी परम शिव।

और क्या विष पी लेगा **रुद्र** करेगा तब वह ताण्डव नृत्य। (का०कु०, ८९)

रुद्र का **शृङ्ग**नाद, भैरवी का तांडव नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। (स्कं०, ४६)

अंतरिक्ष में हुआ **रुद्र** हुंकार भयानक हलचल थी। (का०, १८५)

शक्ति तरंगों में आन्दोलन, **रुद्र** क्रोध भीषणतम था। (का०, १८६)

है रुद्र रोष अब तक अशान्त। (का०, २४१)

लीला—परम शिव की नित्य क्रीड़ा।

लीला उसी की जग में सब में वही समाया। (का० कु०, ६)

यह लीलामय की **लीला है**। (प्रे० प०, २३)

कर रही **लीलामय** आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त। (का०, ५३)

लीला—सृष्टि।

यह **लीला** जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेमकला। (का०, ७६)

वाणी—वाक् शक्ति।

आगम शास्त्रों में **वाणी** के चार भेद माने गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी। परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहा-निहित हैं। बैखरी वाणी मनुष्य बोलते हैं। शास्त्रों में परा वाणी को नाद-रूपा शुद्ध अहं परामर्शमयी शक्ति माना है। पश्यन्ती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य-प्रधान, द्रष्टा रूपवाली है। मध्यमा वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धिप्रधान दर्शन-स्वरूपा द्रष्टा और दृश्य के अन्तराल में रहती है। बैखरी व्याकरण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करने वाली दृश्य-प्रधान होती है। (का० नि०, ४०-४१)

विद्या—सृष्टि-विकास के छत्तीस तत्वों में से एक तत्व, जो ईश्वर की संकुचित सर्वज्ञत्व शक्ति कहलाता है।

ईश्वर की सर्वज्ञत्व शक्ति का स्वरूप **विद्या** है। शक्ति-संकोच के कारण जो इन्द्रिय-द्वार से शक्ति का प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित रूप बोध के लिए है। (का० नि०, ४२-४३)

सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश **विद्या** बनकर कुछ रचे छन्द। (का०, १६५)

विराट—सर्वव्यापक परम शिव।

वह **विराट** था हेम घोलता नया रंग भरने को आज। (का०, २४)

माया—परम शिव की सृजन-शक्ति तथा अपना आवरण डालकर जीवों को भ्रमित करने वाली शक्ति। सृष्टि-क्रम के ३६ तत्वों में से एक तत्व।

हे शिव धन्य तुम्हारी **माया**,
जेहि बस भूलि भ्रमत हैं सब ही सुर अरु असुर निकाया। (चि०, २६)
फँसा आसुरी **माया** में हिंसा जगी। (क०, २१)
अनादि तेरी अनन्त **माया** जगत् को लीला दिखा रही है। (का० कु०, १)
चेतना बही जाती थी हो मन्त्र-मुग्ध **माया** में। (आँसू, १८)
उस **माया** की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था। (आँसू, २४)
विश्व चित्रपट चल **माया** में विभुता विभु सी पड़े दिखाई। (ल०, १४)
जी लो सुख से आयु-भर यह **माया** का खेल। (स्कं०, ५५)
कौन हो तुम विश्व **माया** कुहक सी साकार। (का०, ६०)
घूम रही है यहाँ चतुर्दिक चल-चित्रों की संसृति छाया,
जिस आलोक-बिन्दु को घेरे वह बैठी मुसक्याती **माया**। (का०, २६४)
जानता हूँ किशोरी, **माया** के साधारण झिटके में एक सच्चे साधु के फँस जाने, ठग जाने का यह लज्जित प्रसंग अब किसी से छिपा नहीं। (कं०, १७०)

मोहन—जीवों को मोहित करने वाले परमेश्वर।

देखो **मोहन** अपना कैसा वेश बदलता आता है
नीलाम्बर को छोड़ दिया पीताम्बर पहने वह आया। (प्रे० प०, २५)
खेंचि मन**मोहन** ते काट-पेंच कौन करै, चली जब ढीली बाढ़ प्रेम के पतंग की। (चि०, १८१)
सौन्दर्य विश्वभर में फैला हुआ जो तेरा
एकत्र करके उसको मन में दिखा दे **मोहन**। (का० कु०, ७८)

यज्ञ-पुरुष—सृष्टि रूपी यज्ञ के कर्त्ता, परब्रह्म, परम शिव।

रचनामूलक सृष्टि यज्ञ यह **यज्ञ-पुरुष** का जो है। (का०, १३२)

योगमाया—परमेश्वर की सृजन शक्ति।

भगवान् की गर्वहारिणी **योगमाया** की यह उज्ज्वल सृष्टि है। (वि०, ८६)

रति—जीवों को संभोग-सुख प्रदान करने वाली अनादि वासना शक्ति।

जो आकर्षण बन हँसती थी **रति** थी अनादि वासना वही। (का०, ७२)
सुरबालाओं की सखी रही उनकी हृतन्त्री की लय थी,
रति, उनके मन को सुलझाती वह राग भरी थी मधुमय थी। (का०, ७४)
मैं **रति** की प्रतिकृति लज्जा हूँ मैं शालीनता सिखाती हूँ। (का०, १०३)

राम—सर्वत्र रमे रहने वाले तथा सर्वत्र रमण करने वाले परमेश्वर।

रमणीय आप महामोदमय धाम, तो भी रोम रोम रम रहे कैसे तुम राम हो? (झ०, ४६)
अखिल विश्व में रमा हुआ है **राम** हमारा। (का० कु०, ८६)

इस **'राम'** शब्दवाची उस अखिल ब्रह्मांड में रमण करने वाले पतितपावन की सत्ता को सर्वत्र स्वीकार करते हुए सर्वस्व समर्पण करने वाली भक्ति के साथ उसका स्मरण करना ही यथार्थ में नाम-स्मरण है। (कं०, २३५-२३६)

रुद्र, महारुद्र—संहारकारी परम शिव।

और क्या विष पी लेगा **रुद्र** करेगा तब वह ताण्डव नृत्य। (का०कु०, ८६)
रुद्र का **शृङ्गी**नाद, भैरवी का तांडव नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। (स्कं०, ४६)
अंतरिक्ष में हुआ **रुद्र** हुंकार भयानक हलचल थी। (का०, १८५)
शक्ति तरंगों में आन्दोलन, **रुद्र** क्रोध भीषणतम था। (का०, १८६)
है **रुद्र** रोष अब तक अशान्त। (का०, २४१)

लीला—परम शिव की नित्य क्रीड़ा।

लीला उसी की जग में सब में वही समाया। (का० कु०, ६)
यह लीलामय की **लीला है**। (प्रे० प०, २३)
कर रही **लीलामय** आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त। (का०, ५३)

लीला—सृष्टि।

यह **लीला** जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेमकला। (का०, ७६)

वाणी—वाक् शक्ति।

आगम शास्त्रो में **वाणी** के चार भेद माने गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी। परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहा-निहित हैं। बैखरी वाणी मनुष्य बोलते हैं। शास्त्रों में परा वाणी को नाद-रूपा शुद्ध अहं परामर्शमयी शक्ति माना है। पश्यन्ती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य-प्रधान, द्रष्टा रूपवाली है। मध्यमा वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धिप्रधान दर्शन-स्वरूपा द्रष्टा और दृश्य के अन्तराल में रहती है। बैखरी व्याकरण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करने वाली दृश्य-प्रधान होती है। (का० नि०, ४०-४१)

विद्या—सृष्टि-विकास के छत्तीस तत्वों में से एक तत्व, जो ईश्वर की संकुचित सर्वज्ञत्व शक्ति कहलाता है।

ईश्वर की सर्वज्ञत्व शक्ति का स्वरूप **विद्या** है। शक्ति-संकोच के कारण जो इन्द्रिय-द्वार से शक्ति का प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित रूप बोध के लिए है। (का० नि०, ४२-४३)
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश **विद्या** बनकर कुछ रचे छन्द। (का०, १६५)

विराट—सर्वव्यापक परम शिव।

वह **विराट** था हेम घोलता नया रंग भरने को आज। (का०, २४)
हे **विराट**! हे विश्वदेव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान। (का०, २६)

माया—परम शिव की सृजन-शक्ति तथा अपना आवरण डालकर जीवों को भ्रमित करने वाली शक्ति। सृष्टि-क्रम के ३६ तत्वों में से एक तत्व।

हे शिव धन्य तुम्हारी **माया,**
जेहि बस भूलि भ्रमत हैं सब ही सुर अरु असुर निकाया। (चि०, २६)
फँसा आसुरी **माया** में हिंसा जगी। (क०, २१)
अनादि तेरी अनन्त **माया** जगत् को लीला दिखा रही है। (का० कु०, १)
चेतना बही जाती थी हो मन्त्र-मुग्ध **माया** में। (आँसू, १८)
उस **माया** की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था। (आँसू, २४)
विश्व चित्रपट चल **माया** में विभुता विभु सी पड़े दिखाई। (ल०, १४)
जी लो सुख से आयु-भर यह **माया** का खेल। (स्कं०, ५५)
कौन हो तुम विश्व **माया** कुहक सी साकार। (का०, ६०)
घूम रही है यहाँ चतुर्दिक चल-चित्रों की संसृति छाया,
जिस आलोक-बिन्दु को घेरे वह बैठी मुसक्याती **माया**। (का०, २६४)
जानता हूँ किशोरी, **माया** के साधारण झिटके में एक सच्चे साधु के फँस जाने, ठग जाने का यह लज्जित प्रसंग अब किसी से छिपा नहीं। (कं०, १७०)

मोहन—जीवों को मोहित करने वाले परमेश्वर।

देखो **मोहन** अपना कैसा वेश बदलता आता है
नीलाम्बर को छोड़ दिया पीताम्बर पहने वह आया। (प्रे० प०, २५)
खेंचि मन**मोहन** ते काट-पेंच कौन करै, चली जब ढीली बाढ़ प्रेम के पतंग की। (चि०, १८१)
सौन्दर्य विश्वभर में फैला हुआ जो तेरा
एकत्र करके उसको मन में दिखा दे **मोहन**। (का० कु०, ७८)

यज्ञ-पुरुष—सृष्टि रूपी यज्ञ के कर्त्ता, परब्रह्म, परम शिव।

रचनामूलक सृष्टि यज्ञ यह **यज्ञ-पुरुष** का जो है। (का०, १३२)

योगमाया—परमेश्वर की सृजन शक्ति।

भगवान् की गर्वहारिणी **योगमाया** की यह उज्ज्वल सृष्टि है। (वि०, ८६)

रति—जीवों को संभोग-सुख प्रदान करने वाली अनादि वासना शक्ति।

जो आकर्षण बन हँसती थी **रति** थी अनादि वासना वही। (का०, ७२)
सुरबालाओं की सखी रही उनकी हृतन्त्री की लय थी,
रति, उनके मन को सुलझाती वह राग भरी थी मधुमय थी। (का०, ७४)
मैं **रति** की प्रतिकृति लज्जा हूँ मैं शालीनता सिखाती हूँ। (का०, १०३)

राम—सर्वत्र रमे रहने वाले तथा सर्वत्र रमण करने वाले परमेश्वर।

रमणीय आप महामोदमय धाम, तो भी रोम रोम रम रहे कैसे तुम राम हो? (झ०, ४६)
अखिल विश्व में रमा हुआ है **राम** हमारा। (का० कु०, ८६)

इस '**राम**' शब्दवाची उस अखिल ब्रह्मांड में रमण करने वाले पतितपावन की सत्ता को सर्वत्र स्वीकार करते हुए सर्वस्व समर्पण करने वाली भक्ति के साथ उसका स्मरण करना ही यथार्थ में नाम-स्मरण है। (कं०, २३५-२३६)

रुद्र, महारुद्र—संहारकारी परम शिव।

और क्या विष पी लेगा **रुद्र** करेगा तब वह ताण्डव नृत्य। (का०कु०, ८९)

रुद्र का **शृङ्गी**नाद, भैरवी का तांडव नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। (स्कं०, ४६)

अंतरिक्ष में हुआ **रुद्र** हुंकार भयानक हलचल थी। (का०, १८५)

शक्ति तरंगों में आन्दोलन, **रुद्र** क्रोध भीषणतम था। (का०, १८६)

है **रुद्र** रोष अब तक अशान्त। (का०, २४१)

लीला—परम शिव की नित्य क्रीड़ा।

लीला उसी की जग में सब में वही समाया। (का० कु०, ६)

यह लीलामय की **लीला है**। (प्रे० प०, २३)

कर रही **लीलामय** आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त। (का०, ५३)

लीला—सृष्टि।

यह **लीला** जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेमकला। (का०, ७६)

वाणी—वाक् शक्ति।

आगम शास्त्रों में **वाणी** के चार भेद माने गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी। परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहा-निहित हैं। बैखरी वाणी मनुष्य बोलते हैं। शास्त्रों में परा वाणी को नाद-रूपा शुद्ध अहं परामर्शमयी शक्ति माना है। पश्यन्ती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य-प्रधान, द्रष्टा रूपवाली है। मध्यमा वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धिप्रधान दर्शन-स्वरूपा द्रष्टा और दृश्य के अन्तराल में रहती है। बैखरी व्याकरण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करने वाली दृश्य-प्रधान होती है। (का० नि०, ४०-४१)

विद्या—सृष्टि-विकास के छत्तीस तत्वों में से एक तत्व, जो ईश्वर की संकुचित सर्वज्ञत्व शक्ति कहलाता है।

ईश्वर की सर्वज्ञत्व शक्ति का स्वरूप **विद्या** है। शक्ति-संकोच के कारण जो इन्द्रिय-द्वार से शक्ति का प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित रूप बोध के लिए है। (का० नि०, ४२-४३)

सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश **विद्या** बनकर कुछ रचे छन्द। (का०, १६५)

विराट—सर्वव्यापक परम शिव।

वह **विराट** था हेम घोलता नया रंग भरने को आज। (का०, २४)

हे **विराट**! हे विश्वदेव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान। (का०, २६)

रंग बदलते जो पल पल में उस **विराट** की छाया में। (का०, ३३)
गीता द्वारा **विराट** की विमल व्याख्या हुई। (कं०, १५३)

विश्वम्भर—विश्व का भरण-पोषण करने वाले परम शिव।
विश्वम्भर के शान्त अंक महँ आश्रय लीन्हो। (चि०, ६६)
विश्वम्भर नित भरत और पोषत निज जन को। (चि०, ७३)
भक्तों की कथा को पढ़िए, क्या **विश्वम्भर** उनके आर्त्तनाद को सुनकर देर कर सके थे। (चि०, १३६)
प्रार्थना उसी **विश्वम्भर** के श्रीचरणों में है, जो अपनी अनन्त दया का अभेद्य कवच पहनाकर मेरे स्कन्द को सदैव सुरक्षित रक्खेगा। (स्कं०, ६८)

विश्व—परम शिव का व्यक्त विराट् रूप, नित्य एवं सत्य जगत्।
अपने दुख सुख से पुलकित यह मूर्त **विश्व** सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर। (का०, २८८)
भव और भवानी से बढ़कर कौन **विश्व** होगा? (चि०, १२३)
प्रियतम मय यह **विश्व** निरखना फिर उसको है विरह कहाँ। (प्रे० प०, १७)
चेतन की चित्कला **विश्व** में जिसकी सत्ता। (का० कु०, ९४)
अखिल **विश्व** एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा। (ज० ना०, १३)

विश्व-गृहस्थ—अखिल विश्व का गृहस्थी के तुल्य पालन करने वाला परमेश्वर।
नमस्कार मेरा सदा पूरे **विश्व-गृहस्थ** को। (का० कु०, ४, ९२)

विश्व-नियन्ता—विश्व का नियमन करने वाला परम शिव।
हे, हे करुणासिंधु, **नियन्ता विश्व** के,
हाय प्रभो, क्या हम इस तेरी सृष्टि के
नहीं दिखाता जो मुझ पर करुणा नहीं। (क०, १९)
ब्राह्मणों को इतनी हीन अवस्था में बहुत दिनों तक **विश्व-नियन्ता** नहीं देख सकते। (स्कं०, १२१)
इसी पृथ्वी पर देवताओं का निवास होगा, **विश्व-नियन्ता** का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। (स्कं०, १४२)

विश्वात्मा—अखिल विश्व में व्याप्त परम शिव।
आत्मसमर्पण करो उसी **विश्वात्मा** को पुलकित होकर। (प्रे० प०, २४)
स्निग्ध, शांत, गम्भीर महा सौन्दर्य सुधासागर के कण
ये सब बिखरे हैं जग में—**विश्वात्मा** ही सुन्दरतम है। (प्रे० प०, २५)
इस विराट् विश्व और **विश्वात्मा** की अभिन्नता के भूल जाने पर विषमता का विषमय द्वन्द्व होता है। (कामना, ९८)
गीता द्वारा **विश्वात्मा** की विमल व्याख्या हुई। (कं०, १५३)
प्रकृति **विश्वात्मा** की छाया या प्रतिबिम्ब है। (का० नि० १२८)

विषमता—द्वयता, भिन्नता या भेद-भाव।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी छूँछी महत्ता पर इतराता हुआ दूसरे को नीचा—अपने से छोटा—समझता है, जिससे सामाजिक **विषमता** का विषमय प्रभाव फैल रहा है। (कं०, २८१)
सुना है कि आप धर्म में प्राणिमात्र की समता देखते हैं, किन्तु वास्तव में कितनी **विषमता** है। (ति०, १२९)
मैं यह मानता हूँ कि सृष्टि **विषमता** से भरी है, चेष्टा करके भी इसमें आर्थिक या शारीरिक साम्य नहीं लाया जा सकता। (आँधी, १०५)
विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पंदित विश्व महान। (का०, ५४)
जगतीतल का सारा क्रन्दन यह विषमयी **विषमता**। (का०, १२१)
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं **विषमता** या समता। (का०, १७१)

वैश्वानर—अग्निस्वरूप परम शिव।

विशाल ज्वालावलि सों प्रभा भरी, अमन्द आलोकहु ते जु सुन्दरी।
हविष्य को चारु सुगन्ध है खरी, लसै सु **वैश्वानर** मूर्ति माधुरी।
(चि०, १३९)

शंकर, शंभु, शिव—कल्याणकारी परमात्मा।

इमि प्रमुदित पूजित विजय, सो जय **शंकर** जय जयति जय। (चि०, ९१)
वट वृक्ष-तल सुखासीन **शंकर** के सामने नारद हाथ जोड़कर खड़े हैं।
(चि०, १२०)
शंभु नयन प्रतिबिम्ब, जयति शैलजा बदन पै,
राजत विधु के बिम्ब, मनहु नीलकमलावली। (उर्वशी चम्पू, मंगलाचरण)
हे **शिव** धन्य तुम्हारी माया। (चि०, २९)
गुरुदेव ने बतलाया है कहीं अशिव नहीं सर्वत्र **शिव** हैं। (इ०, १०८)
अतिचारी था स्वयं प्रजापति देव अभी **शिव** बने रहें। (का०, १८५)

शक्ति, महाशक्ति—परम शिव से सर्वदा अभिन्न रहने वाली उनकी असीम एवं अमोघ शक्ति।

देशव्यापी हलचल के भीतर कोई **शक्ति** कार्य कर रही है। (स्कं०, १४२)
निर्विकार लीलामय तेरी **शक्ति** न जानी जाती है। (का० कु०, ३)
शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे है, हो निरुपाय। (का०, ५९)
वह मूल **शक्ति** उठ खड़ी हुई अपने आलस का त्याग किए। (का०, ७२)
संकुचित असीम अमोघ **शक्ति**। (का०, १६५)
सु-प्रसन्न महेश की लहि **महाशक्ति** विकाश। (चि० १५४)
या कभी अपूर्ण अहन्ता में हो रागमयी-सी **महाशक्ति**। (का०, १६५)
अन्तरिक्ष में **महाशक्ति** हुंकार कर उठी। (का०, २०२)

रंग बदलते जो पल पल में उस **विराट** की छाया में। (का०, ३३)
गीता द्वारा **विराट** की विमल व्याख्या हुई। (कं०, १५३)

विश्वम्भर—विश्व का भरण-पोषण करने वाले परम शिव।
विश्वम्भर के शान्त अंक महँ आश्रय लीन्हो। (चि०, ६६)
विश्वम्भर नित भरत और पोषत निज जन को। (चि०, ७३)
भक्तों की कथा को पढ़िए, क्या **विश्वम्भर** उनके आर्त्तनाद को सुनकर देर कर सके थे। (चि०, १३६)
प्रार्थना उसी **विश्वम्भर** के श्रीचरणों में है, जो अपनी अनन्त दया का अभेद्य कवच पहनाकर मेरे स्कन्द को सदैव सुरक्षित रक्खेगा। (स्कं०, ६८)

विश्व—परम शिव का व्यक्त विराट् रूप, नित्य एवं सत्य जगत्।
अपने दुख सुख से पुलकित यह मूर्त **विश्व** सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर। (का०, २८८)
भव और भवानी से बढ़कर कौन **विश्व** होगा? (चि०, १२३)
प्रियतम मय यह **विश्व** निरखना फिर उसको है विरह कहाँ। (प्रे० प०, १७)
चेतन की चित्कला **विश्व** में जिसकी सत्ता। (का० कु०, ६४)
अखिल **विश्व** एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा। (ज० ना०, १३)

विश्व-गृहस्थ—अखिल विश्व का गृहस्थी के तुल्य पालन करने वाला परमेश्वर।
नमस्कार मेरा सदा पूरे **विश्व-गृहस्थ** को। (का० कु०, ४, ६२)

विश्व-नियन्ता—विश्व का नियमन करने वाला परम शिव।
हे, हे करुणासिंधु, **नियन्ता विश्व** के,
हाय प्रभो, क्या हम इस तेरी सृष्टि के
नहीं दिखाता जो मुझ पर करुणा नहीं। (क०, १६)
ब्राह्मणों को इतनी हीन अवस्था में बहुत दिनों तक **विश्व-नियन्ता** नहीं देख सकते। (स्कं०, १२१)
इसी पृथ्वी पर देवताओं का निवास होगा, **विश्व-नियन्ता** का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। (स्कं०, १४२)

विश्वात्मा—अखिल विश्व में व्याप्त परम शिव।
आत्मसमर्पण करो उसी **विश्वात्मा** को पुलकित होकर। (प्रे० प०, २४)
स्निग्ध, शांत, गम्भीर महा सौन्दर्य सुधासागर के कण
ये सब बिखरे हैं जग में—**विश्वात्मा** ही सुन्दरतम है। (प्रे० प०, २५)
इस विराट् विश्व और **विश्वात्मा** की अभिन्नता के भूल जाने पर विषमता का विषमय द्वन्द्व होता है। (कामना, ६८)
गीता द्वारा **विश्वात्मा** की विमल व्याख्या हुई। (कं०, १५३)
प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है। (का० नि० १२८)

विषमता—द्वयता, भिन्नता या भेद-भाव।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी छूँछी महत्ता पर इतराता हुआ दूसरे को नीचा—अपने से छोटा—समझता है, जिससे सामाजिक **विषमता** का विषमय प्रभाव फैल रहा है। (कं०, २८१)

सुना है कि आप धर्म में प्राणिमात्र की समता देखते हैं, किन्तु वास्तव में कितनी **विषमता** है। (ति०, १२९)

मैं यह मानता हूँ कि सृष्टि **विषमता** से भरी है, चेष्टा करके भी इसमें आर्थिक या शारीरिक साम्य नहीं लाया जा सकता। (आँधी, १०५)

विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पंदित विश्व महान। (का०, ५४)

जगतीतल का सारा क्रन्दन यह विषमयी **विषमता**। (का०, १२१)

तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं **विषमता** या समता। (का०, १७१)

वैश्वानर—अग्निस्वरूप परम शिव।

विशाल ज्वालावलि सों प्रभा भरी, अमन्द आलोकहु ते जु सुन्दरी।
हविष्य को चारु सुगन्ध है खरी, लसै सु **वैश्वानर** मूर्ति माधुरी।
(चि०, १३९)

शंकर, शंभु, शिव—कल्याणकारी परमात्मा।

इमि प्रमुदित पूजित विजय, सो जय **शंकर** जय जयति जय। (चि०, ९१)

वट वृक्ष-तल सुखासीन **शंकर** के सामने नारद हाथ जोड़कर खड़े है।
(चि०, १२०)

शंभु नयन प्रतिबिम्ब, जयति शैलजा वदन पै,
राजत विधु के बिम्ब, मनहु नीलकमलावली। (उर्वशी चम्पू, मंगलाचरण)

हे **शिव** धन्य तुम्हारी माया। (चि०, २९)

गुरुदेव ने बतलाया है कहीं अशिव नही सर्वत्र **शिव** हैं। (इ०, १०८)

अतिचारी था स्वयं प्रजापति देव अभी **शिव** बने रहें। (का०, १८५)

शक्ति, महाशक्ति–परम शिव से सर्वदा अभिन्न रहने वाली उनकी असीम एवं अमोघ शक्ति।

देशव्यापी हलचल के भीतर कोई **शक्ति** कार्य कर रही है। (स्कं०, १४२)

निर्विकार लीलामय तेरी **शक्ति** न जानी जाती है। (का० कु०, ३)

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय। (का०, ५९)

वह मूल **शक्ति** उठ खडी हुई अपने आलस का त्याग किए। (का०, ७२)

संकुचित असीम अमोघ **शक्ति**। (का०, १६५)

सु-प्रसन्न महेश की लहि **महाशक्ति** विकाश। (चि० १५४)

या कभी अपूर्ण अहन्ता में हो रागमयी-सी **महाशक्ति**। (का०, १६५)

अन्तरिक्ष में **महाशक्ति** हुंकार कर उठी। (का०, २०२)

शक्तिनाथ, **शक्तिमान**—शक्ति-सम्पन्न परम शिव।

तुम्हारी समस्त शक्ति उन **शक्तिनाथ** की विभूति का एक कण है। (इरा०, १४)

वह अघटन-घटना-पटीयसी शक्ति की लीला देखते-देखते मुग्ध होकर उस **शक्तिमान** की खोज करता है। (चि० १३५)

वा **शक्तिमान** परमेश्वर को नमामी। (चि०, १५३)

शक्ति-विग्रही, **शक्ति-शरीरी**—शक्ति के शरीर वाले सर्वशक्ति-सम्पन्न परम शिव।

आगमों में भी शिव को **शक्ति-विग्रही** मानते हैं। (का० नि०, ३६)

उस **शक्ति-शरीरी** का प्रकाश, सब शाप पाप का कर विनाश। (का०, २५४)

संसार—नाना प्रकार के वैचित्र्यों से भरा प्रपंचमय जगत्, जो परम शिव का व्यक्त रूप है।

यह विराट **संसार** तासु, अव्यक्त रूप है। (चि०, ७२)

सारा **संसार** घड़ी-घड़ी-भर पर, पल-पल-भर पर, नवीन-सा प्रतीत होता है और इससे उस विश्वयन्त्र को बनाने वाले स्वतन्त्र की बड़ी भारी निपुणता का पता चलता है। (छाया, ११३)

संसार भी बड़ा प्रपंचमय यन्त्र है। वह अपनी मनोहरता पर आप ही मुग्ध रहता है। (छाया, ११६)

किसने कहा कि झूठ है **संसार** कूप है। (वि०, ३१)

सम्पूर्ण **संसार** कर्मण्य वीरों की चित्रशाला है। (स्कं० ५१)

इस यन्त्रणा और प्रतारणा से भरे हुए **संसार** की पिशाच-भूमि को छोड़कर अक्षय लोक को गई। (स्कं०, ११४)

संसार का नग्न चित्र जिसमें पीड़ा का, दुःख का ताण्डव नृत्य था। (ति०, ६०)

संसार दूर से नगर, जनपद, सौध-श्रेणी, राजमार्ग और अट्टालिकाओं से जितना शोभन दिखाई पड़ता है, वैसा ही सरल और सुन्दर भीतर नहीं है। (कं०, ३३)

संसार अपने-अपने सुख की कल्पना पर खड़ा है—यह भीषण **संसार** अपनी स्वप्न की मधुरिमा से स्वर्ग है। (कं०, १८४)

संसार नित्य यौवन और जरा के चक्र में घूमता है। (इ०, १६)

है वही कर्त्ता वही फलभोक्ता **संसार** का। (का० कु०, ११६)

सच्चिदानन्द—सत्, चित् और आनन्द शक्ति से परिपूर्ण परम शिव।

साँचे **सच्चिदानन्द** में प्रेम ना सुधारी क्यों? (चि०, १७६)

मायावाद बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवाद के मिश्र उपकरणों से संगठित हुआ था। इसीलिए जगत् को मिथ्या-दुःखमय मानकर **सच्चिदानन्द** की जगत् में परे कल्पना हुई। (का० नि०, ६०)

समरसता—अभेद ज्ञान अथवा अखिल विश्व के साथ अभिन्न या एक रूप होने की स्थिति ।

नित्य **समरसता** का अधिकार, उमड़ता कारण जलधि समान । (का० ५४)
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की । (का०, १६२)
सबकी **समरसता** कर प्रचार, मेरे सुत सुन माँ की पुकार । (का०, २४४)
विराट् विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता अथवा पिता-पुत्र, ईश्वर-मनुष्य, राजा-प्रजा, शासित-शासक सबको एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा **समरसता** कहलाती है । (कामना, ९८)
रस का पूर्ण चमत्कार **समरसता** में होता है । (का० नि०, ७६)
यह शान्त रस निस्तरंग महोदधि-कल्प **समरसता** ही है । (का० नि०, ७८)
समग्र विश्व के साथ तादात्म्य वाली **समरसता** और आगमों के स्पन्दशास्त्र के तांडवपूर्ण विश्व-नृत्य का पूर्ण भाव उसमें न था । (का० नि, ७९)

सर्वात्मा—सर्वत्र व्याप्त आत्मस्वरूप परम शिव ।

सर्वात्मा के स्वर में आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है । (स्कं०, ७१)
जीवन की नश्वरता के साथ ही **सर्वात्मा** के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है ? (स्कं०, ८९)

सौन्दर्य-प्रेमनिधि—सौन्दर्य और प्रेम के आधार रूप परम शिव ।

चलो मिलें **सौन्दर्य-प्रेमनिधि** में तब कहा चमेली ने—
जहाँ अखण्ड शान्ति रहती है, वहाँ सदा स्वच्छन्द रहें । (प्रे०प०, २६)

सौन्दर्य-सुधासागर—असीम सौन्दर्य-सम्पन्न परम शिव ।

उस **सौन्दर्य-सुधासागर** के कण हैं हम तुम दोनों ही,
मिलो उसी आनन्द-अम्बुनिधि में मन से प्रमुदित होकर । (प्रे०प०, २५)

हर—परमेश्वर, परम शिव ।

ताराओं की परछांईं गङ्गा के वक्ष में खेल रही थी । स्रोत में **हर-हर** का ध्वनि हो रही थी । (कं०, ५८)
उमा तपस्वी **हर** के समीप पुष्प-पात्र लेकर जाती है । (इ०, ११)

परिशिष्ट—३

ग्रंथ-सूची

उपजीव्य ग्रन्थ (प्रसाद की रचनाएँ)

अजातशत्रु (नाटक) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, त्रयोदश संस्करण, २००८ वि० ।

आँसू (काव्य) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, नवम संस्करण, २००९ वि० ।

आँधी (कहानी-संग्रह) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, २००७ वि० ।

आकाशदीप (कहानी-संग्रह) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, २००७ वि० ।

इन्द्रजाल (कहानी-संग्रह) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, तृतीय संस्करण, २००७ वि० ।

इरावती (अपूर्ण उपन्यास) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, तृतीय संस्करण, २००६ वि० ।

एक घूँट (नाटक) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, २००४ वि० ।

कंकाल (उपन्यास) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, अष्टम संस्करण, २०१३ वि० ।

करुणालय (गीति-नाट्य) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९८५ वि० ।

कानन-कुसुम (कविता-संग्रह) — पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय (बिहार), चतुर्थ संस्करण, १९९६ वि० ।

कमना (नाटक) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, २००७ वि०।

कामायनी (महाकाव्य) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, अष्टम संस्करण, २००९ वि०।

काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, २०१० वि०।

चन्द्रगुप्त (नाटक) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, अष्टम संस्करण, २००९ वि०।

चित्राधार (प्रारम्भिक रचना-संग्रह) — साहित्य सरोज कार्यालय, बनारस, द्वितीय संस्करण, १९८५ वि०।

छाया (कहानी-संग्रह) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, अष्टम संस्करण, २०१० वि०।

जनमेजय का नागयज्ञ (नाटक) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, षष्ठ संस्करण, २००९ वि०।

झरना (कविता-संग्रह) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, पंचम संस्करण, २००४ वि०।

तितली (उपन्यास) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, षष्ठ संस्करण, २००८ वि०।

ध्रुवस्वामिनी (नाटक) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, अष्टम संस्करण, २००५ वि०।

प्रतिध्वनि (कहानी-संग्रह) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, २००७ वि०।

प्रेम-पथिक (काव्य) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, २००४ वि०।

महाराणा का महत्व (काव्य) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, तृतीय संस्करण, २००५ वि०।

राज्यश्री (नाटक) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, सप्तम संस्करण, २००७ वि०।

लहर (कविता-संग्रह) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, तृतीय संस्करण, २००४ वि०।

विशाख (नाटक) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, पंचम संस्करण, २००४ वि०।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (नाटक) — भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, दशम संस्करण, २००९ वि०।

उपस्कारक ग्रन्थ

अग्नि पुराण — वेदव्यास
आनंद आश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १६०० ई०।

अथर्ववेद संहिता — सम्पादक—शंकर पांडुरंग
गवर्नमेंट सेंट्रल बुक डिपो, बम्बई, १८६५ ई०।

अध्यात्म रामायण — वेदव्यास
गीताप्रेस, गोरखपुर, २००८ वि०।

आधुनिक साहित्य — नन्ददुलारे वाजपेयी,
भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, २००७ वि०।

इण्डियन कल्चर थ्रू एजे़ज — एम० एल० विद्यार्थी,
तपेश्वरी साहित्य मन्दिर, कानपुर, १६५२ ई०।

ईशावास्योपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१७ वि०।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २ — उत्पलदेव,
पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १६२१ ई०।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १ — अभिनवगुप्त,
पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १६१८ ई०।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २ — [illegible]
पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १६२२ ई०।

ऋग्वेद संहिता — मैक्समूलर संस्करण, लंदन, १८४६ ई०।

ऐतरेय उपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१८ वि०।

कठोपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१६ वि०।

कबीर ग्रंथावली — संपादक डा० श्यामसुन्दरदास,
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २००८ वि०।

काव्यप्रकाश — मम्मटाचार्य,
चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, २००८ वि०।

काव्य-मीमांसा — राजशेखर,
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १६५४ ई०।

काव्यादर्श	आचार्य दण्डी, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९९० वि० ।
कश्मीर शैविज्म, भाग १	जगदीशचन्द्र चटर्जी, पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९१८ वि० ।
कूर्मपुराण	वेदव्यास, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८९० ई० ।
केनोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१९ वि० ।
कोशोत्सव-स्मारक संग्रह	काशी नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, १९८५ वि० ।
गांधीवाद : समाजवाद	किशोरीलाल घ० मशरूवाला नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर, १९४५ ई० ।
गीता (रामानुज भाष्य)	गीता प्रेस, गोरखपुर, २००८ वि० ।
गीता (शांकर भाष्य)	गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१० वि० ।
गीतांजलि (हिन्दी)	रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनु० सत्यकाम विद्यालंकार, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, १९५८ ई० ।
चिन्तामणि भाग १	रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९४० ई० ।
चिन्तामणि भाग २	रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, जतनवर काशी, २००२ वि० ।
छांदोग्य उपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१९ वि० ।
तन्त्रसार	अभिनगुप्त शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९१८ ई० ।
तन्त्रालोक भाग १	अभिनवगुप्त, पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९१८ ई० ।
तन्त्रालोक भाग २	,, ,, १९२१ ई० ।
तन्त्रालोक भाग ३	,, ,, १९२१ ई० ।
तन्त्रालोक भाग ४	,, ,, १९२२ ई० ।
तन्त्रालोक भाग ५	,, ,, १९२२ ई० ।

उपस्कारक ग्रन्थ

अग्नि पुराण	वेदव्यास आनंद आश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १६०० ई० ।
अथर्ववेद संहिता	सम्पादक—शंकर पांडुरंग गवर्नमेंट सेंट्रल बुक डिपो, बम्बई, १८६५ ई० ।
अध्यात्म रामायण	वेदव्यास गीताप्रेस, गोरखपुर, २००८ वि० ।
आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे वाजपेयी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, २००७ वि० ।
इण्डियन कल्चर थ्रू एजे़ज	एम० एल० विद्यार्थी, तपेश्वरी साहित्य मन्दिर, कानपुर, १६५२ ई० ।
ईशावास्योपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१७ वि० ।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २	उत्पलदेव, पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १६२१ ई० ।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १	अभिनवगुप्त, पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १६१८ ई० ।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २	अभिनवगुप्त, पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १६२२ ई० ।
ऋग्वेद संहिता	मैक्समूलर संस्करण, लंदन, १८४६ ई ०।
ऐतरेय उपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१८ वि० ।
कठोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१६ वि० ।
कबीर ग्रंथावली	संपादक डा० श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २००८ वि० ।
काव्यप्रकाश	मम्मटाचार्य, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, २००८ वि० ।
काव्य-मीमांसा	राजशेखर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १६५४ ई० ।

काव्यादर्श — आचार्य दण्डी,
मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९९० वि० ।

कश्मीर शैविज्म, भाग १ — जगदीशचन्द्र चटर्जी,
पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९१४ वि० ।

कूर्मपुराण — वेदव्यास,
एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता,
१८९० ई० ।

केनोपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१९ वि० ।

कोशोत्सव-स्मारक संग्रह — काशी नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस,
१९८५ वि० ।

गांधीवाद : समाजवाद — किशोरीलाल घ० मशरूवाला
नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर, १९४५ ई० ।

गीता (रामानुज भाष्य) — गीता प्रेस, गोरखपुर, २००८ वि० ।

गीता (शांकर भाष्य) — गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१० वि० ।

गीतांजलि (हिन्दी) — रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनु० सत्यकाम
विद्यालंकार, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली,
१९५८ ई० ।

चिन्तामणि भाग १ — रामचन्द्र शुक्ल,
इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९४० ई० ।

चिन्तामणि भाग २ — रामचन्द्र शुक्ल,
सरस्वती मन्दिर, जतनवर काशी,
२००२ वि० ।

छांदोग्य उपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१९ वि० ।

तन्त्रसार — अभिनगुप्त
शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य,
१९१८ ई० ।

तन्त्रालोक भाग १ — अभिनवगुप्त,
पुरातत्व तथा शोध विभाग,
जम्मू-कश्मीर राज्य, १९१८ ई० ।

तन्त्रालोक भाग २ — ,, ,, १९२१ ई० ।

तन्त्रालोक भाग ३ — ,, ,, १९२१ ई० ।

तन्त्रालोक भाग ४ — ,, ,, १९२२ ई० ।

तन्त्रालोक भाग ५ — ,, ,, १९२२ ई० ।

तन्त्रालोक भाग ६	अभिनवगुप्त, पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९२२ ई०।
तन्त्रालोक भाग ७	,, ,, १९२४ ई०।
तन्त्रालोक भाग ८	,, ,, १९२६ ई०।
तन्त्रालोक भाग ९	,, ,, १९३८ ई०।
तन्त्रालोक भाग १०	,, ,, १९३३ ई०।
तन्त्रालोक भाग ११	,, ,, १९३८ ई०।
तन्त्रालोक भाग १२	,, ,, १९३८ ई०।
तत्वत्रय	लोकाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३८ ई०।
तर्कभाषा	केशव मिश्र, जी० रामचन्द्र एण्ड कम्पनी, पूना, १९१७ ई०।
तर्कभाषा	केशव मिश्र, व्याख्याता-आचार्य विश्वेश्वर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९५३ ई०।
तुलसी-दर्शन-मीमांसा	डा० उदयभानुसिह, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, २०१८ वि०।
तैत्तिरीय ब्राह्मण	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना।
त्रिपुरा-रहस्य (ज्ञान-खंड)	सं०—गोपीनाथ कविराज, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९२५ ई०।
नव पदार्थ	आचार्य भिक्खु, अनु०—श्रीचन्द रामपुरिया, जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता १९६१ ई०।
नारदपुराण	वेदव्यास, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९८० वि०।
नारद-भक्ति-सूत्र	शिवाजी न० भावे—हिन्दी अनु० गोविन्द न० वैजापुरकर, सर्व-सेवा-संघ- प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, १९६४ ई०।
नाट्यशास्त्र	भरतमुनि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९२९ ई०।

नीतिशतक	भर्तृहरि, हरिदास एण्ड कं०, कलकत्ता, प्रथम संस्करण
नेत्रतन्त्र भाग १	पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९२६ ई० ।
नेत्रतन्त्र भाग २	,, ,, १९३९ ई० ।
न्यायसूत्र (न्याय दर्शन)	गौतम, अनु०-उदयनारायनसिंह ठाकुर, शास्त्र प्रकाशन भवन, मधुरापुर, मुजफ्फर-पुर, १९९१ वि० ।
पंचदशी	विद्यारण्य मुनि—व्याख्या० पीताम्वर, रतन एण्ड को०, बुकसेलर्स, दिल्ली, १९६० ई० ।
पातंजल योगसूत्र	पतंजलि, सं०—काशीनाथ शास्त्री आगाशे, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, १९३२ ई० ।
पातंजल योगदर्शन	पतंजलि, टीका०—हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर, २०१७ वि० ।
प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज, सं०—जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९११ ई० ।
प्रश्नोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर, २०१९ वि० ।
प्रसाद और उनका साहित्य	विनोदशंकर व्यास, शिक्षा-सदन, काशी, १९४० ई० ।
वाल्मीकीय रामायण	महर्षि वाल्मीकि मुनि, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९६० ई० ।
बोधसार	नरहरि स्वामी, व्याख्या०—रामावतार विद्याभास्कर, ठा० कायमसिंह, मैनपुरी, १९८९ वि० ।
बौद्ध दर्शन	बलदेव उपाध्याय, शारदा-मन्दिर, गणेश दीक्षित, बनारस, १९४६ ई० ।
बौद्ध दर्शन	राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९४८ ई० ।
बौद्ध धर्म-दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—३, १९५६ ई० ।

ब्रह्मवैवर्तपुराण — वेदव्यास, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण।

ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन — डा० रामकृष्ण आचार्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९५९ ई०।

भागवतपुराण — वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९९७ वि० ।

भारतीय दर्शन — डा० उमेश मिश्र, सूचना विभाग, उ० प्र० सरकार, लखनऊ, १९५७ ई० ।

भारतीय संस्कृति — शिवदत्त ज्ञानी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, राजकमल प्रकाशन, बम्बई, १९४४ ई० ।

मत्स्यपुराण — वेदव्यास, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १९०७ ई० ।

महानिर्वाणतन्त्र — तांत्रिक टेक्स्ट्स, ए० एवलौन ।

महाभारत—अनुशासन पर्व — वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५८ ई० ।

महाभारत—भीष्म पर्व — वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५६ ई० ।

महाभारत—विराट पर्व — वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५६ ई० ।

मांडूक्योपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१९ वि० ।

मानस-पीयूष — महात्मा अंजनीनन्दनशरण, मानस-पीयूष कार्यालय, गायघाट, अयोध्या, द्वितीय संस्करण।

मालिनी-विजयोत्तर-तन्त्र — शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९२२ ई० ।

मार्कण्डेय पुराण — वेदव्यास, रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, प्रथम संस्करण ।

मुंडकोपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१९ वि० ।

मुक्तिकोपनिषद् (ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः) — सं० वासुदेवलक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३२ ई० ।

मृगेन्द्रतन्त्र — शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, श्रीनगर।

यजुर्वेद वाजसनेयि संहिता	वेबर का संस्करण, लन्दन, १८४९ ई० ।
योगवाशिष्ठ	महर्षि वाल्मीकि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१८ ई० ।
रामचरितमानस	गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९९६ वि० ।
राजर्षि पुरुषोत्तमदास अभिनन्दन ग्रन्थ	दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, १९६० ई० ।
रिनेंसेंट इण्डिया	एच० सी० ई० जकरिया, पी-एच० डी०, जार्ज एलिन एण्ड अनविन लि०, म्यूज़ियम स्ट्रीट, लन्दन, १९३३ ई० ।
लिंगधारणचन्द्रिका	सं० व प्र०—एम० आर० सखरी, बम्बई, १९२८ ई० ।
वामनपुराण	वेदव्यास, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९८६ वि० ।
वायुपुराण	वेदव्यास, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १९०५ ई० ।
वाराहपुराण	वेदव्यास, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८९३ ई० ।
विज्ञान भैरव	व्याख्या०—क्षेमराज, शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, श्रीनगर, १९१८ ई० ।
विवेक-चूड़ामणि	शंकराचार्य, अनु०—मुनिलाल गीता प्रेस, गोरखपुर, २०२० वि० ।
विष्णुपुराण	वेदव्यास, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
बृहदारण्यक उपनिषद् (**ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्**)	सं०—वासुदेवलक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३२ ई० ।
बृहत् हिन्दी कोश	सं०—कालिकाप्रसाद, राजबल्लभसहाय, मुकन्दीलाल, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, २००९ वि० ।
वेदान्त-सार	सदानन्द, सं०—एम० हिरियन्ना, ओरिएन्टल बुक एजेंसी, पूना, १९२९ ई० ।

शक्ति ऑर डिवाइन पावर	डा० सुधेन्दुकुमार दास कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३४ ई० ।
शतपथ ब्राह्मण	अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी।
शांखायन श्रौतसूत्र	बिब्लियोथिका इण्डिका।
शांडिल्य-भक्ति-सूत्र भाग १	नारायणतीर्थ, सं०—गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन, बनारस, १९२४ ई० ।
भाग २	नारायणतीर्थ, सं० मंगलदेव शास्त्री, अनन्त शास्त्री, गवर्नमेंट संस्कृत प्रेस, इलाहाबाद, १९३८ ई० ।
शिवदृष्टि	सोमानन्द, व्याख्या०—उत्पलदेव, पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९३४ ई० ।
शिवपुराण	वेदव्यास, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
शिवसूत्रविमर्शिनी भाग १	वसुगुप्त, व्याख्या०—क्षेमराज, पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९११ ई० ।
शिवाङ्क- -कल्याण	कल्याण प्रेस, गोरखपुर, १९३३ ई० ।
शुक्ल यजुर्वेद संहिता	सम्पा०—ज्वालाप्रसाद मिश्र, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, द्वि० सं०, १९६९ वि० ।
शैवमत	डा० यदुवंशी, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५५ ई० ।
श्वेताश्वतर उपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१९ वि० ।
सत्यार्थ-प्रकाश	महर्षि दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड, दिल्ली, २०१० वि० ।
सर्वदर्शनसंग्रह	मध्वाचार्य, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९५७ ई० ।
सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण, भाष्यकार—वाचस्पति, सं०—हरिराम शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९८९ वि० ।

सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा		व्याख्याकार—डा० आद्याप्रसाद मिश्र, सत्य प्रकाशन, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद, १९६२ ई० ।
साहित्यदर्पण		विश्वनाथ, व्याख्या०—डा० सत्यव्रतसिंह, चौखम्भा विद्या भवन, बनारस, १९५७ ई० ।
साहित्यालोचन		डा० श्यामसुन्दरदास, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, २००५ वि० ।
सिद्धान्तविन्दु		मधुसूदन सरस्वती अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, १९३२ ई० ।
सिद्धान्त और अध्ययन		गुलाबराय, प्रतिभा प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली, २००६ वि० ।
सूर-पंच-रत्न		सं० लाला भगवानदीन, मोहनवल्लभ पंत, रामनारायणलाल, प्रयाग, २००८ वि० ।
सौन्दर्यलहरी		शंकराचार्य, वी० रामास्वामी शास्त्रुलु एण्ड संस, चैन्नपुरी, दक्षिण भारत, प्र० सं०, १९५२ ई० ।
सौरपुराण		वेदव्यास, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना ।
स्वच्छन्दतन्त्र	भाग १	पुरातत्व तथा शोध विभाग, जम्मू-कश्मीर राज्य, १९२१ ई० ।
,,	भाग २	,, ,, १९२३ ई० ।
,,	भाग ३	,, ,, १९२६ ई० ।
,,	भाग ४	,, ,, १९२७ ई० ।
,,	भाग ५ अ	,, ,, १९३० ई० ।
,,	भाग ५ ब	,, ,, १९३३ ई० ।
,,	भाग ६	,, ,, १९३५ ई० ।
स्पन्दकारिका		व्याख्या०—रामकण्ठाचार्य शोध विभाग, जम्मू-काश्मीर राज्य, १९१३ ई० ।
हिन्दुत्व		रामदास गौड़, सेवा उपवन, काशी, १९९५ ई० ।
हितोपदेश		सं०—नारायण पण्डित, पंडित पुस्तकालय, काशी, १९५६ ई० ।

हिन्दी विश्व कोश सं०—नगेन्द्रनाथ वसु, विश्वकोश लेन, बाग बाजार, कलकत्ता, १९३० ई० ।

हिन्दी शब्द सागर सं०—डा० श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

हिन्दी साहित्य कोश प्र० सं०—डा० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, २०१५ वि० ।

हिन्दी साहित्य का इतिहास पं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २००८ वि० ।

पत्र-पत्रिकाएँ

आज (साप्ताहिक), सोमवार २९ कार्तिक, २००० वि०, बनारस ।
इन्दु, कला १, किरण ८, फाल्गुन २, १९६६ वि०, बनारस ।
इन्दु, कला १, किरण ११, ज्येष्ठ २, १९६७ वि०, बनारस ।
इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला २, १९६७ वि०, बनारस ।
इन्दु, कला ३, किरण ५, अप्रैल १९१२ ई०, बनारस ।
कल्याण–शिवाङ्क, श्रावण १९९० वि०, अगस्त १९३३ ई०, गोरखपुर ।
जागरण, वर्ष १, अंक ११, ३१–१०–१९३२ ई०, बनारस ।
जागरण, वर्ष १, अंक ४४, २६–६–१९३३ ई० ।
नई धारा, माघ सं० २००७ वि०, पटना ।
नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, केशव-स्मृति अंक, वर्ष ५६, अंक ३–४, २००८ वि०, बनारस ।
हंस, वर्ष १०, अंक २, नवम्बर १९३९ ई०, बनारस ।
हिमालय, दीपावली अंक, २००३ वि०, पटना ।
हिमालय, पौष १२, २००३ वि०, पटना ।